प्रियम्वदा के कर-कमलों में
सप्रेम समर्पित—

न० मो० शर्मा

भूमिका

भारतीय गणराज्य की स्थापना के साथ भारत में विशेष सांस्कृतिक जाग्रति का प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक ही था। किसी भी देश के सर्वमुखी विकास और उत्थान में सांस्कृतिक और साहित्यक उन्नति का महत्वपूर्ण थान है। इसी कारण हमारे गणराज्य की राष्ट्रीय भाषा हिन्दी स्वीकार की गई है। हिन्दी की उन्नति का विशेष उत्तरदायित्व उन हिन्दी भाषा-भाषियों पर है जो अध्यापन कार्य में संलग्न है। और फिर विश्वविद्यालयों के अध्यापकों के लिये तो यह एक धर्म हो जाता है कि वे अपने अध्यापन कार्य के साथ-साथ हिन्दी भाषा में ऐसे ग्रन्थों की रचना करें जो उच्च शिक्षा में पाठ्य पुस्तकों में सम्मिलित हो सकें, क्योंकि यदि उच्च शिक्षा का माध्यम हिन्दी होना ही है तो हिन्दी में विभिन्न विषयों की पाठ्य पुस्तकें तैयार करना भी विश्वविद्यालयों के अध्यापकों का कर्त्तव्य है। इसी कारण मैंने राजदर्शन की यह संक्षिप्त (ऐतिहासिक दृष्टि से) पुस्तक लिखी है।

प्रायः सभी पाश्चात्य राजशास्त्र लेखकों ने यह मान रखा है कि राजदर्शन अथवा राजनीति का विकास ग्रीस अथवा यूनान से हुआ है। परन्तु यह सत्य नहीं है। जिन्होंने संस्कृत के ग्रन्थों तथा प्राचीन भारतीय इतिहास का अध्ययन किया है वे जानते हैं कि सुकरात के कहीं पूर्व भारतीय दार्शनिकों ने राजशास्त्र और राजनीति तथा शासन पद्धति पर पूर्णतया विकसित विचार प्रगट किये हैं और मनु, शुक्र तथा कौटिल्यादि के ग्रन्थ इस शास्त्र के गम्भीर विचारों से ओत-प्रोत हैं। अतएव इस पुस्तक में मैंने प्राचीन भारतीय राजदर्शन को समुचित स्थान दिया है और तत्पश्चात् यूनान, रोम तथा मध्य-कालीन यूरोप के दार्शनिकों के विचारों का वर्णन किया है। हिन्दी में ऐसी पुस्तकों का अभाव है, अतएव पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग तथा उचित चुनाव में मतभेद होना आश्चर्य की बात नहीं। मैं इस बात का दावा नहीं करता कि इस पुस्तक में त्रुटियाँ नहीं, जो भी सज्जन इसको अधिक उपयोगी बनाने में सच्चे व उदार हृदय से सहायता देंगे, मैं उनका आभारी हूँगा।

पुस्तक के लिखने में अंग्रेजी के मान्य ग्रन्थों से पूरी-पूरी सहायता ली गई है, उनके लेखकों का मैं आभारी हूँ। मेरी पत्नी ने इस पुस्तक की तैयारी में जो मुझे यह समय व्यतीत करने दिया जो वास्तव में मुझे उनकी ओर देना चाहिये था, इसके लिये मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

राजशास्त्र विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय
१ जनवरी १९५३

ब्रजमोहन शर्मा

विषय-सूची

राजदर्शन

अध्याय १

राजदर्शन के लक्षण

१. राजदर्शन का विकास—ससार में जितने भी प्राणी है उन सब मे मनुष्य सबसे भिन्न तथा विलक्षण प्राणी है। अन्य प्राणियो से मनुष्य इस बात म विशिष्ट है कि अन्य प्राणी अपनी बाह्य परिस्थिति से प्रभावित होकर अपने जीवन को उसके अनुसार बना लेते है परन्तु मनुष्य अपनी बाह्य परिस्थिति मे परिवर्तन करता है और उसको अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य में बुद्धि अथवा विवेक है। अन्य प्राणियो म विवेक अथवा बुद्धि नही है वे बहुधा अपनी आन्तरिक प्रेरणा के अनुसार कार्य करते है।

इस ससार म मनुष्य के अतिरिक्त जितने भी प्राणी है उन्होने सृष्टि के आदि से अब तक कोई उन्नति नही की है। जो दशा उनकी अबसे सहस्रो वर्ष पूर्व थी वही दशा उनकी आज भी है। उन्होने अपनी दशा म अब तक तनिक भी किसी प्रकार की उन्नति नही की है और न कर ही सकते है। परन्तु मनुष्य ने इस ससार म सृष्टि के आदि से अब तक बडी उन्नति की है, कर रहा है और करेगा। इसका कारण यह है कि मनुष्य को ईश्वर ने एक अद्भुत शक्ति प्रदान की है जिसको बुद्धि विवेक अथवा प्रेक्षा (reason) कहते है। बुद्धि के द्वारा मनुष्य ने इस पृथ्वी पर बड़े बड़े परिवर्तन कर दिये है। इन परिवर्तनो का वर्णन करने म सहस्रो पुस्तकें लिखी जा सकती है। बडे बडे महाद्वीपो के बीच म से काटकर नहरें निकालकर बडे बडे समुद्रो को मिला देना, बड-बडे वनो को काटकर सुन्दर उद्यान तथा नगर बना देना, विद्युत को अपने वश म करके उससे अनेक प्रकार की सेवायें लेना, भयकर पशुओ को वश में करना आकाश में उडना एटम बम तथा हाइड्रोजन बम बनाना आदि इस प्रकार के अगणित कार्य मनुष्य की विशाल बुद्धि के प्रमाण है।

२ राजनैतिक सस्थाएँ—मानवसमाज की सामाजिक दशा म भी सृष्टि के आदि से अब तक अद्भुत परिवर्तन हो चुका है। सृष्टि के आदि में मनुष्यो का जीवन अत्यन्त सरल था। इस भूमडल पर मनुष्यो की जनसख्या अधिक न थी। मनुष्यो के जीवन सम्बन्धी कार्यो म किसी प्रकार का अवरोध

न था प्राकृतिक अवस्था में उन्हें जो कुछ मिल जाता था उस पर अपना जीवन निर्वाह करते थे। किसी एक स्थान पर न रह कर भ्रमण किया करते थे। इस प्रकार के जीवन का उदाहरण आज भी यूरोप में जिप्सी, उत्तरी ध्रुव पर ऐस्किमो, भारतवर्ष में कंजड़ आदि जातियों में दिखाई देता है। ये जातियाँ आज भी अनुन्नत दशा में हैं। उस समय मानव समाज में किसी प्रकार का नियम तथा विधि-विधान प्रचलित न था। ज्यों-ज्यों अधिक समय व्यतीत होता गया त्यों-त्यों मानवसमाज के सामाजिक जीवन की उन्नति होती गई और कुछ ऐसी प्रथाएं प्रचलित होगईं जिनके अनुसार लोग कार्य करने लगे। उन प्रथाओं के अनुसार कार्य करना लोगों ने अपने जीवन का उद्देश्य बना लिया। शनैः शनैः लोगों ने भ्रमणकारी जीवन को त्यागकर एक स्थान पर रहना आरम्भ किया। उनमें राजनैतिक चेतना के अंकुर प्रस्फुटित हुए। कुटुम्ब का वृद्ध पुरुष मान्य समझा जाने लगा। उसी की आज्ञा कुटुम्ब के लोग पालन करने लगे। जो व्यक्ति प्रचलित रीति रिवाज के विरुद्ध कार्य करता था उसे कुटुम्ब का वृद्ध पुरुष दण्ड देता था। यही वृद्ध पुरुष धार्मिक कार्यों में आगे रहता था और पुरोहित का कार्य करता था। युद्ध के समय यह कुटुम्ब का नेतृत्व करता था और सेनापति का पद ग्रहण करता था। शान्ति के समय अपने कुटुम्ब के झगड़ों का निपटारा करके न्यायाधीश का कार्य करता था। अर्थात् यों कह सकते हैं कि इस वृद्ध पुरुष के हाथ में व्यवस्थापिका, कार्यकारिणी तथा न्याय सम्बन्धी शक्तियाँ लघुरूप में विद्यमान् थीं। इस प्रकार प्रारम्भ में शासन की पैतृक पद्धति" (Patriarchal System of Government) की स्थापना हुई।

शनैः शनैः कालान्तर में कुटुम्बी जीवन में परिवर्तन हुआ। लोगों ने भ्रमणकारी जीवन को छोड़ कर एक स्थान पर निवास करना आरम्भ किया परिणाम यह हुआ कि कुटुम्बों की वृद्धि हुई और वे ग्रामों के रूप में परिवर्तित हो गये। साधारणतया एक ही कुटुम्ब के लोग एक ग्राम में निवास करते थे। कुटुम्बी जीवन जातीय जीवन में परिवर्तित होगया। जाति का वृद्ध पुरुष जाति का नेता माना जाने लगा और कुटुम्ब के वृद्ध पुरुष के समान अब जाति के वृद्ध पुरुष की आज्ञा का पालन किया जाने लगा। कालान्तर में इन जातियों की जन संख्या में वृद्धि हुई और छोटे-छोटे ग्रामीण राज्य तथा नगर-राज्य स्थापित हुए। नगर-राज्यों की स्थापना होते ही राजनैतिक चेतना में परिवर्तन हुआ और राजा जनता द्वारा चुना जाने लगा।

२ राजदर्शन सम्बन्धी ज्ञान का स्रोत—समार इतिहास वेत्ताओं तथा

पुरातत्व-विद्या विशारदो का मत है कि ससार में सबसे प्राचीन सभ्य जाति आर्य थे। इनकी सभ्यता की उन्नति भारतवर्ष मे हुई । वेद आर्यों की सबसे प्राचीन पुस्तक है। वैदिक काल मे आर्य लोगो ने सब प्रकार आत्मिक, आध्यात्मिक तथा भौतिक उन्नति की थी। वैदिक काल को सहस्रो वर्ष व्यतीत हो चुके है। राजदर्शन सम्बन्धी ज्ञान का सबसे प्राचीन स्रोत वेद हैं। वेदो में राजनैतिक चेतना की जाग्रृति का स्पष्ट रूप से दिग्दर्शन कराया गया है। इसकी पुष्टि में हम निम्नलिखित वेद मन्त्र उद्धृत करना अत्यावश्यक समझते है। १

विराड् वा इदमय आसीत्
तस्या जातायाः सर्वम बिभेदियमेवेदं भविष्यतीति–१
सोद क्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामद्–२
गृहमेधीगृहपतिर्भवति य एवं वेद–३
सोद क्रामत् सा सभायां न्यक्रामत्–८
यन्त्यस्य सभां सा यो भवति य एवं वेद–६
सोद क्रामत् सा समितौ न्यक्रामत्–१०
यन्त्यस्य समिति समित्यौ भवति य एवं वेद–११
सोद कामत सामन्त्रणे न्यक्रामद्–१२
अन्त्यस्या मंत्रणामामंत्र णीयो भवति य एवं वेद–१३

अर्थ—सृष्टि के प्रारम्भ में केवल एक राजा से विहीन प्रजाशक्ति ही केवल थी। इस राजविहीन अवस्था को देखकर सब भयभीत होगये और विचार करने लगे कि क्या यही अवस्था सर्दव रहेगी। (१) वह प्रजाशक्ति उत्क्रान्त होगई और गृहपति के रूप में परिवर्तित हो गई। अर्थात् कुटुम्ब बन गये और कुटुम्ब मे गृहपति बन गये। पहले स्वामी की कल्पना कुटुम्ब में हुई। (२-३) यह प्रजाशक्ति उत्क्रान्त होगई और सभा में परिणत होगई। जो यह जानता है वह सभ्य अर्थात् सभा के योग्य बनता है। (८-६) वह प्रजाशक्ति उत्क्रान्त होने लगी और समिति में परिणत होगई। जो यह जानता है वह समिति के योग्य बनता है। (१०-११) इन वेद मन्त्रो से ग्राम सभा व प्रतिनिधि समितियाँ बनने का पता चलता है। वह प्रजाशक्ति उत्क्रमता को प्राप्त हुई और आमन्त्रण में परिणत हो गई। जो यह जानता है वह आमन्त्रण परिषद् के

१. अथर्ववेद ८–१०–

योग्य बनना है। (१२-१३) अर्थात् वेदों में ग्राम की लोकसभा का नाम "समिति" तथा मन्त्रिमण्डल का नाम "ग्रामवर्ग" लिखा है।

वेदों में शासक के लिये "राजा" शब्द का प्रयोग किया गया है। जो प्रजाजनों का रञ्जन करे वही राजा, दूसरा नहीं (यः प्रजामान् रञ्जयति स एव राजा नेतर) इस शब्द की उत्पत्ति और व्याप्ति भली प्रकार समझाने के लिये हम यहाँ उन वेद मन्त्रों को उद्धृत करते हैं जो राज्याभिषेक के विषय में हैं—

आत्वा हार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत् ॥
इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलिः ;
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमुधारय ॥
ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे ।
ध्रुवं विश्वमिदं जगद्ध्रुवो राजा विशामयम् ॥[1]
अभि वृत्य सपत्नान अभि या नो अरातयः ।
अभितिष्ठ पृतन्यन्तं अभितिष्ठामि यो न इरस्यति ॥[2]

अर्थ—तुझको समीप के देश से चुनकर लाये हैं। तू हम लोगों में आ। तू चंचलता छोड़कर स्थिर हो अर्थात् शान्त रहे। तुझको सब प्रजा चाहती रहे ऐसा व्यवहार कर। राष्ट्र तेरे हाथ से भ्रष्ट न हो। यहीं आकर निवास कर। पदच्युत मत होना। पर्वत के समान स्थिर बना रह। इन्द्र के समान अचल बन। राष्ट्र का पालन पोषण कर। जिस प्रकार आकाश, पृथ्वी, पर्वत और विश्व स्थिर हैं उसी प्रकार प्रजा को सुख देने वाला राजा अटल होता है। अपने शत्रुओं का नाश करके हम लोगों में यदि कोई हमारे द्रोही हो तो उनका भी नाश कर। जो कोई अपने राष्ट्र पर आक्रमण करने आवे उसका सामना करके उसे हटा। जो कोई हमारे साथ स्पर्धा करे उसका भी सामना कर।

अथर्व वेद में चुने हुए राजा के लिये निम्नलिखित उपदेश है—

आत्वां गन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां
पति रेक राट त्वं विराज सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो
ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह ।[3]

---

1. ऋगवेद १० म० सू० १७४ १
2. ऋग्वेद मन्त्र १०–सूक्त १७४
3. अथर्व–३/४/१

सर्वादिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह ।[1]

अर्थ—तुझे राष्ट्र ने पसन्द किया है। तेजस्वी बनकर व्यवहार कर। प्रजा का पालन कर। सब प्रजा में प्रिय बन। सब प्रजाको प्राप्त हो। सब लोगो की सघ शक्ति बनाकर राष्ट्र मे अपूर्व सामर्थ्य उत्पन्न करे और समिति द्वारा राज्य शासन करे। लोक समिति की अनुमति से स्वय सुदृढ होकर उत्तम शासन करे।

वेदो मे सभा (ग्राम के लोगो की) तथा समिति (राष्ट्र के प्रतिनिधियो की) को राजा की दुहिताएँ (पुत्रियें) बताया गया है क्योंकि पिता पुत्री का पालक होता है परन्तु पुत्री पर अधिकार पति का ही होता है पिता का नही। जैसा कि निम्नलिखित वेद मत्र से प्रकट होना है—

सभाच मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येन संगच्छा उपमा स शिक्षाच्चारु वदानि
पितरः सगतेषु ।[2]

अर्थ—ग्राम सभा तथा राष्ट्र के प्रतिनिधियो की समिति ये दोनो प्रजा की पालन करने वाली है और राजा की दुहिताएँ (पुत्रियें) हैं। पिता पुत्री का पालक होना है परन्तु पुत्री पर पति का अधिकार होता है, पिता का नही।

एषामह सभासीनाना वर्चो विज्ञानमाददे ।
अस्याः सर्वस्याः ससदो मामिन्द्र भगिनं कृणु ॥[3]

अर्थ—राजा सम्पूर्ण सभा का निष्पक्ष मन जानकर परामर्श लेकर कार्य करे।

सभासदो के विषय मे अथर्व वेद में निम्नलिखित मत्र है—

यद्राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं
यमस्यामी सभासदः । अविस्तस्मात्प्रमुञ्चति
दत्तः शितिपात् स्वधा ॥[4]

अर्थ—राजसभा के सभासद हो वास्तव में राजा हैं। ये प्रजा से

---

१. अथर्व-६/८८/३
२. अथर्व-७/१२/१
३. अथर्व-७/१२/३
४. अथर्व-३/२९/१

लाभ का व्यापारादि उपज का १६ वाँ भाग राजा के लिये प्रदान करते हैं। य कर देते हैं। वे कर लेकर राजा उनकी रक्षा करता है।

यह राजशास्त्र का अगाध समुद्र है, वेदों में राजनीति का विस्तृत विवरण है। वेद संसार की सबसे प्राचीन पुस्तक है। यह ज्ञान करने के लिये कि भारत में वेद कितने प्राचीन हैं ऋग्वेद, मनुस्मृति तथा स्वामी दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका का अवलोकन करने की आवश्यकता है। पीकाक की "इण्डिया इन ग्रीस" तथा प० भगवद्दत्त 'सृष्टि का इतिहास' पढ़ने से वेद और मनुस्मृति के समय का पता भी चलता है।

४ राजदर्शन का महत्व—अति प्राचीनकाल से भारतवर्ष में धर्म की बड़ी महिमा रही है। मनुष्य जीवन के प्रत्येक कार्य को प्रत्यक्ष रूप से धर्म से सम्बद्ध किया जाता है। हिन्दुओं के "धर्म" शब्द का वह अर्थ नहीं है जो "धर्म" शब्द का अर्थ आज किया जाता है। आज केवल "मजहब" (Religion) अथवा 'मत" को ही अधिकतर लोग धर्म समझते हैं। वास्तव में "धर्म" शब्द धृ धातु (root) से बना है। इसलिए "धर्म" का अर्थ हुआ लौकिक उन्नति अहिंसा और संरक्षण। महाभारत में लिखा है, धर्म वह वस्तु है जिसके द्वारा लौकिक उन्नति अहिंसा तथा संरक्षण हो।[1] कणाद दर्शन में धर्म का अर्थ लौकिक उन्नति तथा पारलौकिक मोक्ष प्राप्ति बतलाया है।[2] नीतिवाक्यामृत में जगत का कारण तथा प्राणियों की उन्नति का कारण धर्म तथा जिस कार्य से लौकिक उन्नति तथा पारलौकिक मोक्ष प्राप्ति में बाधा हो उसे अधर्म बतलाया है।[3] इन सब श्लोकों का अभिप्राय यह है कि जिस कार्य से मानव समाज की भौतिक तथा अध्यात्मिक उन्नति हो वही धर्म है।

मानव समाज की भौतिक तथा अध्यात्मिक उन्नति सुशासन द्वारा ही हो सकती है। यदि शासक अथवा राजा ही दुष्ट, स्वार्थी, व्यभिचारी तथा

---

१ प्रभवार्थाय भूतानां धर्मस्य प्रवचनं कृतम्।
य स्यात्प्रभवसंयुक्त स धर्म इति निश्चय ॥
धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजा ।
य स्याद्धारणसंयुक्त स धर्म इति निश्चय ॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्म प्रवचन कृतम्।
य. स्यादहिंसासंयुक्त स धर्म इति निश्चय ॥ महाभारत अ० १०६

२. यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धि स धर्म । कणाददर्शन

३. जगत स्थिति कारणं प्राणिनां साक्षादभ्युदये नि श्रेयसहेतुर्य. स धर्म.। अधर्म पुनरेत द्विपरीत फल ॥ धर्म समुद्देश, नीति वाक्यामृत

भ्रष्टाचारी होगा तो प्रजा में भी ये दोष फैलेंगे और राजा सहित प्रजा का नाश होगा। देश में सुव्यवस्था रखना राजा का कर्तव्य है। इसीलिये प्रजा ऐसा राजा चुनती थी जो वीर, श्रेष्ठ और न्यायकारी होता था। राजा का आदर्श बडा उच्च समझा जाता था। आदर्श राजा ही प्रजा का कल्याण कर सकता था। प्राचीनकाल म क्षत्रियो को इसीलिय राजा चुना जाता था कि उनमें बल, पराक्रम, शौर्य, दमनशीलता तथा सरक्षण शक्ति होती थी। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है कि वही राजा होता था जो समस्त प्रजा का रजन करता था[1] महाभारत म भीष्म ने युधिष्ठिर से राजधर्म की प्रशसा करते हुए इसे सर्वश्रेष्ठ धर्म बतलाया है अर्थात् अन्य सब धर्मो को राजधर्म के आधीन बतलाया है क्योंकि एक अच्छ राज्य में सब धर्मों का पालन ठीक प्रकार से हो सकता है। यदि राजा धर्म का पालन करेगा तो समस्त प्रजा धर्म का पालन करेगी और यदि राजा ही अधर्मी होगा तो समस्त प्रजा अधर्मी होगी और राजा सहित प्रजा का नाश होगा। इस लोक की सब प्रकार की उन्नति तथा प्रजा का कल्याण राजधर्म के ही अतगत बतलाया गया है। [2] राजधर्म को इतना महत्व देकर महाभारत म यह बतलाया गया है कि राजा सर्वलोक गुरु है जो व्यक्ति उसकी आज्ञा का उलघन करता है उसके दान तप, यज्ञादि सफल नही होते है राजा का अपमान तो देवता भी नही करते है और राजा को मनुष्य समझ कर कभी उसका अपमान करना चाहिय क्योकि वह मनुष्य के रूप में ईश्वर है।[3]

---

१ रञ्जितारच प्रजा सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते। शा० अ० ५९, श्लो० १२५

२ सर्वे धर्मा राजधर्म प्रधाना सर्ववर्णा पाल्यमाना भवन्ति।
सर्वस्त्यागो राज धर्मेषु राजस्त्याग धर्म चाहुरग्रय पुराणम् ॥२७॥

सर्वे त्यागा राज धर्मेषु दृष्टा सर्वादीक्षा राजधर्मेषु यो।
सर्वा विद्याश्च धर्मेषु युक्ता सर्वेलोका राजधर्मे प्रविष्टा ॥

॥२९॥ शा० अ० ६३

३. सर्व लोक गुरुञ्चैव राजान योऽवमन्यते।
न तस्य दत्त न हुत न श्राद्ध फलते क्वचित् ॥२८॥
मनुष्याणमधिपति देव भूत सनातनम्।
देवापि नाव मन्यते धर्म काम नरेश्वरम् ॥२९॥ शा० अ० ६९
नहि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिप।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥४०॥ शा० अ० ६८

मनुस्मृति में भी राजधर्म का बड़ा महत्व बतलाया है और राजा के विषय में लिखा है कि "बिना राजा के इस लोक में भय से सारे और चल-विचल हो जाता, इस कारण सबकी रक्षा के लिये ईश्वर ने राजा को उत्पन्न किया। इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर की शाश्वत मात्राओं (सारभूत अंशों) को निकाल कर राजा को बनाया, अर्थात् इन दिव्य गुणों से युक्त पुरुष राजा होता है। क्योंकि देवेन्द्रों की मात्राओं से राजा बनाया गया है, इसलिये यह (राजा) तेज से समस्त प्राणियों को दबाता है। राजा अपने तेज से इन (देखने वाला) की आंखों और मन को सूर्य सा अग्राह्य होता है और पृथ्वी में कोई इस (राजा) के सामने होकर नहीं देख सकता। वह राजा प्रभाव से अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, यम, कुबेर, वरुण और इन्द्र है। मनुष्य जानकर बालक राजा का भी अपमान नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह एक बड़ा देवता मनुष्य रूप में स्थित है। अग्नि तो केवल उसी को जलाती है जो उस पर चलता है परन्तु राजा तो कुचाल चलने वालों के कुल को भी पशु और धन सहित नष्ट कर देता है। कार्य, शक्ति, देश तथा काल को तत्व से देख कर धर्मसिद्धि के लिये राजा बार

अराजके लोकेऽस्मिन्सर्वतोविद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्र वित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वती॥
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्योनिर्मितो नृपः।
तस्मादभिभवत्येष सर्वं भूतानि तेजसा॥
तपत्यादि यवच्चैषा चक्षूंषि च मनांसि च।
न चैन भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम्॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मा राट्।
स कुबेर स वरुण स महेन्द्र प्रभावतः।
बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नर रूपेण तिष्ठति॥
एक नेव दहत्यग्निर्नरं दुरुपसर्पिणम्।
कुलदहति राजाग्निः सपशु द्रव्य सञ्चयम्॥
कार्यं सोवेक्ष्य शक्तिं च देश कालौ च तत्त्वतः।
कुरुते धर्म सिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः॥

मनु० अ० ७ श्लो० ३—१०

बार नाना प्रकार का रूप धारण करता है। (कभी क्षमा, कभी कोप, कभी मित्रत्व कभी शत्रुत्व, इत्यादि)

शुक्रनीति में भी राजधर्म का बड़ा महत्व बतलाया गया है। उसमे लिखा है कि "जो राजा धर्म मे तत्पर है वह देवताओं का अंश है और जो राजा अधर्मी है वह राक्षसो का अंश है, ऐसा राजा धर्म का लोप करता तथा प्रजा को पीडा देने वाला होता है। पवन जिस प्रकार सुगन्ध का प्रेरक है उसी प्रकार सत् और असत् कर्म का प्रेरक राजा होता है। धर्म का प्रवर्त्तक और अधर्म का नाशक राजा उसी प्रकार होता है जैसे अंधकार का नाशक सूर्य होता है। पिता, माता, गुरु, भ्राता, बधु, कुबेर, यम, इनके सात गुणो से युक्त ही राजा होता है अन्यथा नही। पिता के समान अपनी प्रजा के गुणो की सिद्धि मे राजा तत्पर रहे और प्रजा के अपराधो को क्षमा करके इस प्रकार पुष्टि करे जैसे माता पुत्र के अपराधो को क्षमा करके पुष्टि करती है। अपने निन्दित गुणो का परित्याग करके निन्दा सहन करे और अपनी प्रजा को दान, मान, सत्कार से सदा प्रसन्न रखे। दमन शील, शूरवीर, अस्त्र में कुशल, शत्रुओ का नाशक, शास्त्र के अनुसार आचरण करने वाला बुद्धिमान, ज्ञान और विज्ञान सयुक्त राजा सदा रहे। नीचो रहित दीर्घ दर्शी वृद्धो का सेवक, उत्तम नीतिमान् गुणियो से युक्त राजा देवताओ का अंश है। पूर्वोक्त गुणो से जो राजा विपरीत है वह राक्षसो का अंश है और जिस अंश का राजा होता है उसके सहायको का समूह भी उसी अंश का होता है। राजा की दुष्टता से कलियुग मे प्रजा निर्धन हो जाता है। धर्म और अधर्म की शिक्षा से युगो की प्रवृत्ति राजा से होती है। न युगो का दोष है न प्रजा का, किन्तु राजा का दोष है क्योकि मनुष्य वही आचरण करता है जिससे राजा प्रसन्न रहे। जहा राजा महापापी होता है वहा मनुष्य अधर्म मे तत्पर हो जाते हैं, न समय पर वर्षा होती है, न भूमि मे बहुत फल ही होते हैं। जितने काल तक राजा धर्मशील रहता है उतने ही काल तक वह राजा होता है अन्यथा जगत् और राजा दोनो नष्ट हो जाते हैं"।[1]

इन श्लोको से स्पष्ट है कि राजा और प्रजा का पारस्परिक सुव्यवहार ही लोक के लिये हितकर होता है। राजदर्शन मनुष्यो को ऐसी शिक्षा देता है

---

१. येहि धर्म परो राजा देवांशोन्यश्चरक्षसाम् ।
अंश भूतो धर्म लोपो प्रजा पीडा करो भवेत् ॥ शुक्रनीति, अ० १, श्लो० ७०
वायुर्गंध्यस्यसद्सत्कर्मणः प्रेरकोनृपः ।
धर्म प्रवर्त्तकोऽधर्म नाशकस्तमसो रविः ॥शुक्र० अ०, १, श्लो० ७३

जिसके पालन करने से वे इस संसार में सुख पूर्वक जीवन व्यतीत कर सकते हैं। राजदर्शन में राज-धर्म सम्बन्धी सब विषयों पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है और राजा सभा, समिति तथा प्रजा के कर्तव्यों का विस्तृत वर्णन किया गया है। प्राचीन काल के वैदिक तथा हिन्दू राजदर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों का अवलोकन करने से पता चलता है कि राजा तथा प्रजा सम्बन्धी समस्त ज्ञान तथा विज्ञान की बातें उनमें विद्यमान हैं। मनुस्मृति में सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर तत्कालीन अनेक बातों का ऐतिहासिक विवरण मिलता है। सृष्टिकाल की गणना भी उसमें विद्यमान है।

शुक्रनीति में राजधर्म सम्बन्धी सब प्रकार के विषयों का वर्णन किया गया है। राजा, मन्त्री, सभा, समिति तथा प्रजा के कर्त्तव्य, कोट परिकोटों की बनावट, सेना का संगठन, बारूद, गोले, तोप-बन्दूक आदि बनाने की सरल विधि भी उस में दी हुई है।

पिता माता गुरुर्भ्राता बंधुर्वैश्रवणोयम. ।
नित्यंसप्त गुणैरेषां युक्तो राजान चान्यथा ॥ शुक्र० अ० १, श्लो० ७७
गुणसाधन संदक्ष. स्वप्रजायाः पिता यथा ।
क्षमायन्यपराधानां माता पुष्टि विधायिनी ॥ श्लो० ७८
स्वान्दुगुणान्परित्यज्य ह्यतिवादास्तितिक्षते ।
दानैर्मानैश्चसत्कारैः स्वप्रजारंजक सदा ॥
दांत शूरश्च शस्त्रास्त्र कुशलोरिनि पूदन. ।
अस्वतन्त्रश्च मेधावी ज्ञान विज्ञान संयुत. ॥
नीच हीनो दीर्घदर्शी वृद्ध सेवी सुनीतियुक् ।
गुणिजुष्टस्तु यो राजा सज्ञेयो देवताशक ॥
विपरीतस्तु रक्षोंश. सवैनरकभोजन ।
नृपांश सदृशोनित्यंतत्सहायगण किल ॥ शुक्र० अ० १, श्लो० ८३—८६
प्रजानि स्वाराज दोष्ट्याद्दण्डार्थैतुकलीयुगे ।
युग प्रवर्त्तको राजा धर्माधर्म प्रशिक्षणात् ॥
युगानान प्रजानांनदोष किन्तु नृपस्यहि ।
प्रसन्नोयेन नृपतिस्तदा चरति वैजन ॥ शुक्र० अ० ४, श्लो० २२,२६
महापापी यत्र राजा तत्राधर्म परोजन ।
न काल वर्षी पर्जन्यस्तत्रभूर्नमहाफला ॥श्लो० २८
यावत्तु धर्मशील स्यात्सनृपस्तावदेवहि ।
अन्यथा नश्यते लोको द्राङ् नृपोपिविनश्यति॥ शुक्र० अ० ४० ,श्लो० ११०

यूनानी राजदर्शन का अवलोकन करने से पता चलता है कि इस दर्शन का आधार हिन्दू राजदर्शन ही है। हिन्दू तथा यूनानी राजदर्शन के आधार पर ही वर्तमान राजदर्शन का निर्माण किया गया है। अथवा यों कह सकते हैं कि वर्तमान राजदर्शन की आधार शिला हिन्दू तथा यूनानी राजदर्शन है।

वास्तविक रूप से राजदर्शन का महत्व जानने के लिये अति प्राचीन हिन्दू तथा यूनानी राजशास्त्रों का अध्ययन करना आवश्यक है।

विशेष अध्ययन के लिये देखिये—

स्वामी दयानंद—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका।

मनुस्मृति

शुक्रनीति

महाभारत—शांतिपर्व

कौटिल्य—अर्थशास्त्र

अध्याय २

प्राचीन राजदर्शन

आरम्भिक राजनैतिक चेतना—पाश्चात्य राजदर्शन के पण्डितों ने आरम्भिक राजनैतिक चेतना का क्षेत्र यूनान को ही बतलाया है। ऐसा करने में वास्तव में उन्होंने बड़ी भूल की है। हम प्राचीन राजनैतिक चेतना सम्बन्धी ज्ञान के विषय में केवल कल्पना का आश्रय न लेकर अपनी बात को प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के प्रमाणों द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे। मानव-समाज तथा आरम्भिक राजनैतिक चेतना सम्बन्धी काल्पनिक मतभेदों के विषय में पाठक प्रायः अनेक पुस्तकों का अवलोकन कर सकते हैं। समस्त भूमण्डल के विद्वानों का मत है वेद संसार की सबसे प्राचीन पुस्तक है। वेदों का अध्ययन करने से हमको ज्ञात होता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में किसी प्रकार की राजनैतिक व्यवस्था न थी। आरम्भ में मनुष्य शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे, किसी प्रकार का पाप नहीं करते थे, परन्तु एक समय ऐसा आया कि प्रजा उत्पन्न हुई और गृहपति बनाये गये जैसाकि प्रथम अध्याय में वर्णन किया जा चुका है। इसी प्रकार शनैः शनैः राजा सभा समिति, मन्त्रिमण्डल आदि की स्थापना हुई।[1] वेदों के पढ़ने से पता चलता है कि उस समय मानव-समाज पूर्ण रूप से सब प्रकार की उन्नति कर चुका था। ऋग्वेद में लिखा है कि "राजा और प्रजा के पुरुष मिलकर सुख प्राप्ति और विज्ञान वृद्धि कारक राजा प्रजा के सम्बन्ध रूप व्यवहार में तीन सभा, अर्थात् विद्यार्य-सभा, धर्मार्य-सभा और राजार्य-सभा नियत करके बहुत प्रकार के समग्र प्रजा सम्बन्धी मनुष्यादि प्राणियों को सब ओर से विद्या, स्वातन्त्र्य, धर्म, सुशिक्षा और धनादि से अलङ्कृत करें"।[2] उक्त राजधर्म को तीनों सभा संग्रामादि की व्यवस्था और सेना मिलकर पालन करें। सभासद् और राजा को योग्य है कि राजा सब सभासदों को आज्ञा देवे कि हे सभा के योग्य मुख्य सभासद्! तू मेरी सभा की धर्मयुक्त व्यवस्था का पालन कर और जो सभा के योग्य सभासद् हैं वे

---

१. देखो अध्याय १ पृष्ठ (पूर्वोक्त)

२. त्रिणि राजाना विदथे पुरुणिपरि विश्वानि भूषथः सदांसि ।

ऋ० मं० ३, सू० ३८, मं० ६

भी सभा की व्यवस्था का पालन करें"।[1] इसका अभिप्राय यह है कि एक व्यक्ति को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना चाहिये, किन्तु राजा जो सभापति, तदाधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के आधीन और प्रजा राजसभा के अधीन रहे। "जो प्रजा से स्वतन्त्र, स्वाधीन राजवर्ग रहे तो राज्य में प्रवेश करके प्रजा का नाश किया करें, जिसलिये अकेला राजा स्वाधीन वा उन्मत होकर प्रजा का नाशक होता है अर्थात् वह राजा जो प्रजा को खाये जाता है, इसलिये किसी एक को राज्य में स्वाधीन न करना चाहिये। जैसे सिंह वा मांसाहारी पशु हृष्ट पुष्ट पशुओं को मार कर खा लेते हैं वैसे ही स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश करता है"।[2] अर्थात् किसी को अपने से अधिक नहीं होने देता और श्रीमान् को लूट खसोट कर अन्याय पूर्वक दण्ड लेकर अपना प्रयोजन पूरा करेगा। इसलिये, "हे मनुष्यो! जो इस मनुष्य के समुदाय में परम ऐश्वर्य का कर्त्ता शत्रुओं को जीत सके, जो शत्रुओं से पराजित न हो, राजाओं में सर्वोपरिविराजमान, प्रकाशमान हो, सभापति होने के अत्यन्त योग्य प्रशसनीय गुण, कर्म, स्वभाव युक्त सत्करणीय, समीप जाने और शरण लेने योग्य, सबका माननीय हो उसी को सभापति राजा करें"।[3] "हे विद्वानो राजप्रजाजनो! तुम इस प्रकार के पुरुष को बडे चक्रवर्ति राज्य सबसे बडे होने, बडे बडे विद्वानों से युक्त राज्य पालने और परम ऐश्वर्ययुक्त राज्य और धन के पालने के लिये, सम्मति करके सर्वत्र पक्षपात रहित, पूर्ण विद्याविनय युक्त सबके मित्र सभापति राजा को सर्वाधीश मान कर सब भूमंडल शत्रु रहित करो, और हे राज पुरुषो! तुम्हारे आग्नेयादि अस्त्र और शतघ्नी अर्थात् तोप, भुशुण्डी अर्थात् बंदूक, धनुष, बाण, तलवार आदि शस्त्र शत्रुओं के पराजय करने और रोकने के लिये प्रशसित और दृढ हो। और तुम्हारी सेना

१. संसभा च समितिश्च सेना च ॥१॥ अथर्व० कां० १५। सू० ६, मं० २
सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ॥२॥
अथर्व० कां० १६। अनु० ७।। व० ५५। मं० ६॥

२. राष्ट्र मेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः।
विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं
पशुं मन्यत इति ॥शत० कां १३। प्र० २ ब्रा० ३। [कं ७,८]

३ इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयातै।
चर्कृत्य ईड्यो-वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह॥
अथर्व० कां० ६। अनु० १०। व० ९८। मं० १॥

प्रशंसनीय हो कि जिससे तुम सदा विजयी हो, परन्तु जो निन्दित अन्यायरूप कार्य करता है उसके लिये पूर्व शत्रु न हो।[१]" अर्थात् जब तक मनुष्य धार्मिक रहते हैं तभी तक राज्य बढ़ता रहता है और जब दुष्टाचारी होते हैं तब नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। महाविद्वानों को विद्यासभा अधिकारी, धार्मिक विद्वानों को धर्म सभा अधिकारी, प्रशंसनीय, धार्मिक पुरुषों को राज सभा के सभासद और जो उनमें सर्वोत्तम गुण, कर्म, स्वभाव युक्त महान पुरुष हो उसको राज-सभा का प्रतिरूप मान कर सब प्रकार से उन्नति करें। तीनों सभाओं की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम बनाएँ और उन नियमों का पालन सब लोग करें। लोकहितकारी समस्त कार्यों में अपनी सम्मति दें। लोकहित-सम्बन्धी कार्य करने में स्वयं को परतन्त्र समझें और निज सम्बन्धी कार्यों में स्वतन्त्र रहें।

मनुस्मृति भी आर्ष ग्रन्थ है और यह ग्रंथ भी इतना ही प्राचीन है जितने कि वेद। मनुस्मृति के पढ़ने से पता चलता है कि उस समय में मानव समाज की सामाजिक, धार्मिक राजनैतिक, आत्मिक तथा आध्यात्मिक सब प्रकार की पूर्ण रूप से उन्नति हो चुकी थी। मनुस्मृति में सभापति के गुण इस प्रकार वर्णन किये गये हैं कि 'वह सभेश राजा इन्द्र अर्थात् विद्युत के समान शीघ्र ऐश्वर्य कर्त्ता वायु के समान सबके प्राणवत् प्रिय और हृदय की बात जानने वाला यम पक्षपात रहित न्यायाधीश के सामने वर्तने वाला, सूर्य के समान न्याय धर्म, विद्या का प्रकाशक अंधकार अर्थात् अविद्या अन्याय का निरोधक, अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करने वाला, वरुण अर्थात् बाँधने वाले के सदृश दुष्टों को अनेक प्रकार से बाँधने वाला, चन्द्र के तुल्य श्रेष्ठ पुरुषों को आनंददाता धनाध्यक्ष के समान कोशों का पूर्ण करने वाला सभापति हो। जो सूर्यवत् प्रतापी सबके बाहर और भीतर मनों को अपने तेज से तपाने हारा, जिसको पृथ्वी पर कठोर दृष्टि से देखने को कोई भी समर्थ न हो। और जो अपने प्रभाव से अग्नि, वायु सूर्य, सोम, धर्म प्रकाशक, धनवर्धक,

---

[१] इमन्देवा असपत्न सुवध्वं महते क्षत्राय महते

ज्येष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय॥ यजु० अ० ९। मं० ४०॥

स्थिरा व सन्त्वायुधा पराणुदे वीलु उत प्रतिष्कभे।

युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः॥

ऋ०, मं० १। सू० ३९। मं० २॥

दुष्टों का बन्धन कर्ता, बड़े ऐश्वर्य वाला हो वही सभाध्यक्ष, सभेश होने योग्य हो।[1]

सच्चे राजा के गुण मनुस्मृति मे निम्न प्रकार से वर्णन किये हैं— जो दण्ड है वही पुरुष, राजा, वही न्याय का प्रचार कर्ता और सबका शासन कर्ता, वही चार वर्ण और चार आश्रमों के धर्म का प्रतिभू है। वही प्रजा का शासन कर्ता सब प्रजा का रक्षक होते हुए प्रजास्थ मनुष्यों में जागता है इसीलिये बुद्धिमान लोग दण्ड ही को धर्म कहते हैं। जो दण्ड अच्छे प्रकार विचार से धारण किया जाय तो वह सब प्रजा को आनन्दित कर देता है और जो विना विचारे चलाया जाता है तो सब ओर से राजा का विनाश कर देता है। बिना दण्ड के सब वर्ण दूषित और सब मर्यादा छिन्न-भिन्न हो जाय। दण्ड के यथावत् न होने से सब लोगों का प्रकोप हो जाता है। जहां कृष्णवर्ण, रक्तनेत्र, भयंकर पुरुष के समान पापों का नाश करने वाला दण्ड विचरता है वहां प्रजा मोह को प्राप्त न होकर आनन्दित होती है। परन्तु जो दण्ड का चलाने वाला पक्षपात रहित विद्वान हो तभी ऐसा होता है। जो उस दण्ड का चलाने वाला सत्यवादी विचार का करने वाला बुद्धिमान, धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि करने में पण्डित राजा है उसी को उस दण्ड का चलाने वाला, विद्वान लोग कहते हैं। जो राजा दण्ड को भली प्रकार चलाता है वह धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि को बढ़ाता है और जो विषय में लम्पट टेढ़ा, ईर्ष्या करने वाला, क्षुद्र, नीच बुद्धि न्यायाधीश राजा होता है, वह दण्ड से ही मारा जाता है। जब दण्ड बड़ा तेजोमय होता है तो उसे अविद्वान अधर्मात्मा धारण नहीं कर सकता और वह दण्ड धर्म से रहित कुटुम्ब सहित राजा ही का नाश कर देता है। क्योंकि आप्त पुरुषों के सहाय, विद्या, सुशिक्षा से रहित, विषयों में आसक्त मूढ़ है वह न्याय से दण्ड को चलाने में समर्थ कभी नहीं हो सकता और जो पवित्र आत्मा, सत्याचार और सत्पुरुषों का संगी यथावत् नीतिशास्त्र के अनुकूल चलने वाला, श्रेष्ठ पुरुषों की सहा-

---

१. इन्द्राऽनिलयमार्काणमग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥
तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम्॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः॥ मनु० अ० ७, श्लो० ४ – ७

पता से पुरुष बुद्धिमान है वही न्यायरूपी दण्ड के चलाने में समर्थ होता है।[1] मनुस्मृति में राजशास्त्र सम्बन्धी सब प्रकार का ज्ञान है। उसमें सेना का सचालन, राजा, राज सभा, मंत्री आदि समस्त विषयों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। न्याय शास्त्र का तो यह ग्रंथ निधि है। न्याय सम्बन्धी सब प्रकार की बातें उसमें विद्यमान हैं। न्यायाधीश कैसा होना चाहिये, न्याय किस प्रकार करना चाहिये, किस किस अपराध के लिये क्या क्या दण्ड देना चाहिये यह सब विषय उस ग्रन्थ में दिये हुये हैं।

शुक्रनीति भी वैदिक काल का अति प्राचीन ग्रंथ है। शुक्रनीति के पढ़ने से उस समय की सामाजिक तथा राजनैतिक अवस्था का पूरा पता चलता है। शुक्रनीति में यह बतलाया गया है कि मानव समाज में मनुष्य को किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये। उसमें राजा के लक्षण मंत्री, सभा, समितियों

---

1. स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणांच धर्मस्य प्रतिभूः स्मृत. ॥
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥
समीक्ष्य स धृत. सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः ।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वत. ॥
दुष्येयु. सर्ववर्णाश्च भिद्येरन् सर्वसेतव. ।
सर्वलोक प्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ॥
यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत् साधु पश्यति ॥
तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्य कारिणं प्राज्ञं धर्म कामार्थ कोविदम् ॥
तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्द्धते ।
कामात्मा विषम. क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥
दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥
सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥
शुचिना सत्य सन्धेन यथा शास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥
मनु० अ० ७, श्लो० १७-१९; २४-२८, ३०,३१

के कर्तव्य तथा अन्य अनेक प्रकार की बातो का वर्णन है। शुक्रनीति में यह बात स्पष्ट रूप से बतलाई गई है कि सर्व लोक व्यवहार नीति के बिना नही हो सकता और नीति शास्त्र सर्व कल्याणकारक है। उसमे राजा की आवश्यकता भी बतलाई है और यह बात भी स्पष्ट रूप से बतलाई है कि राजा का क्या धर्म है। शुक्रनीति म लिखा है कि "सम्पूर्ण लोक के व्यवहार की स्थिति नीति के बिना इस प्रकार नही हो सकती जैसे देहधारियो की देह की स्थिति भोजन के बिना असभव है। सब के वाछित कारक नीति शास्त्र सम्पूर्ण मनुष्यो को समत है और राजा को भी अत्यन्त आवश्यक है। प्रजाओ का पालन और दुष्टो का नाश ये दो राजाओ के परम धर्म है। ये दोनो नीति के बिना नही हो सकते। राजा का अन्याय महान दोष है और भयानक शत्रुओ का बढाने वाला और सेना की हानि करने वाला होता है।[1]

शुक्रनीति म राज्य के निम्नलिखित सात अग बतलाय है— राजा, मन्त्री, मित्र कोश, देश दुर्ग और सेना य सात अग राज्य के है। इन सातो में राजा प्रधान है।[2] अधम राजा के य लक्षण ह कि जिस राजा से प्रजा कापती है और प्रजा जिस राजा के कार्य की निन्दा करती ह उस को धनी और गुणी त्यागते है और वह राजा अधम है। नट गायक, वेश्या, नपुसक और नीच जातिया म जो राजा अत्यन्त आसक्त है वह राजा निन्द्य ह और शत्रु के मुख म विद्यमान है। जो राजा बुद्धिमान से सदा द्वेष करता है वचको से सदा प्रसन्न रहता है और जो राजा अपन दुर्गुणो को न जान वह राजा

---

१. सर्वलोक व्यवहार स्थितिर्नीत्याविनानहि।
यथा शनैर्विना देह स्थितिर्नस्याद्धिदेहिनाम् ॥
सर्वाभीष्टकरं नीतिशास्त्र स्यात्सर्व समतम्।
अत्यावश्य नृपस्यापिस सर्वेषा प्रभुर्यत ॥
नृपस्य परमोधर्म प्रजाना परिपालनम्।
दुष्ट निग्रहणनित्य नी या तैर्विनाह्यु भे ॥
अनीतिरेव मच्छिद्रं राज्ञोनित्य भयावहम्।
शत्रु सवर्ध न प्रोक्त वलहासकध महत् ॥
शुक्रनीति अ० १, श्लोक ११, १२, १४, १५,

२. स्वाम्यमात्सुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानिच।
सप्ताङ्गमुच्येत राज्य तत्र मूर्धा नृप स्मृत ॥ शुक्र० अ० १, श्लो० ६१

अपने नाश का कारण होता है" ।[1] इसी प्रकार इस ग्रन्थ में राजा के दुर्गुणों तथा उसके विपत्ति के कारणों का भी वर्णन किया गया है। राजा के राजनैतिक जीवन के प्रत्येक कार्य का वर्णन शुक्रनीति में बड़ी अच्छी तरह से वर्णन किया गया है। शुक्रनीति में भिन्न भिन्न प्रकार के अस्त्र शस्त्रों के लक्षण दिये हुए हैं। तोप और बन्दूकादि बनाने की विधि भी लिखी है, बारूद-(अग्निचूर्ण) तथा गोला बनाने की भी सरल रीति का उसमें वर्णन किया गया है। उसमें लिखा है कि "पांच पल शोरे का लवण एक पल गंधक और अग्नि से पके हुए आक, स्नुही (सेहुड) व केले इनके पल भर कोयले ले इन सब को शुद्ध शुद्ध पीसले, आक और रसोत के रस में मिलाकर पुट दे और धूप में सुखाले, यह अग्नि चूर्ण पीस कर खांड के समान हो जाता है। शोरे के लवण के ६ व ४ भाग ले। गंधक और कोयले पूर्व के समान तोप के लिये बारूद बनाने की यह रीति है और फेंकने का गोला सब लोहे का हो अथवा जिसके भीतर छोटी २ गोली हों। ऐसा ही बन्दूक के लिये सीसे अथवा अन्य धातु की गोली और तोप के लिये लोहसार अथवा अन्य धातु का गोला होना चाहिये। उसको नित्य माजना, स्वच्छ रखना और गोलन्दाजों से युक्त रखना चाहिये और कोयला गंधक शोरे का लवण, लाख वा राल नील (देवदारु) सार का गोंद इन सब को समान वा न्यूनाधिक अंशों में लेने से अनेक प्रकार की बारूद बनती है। बारूद के जानने वाले चांदनी के समान प्रकाश करने वाली अनेक प्रकार की बारूद बनाता है और तोप को अग्नि के संयोग से निशाने पर फेंकता है।[2] इस प्रकार की अनेक बातें शुक्रनीति में वर्णन की गई हैं।

---

1. प्रजासुद्विजेतयस्माद्यःकर्मपरिनिंदति ।
   त्यज्यतेधनिकैर्यस्तुगुणि भिस्तु नृपाधम ॥
   नट गायक गणिकामल्लषंढाल्पजातिषु ।
   योतिशक्तोनृपोनिंद्य सहिशत्रुमुखेस्थित ॥
   बुद्धिमंत सदा द्वेष्टि मोदते वंचकैः सह ।
   स्वदुर्गुणनवैवेत्तिस्वात्म नाशायसोनृपः॥ शुक्र० अ० १, श्लो० १२६-१२८
2. सुवर्चिलवणात्पंचपलानिगंधकात्पलम् ।
   अन्तर्धूमविपक्वार्क स्नुह्याद्यंगारतः पलम् ॥
   शुद्धात्संग्राह्यसंचूर्ण्यसंमील्यप्रपुटे द्रसैः ।
   स्नुह्यार्काणां रसोनस्यशोषयेदातपेनच ॥
   पिष्ट्वा शर्करवच्चैतदग्नि चूर्णं भवेत्खलु ।
   सुवर्चिलवणाद्भागा षड्वाचत्वारएववा ॥

महाभारत ग्रन्थ वैदिक काल से बहुत बाद का है । महाभारत के शान्तिपर्व में राजनैतिक विषय सबधी अनेक बातों का पता चलता है। राजधर्म की प्रशसा करते हुए भीष्म इस पर्व में युधिष्ठिर से कहते है कि राजधर्म सब धर्मों में प्रधान है, सब धर्म राजधर्म पर ही अवलम्बित हैं, क्योकि राजधर्म द्वारा ही सब वर्णों अथवा धर्मो का प्रतिपालन होता है। सब प्रकार के त्याग राजधर्म में विद्यमान हैं और त्याग ही सर्वोत्तम धर्म है। समस्त विद्यायें राजधर्म के ही अन्तर्गत है तथा समस्त लोकों का उसमे समावेष है। महाभारत के शान्तिपर्व में राजधर्म का महत्व बतलाते हुए इन्द्र मान्धाता से कहते है कि "त्याग सर्वश्रेष्ठ धर्म है और सर्वश्रेष्ठ शरीर का त्याग राजा करता है, राजधर्म में समस्त त्याग है। अत राजा प्रत्यक्ष ही त्यागी है । क्षत्रिय का यह बडा धर्म है, राजा लोक-गुरु है, जो उसकी आज्ञा का उल्लघन करता है उसके यज्ञ, दान, श्राद्धादि सफल नही होते हैं। राजा को मनुष्य समझ कर कभी उसका तिरस्कार न करना चाहिये क्यो कि वह राजा के रूप मे ईश्वर है।[1] महाभारत में दण्ड नीति का महत्व बतलाते हुए लिखा है कि राजा द्वारा

नालास्त्रर्थग्नि चूर्णेतुगधा गारौ तुपूर्ववत् ।
गोलो लोहमयोगर्भ गुटिकाः केवलोपिवा ॥
सीसस्यलघुनालार्थेह्यन्यधातु भवोपिवा ।
लोहसारमयंवापिनाला स्त्रं त्वन्यधातुजम् ॥
नित्य सं मार्जनस्वच्छमस्त्र पातिभिरावृतम् ।
अंगारस्यैवगंधस्यवर्चिलवणस्यच ॥
सिलाया हरितालस्य तथा सीसमलस्यच ।
हिंगुलस्य यथाकांतरजसः कर्पूरस्य च ॥
जतोर्नीलयास्च सरल निर्यासस्यतथैवच ।
समन्यूनाधिकैरंशैरग्नि चूर्णान्यनेकशः ॥
कल्पयति घतद्विदयारचंद्रिका भादिमंतिच ।
क्षिपंतिचाग्नि सं योगाद्गोलंलक्ष्येसुनालगम् ॥
शुक्रनीति अ० ४ । श्लो० १०३४—४२ ।

1. सर्वेधर्मा राजधर्म प्रधाना सर्ववर्णाः पाल्यमानाभवन्ति ।
सर्वस्य त्यागो राजधर्मेषु राजस्त्यागं धर्म चाहुरग्रयं पुराणम् ॥
शा०, अ०, ६३ । श्लो०, २७
सर्वे त्याग राजधर्मेषु दृष्टाः सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु चोक्ताः ।
सर्वा विद्या राजधर्मेषु युक्ताः सर्वे लोक राजधर्मे प्रविष्टाः ॥
शा० अ० ६३ । श्लो० २६

दण्डनीति का भली प्रकार प्रयोग होने से सब वर्णों के लोग अपने अपने धर्मपर चलते हैं और अपने २ कर्त्तव्यों का ठीक ठीक पालन करते हैं। वे पाप करने से डरते हैं। दण्डनीति से सुरक्षित होने पर प्रजा सुखी, शान्तिमय तथा निर्भय रहती है। मर्यादाओं का उल्लंघन करने वाले को सदैव यह भय रहता है कि ऐसा करने से कठोर दण्ड मिलेगा।[1] महाभारत में भी राज्य के सात अंगों का वर्णन किया गया है।[2] शान्तिपर्व में बतलाया गया है कि राजा का अत्यन्त आवश्यक अंग अथवा आधार कोष और बल है, कोष का मूल बल है और धर्म का मूल प्रजा है।[3] दण्ड को राज्य के लिये सबसे प्रबल बतलाया गया है।[4] दण्ड के दो रूप बतलाये गये हैं एक आन्तरिक और दूसरा बाह्य। दण्ड का आन्तरिक रूप ईश्वर तथा बाह्य रूप श्याम वर्णन बतलाया गया है। बाह्य रूप में अपमान, जुर्माना, शारीरिक दण्ड, वध आदि

त्यागं श्रेष्ठं मुनयो वदन्ति, सर्वं श्रेष्ठं यच्छरीरं त्यजन्तः
नित्यं युक्ता राजधर्मेषु सर्वे, प्रत्यक्षं ते भूमिपाला यथैव ॥ श्लो०,२
एते धर्माः सर्ववर्णेषु लीना उत्कृष्टाश्चाः क्षत्रियैरेष धर्मः।
तस्माज्ज्येष्ठा राजधर्मा न चान्ये वीर ज्येष्ठा वीर धर्माभिता मे। श्लो० १० ॥
सर्वलोक गुरुञ्चैव राजानं योऽवमन्यते।
न तस्य दत्तं हुतं न श्राद्धं फलते क्वचित् ॥ श्लो० २८ ॥
मनुष्याणामधिपतिं देव भूतं सनातनं।
देवापि नावमन्यते धर्मकाम नरेश्वरं ॥ शा० अ० ६८, श्लो०२१ ॥
नहि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ शा० अ० ६८, श्लो० ४० ॥

. दण्डनीतिः स्वधर्मेभ्यश्चातुर्वर्ण्यं नियच्छति।
प्रयुक्ता स्वामिना सम्यग धर्मेभ्यो नियच्छति ॥
चातुर्वर्ण्ये स्वकर्मस्थे मर्यादानाम सङ्करे।
दण्डनीतिकृते क्षेमे प्रजानाम कुतो भये ॥ शा० अ० ६९, श्लो० ७६–७७.

. आत्मामात्याश्च कोशश्च दण्डो मित्राणि चैवहि ॥
तथा जनपदाश्चैव पुरं च कुरुनन्दन।
एतत्सप्तात्मकं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नत ॥ शा० अ० ६९, श्लो०६४–६५.

. राज्ञः कोशबलं मूलं कोशमूलं पुनर्बलम्।
तन्मूलं सर्वं धर्माणां धर्ममूलाः पुनः प्रजाः ॥ शा० अ० १३०, श्लो० ३५.

. यस्मिन् हि सर्वमायत्तं स दण्ड इह केवल. शा० अ० १२१, श्लो० ८.

सम्मिलित है।[1] बल का महत्व बतलाते हुए इंद्र मान्धाता से कहते हैं कि ब्रह्मा ने दुर्बल की रक्षा करने के लिये बल की सृष्टि की है। निर्बल की रक्षा करना बहुत बड़ा पुण्य है।[2]

महाभारतमे प्रारम्भिक राजनैतिक चेतना के विषयमे निम्नलिखित वर्णन आया है—"सृष्टि के आरम्भ मे लोग सुख शान्ति पूर्वक अपना जीवन निर्वाह करते थे। शनैं शनैं ऐसा समय आया कि लोगों ने अपने कर्त्तव्य करने मे त्रुटियों की और अधार्मिक जीवन व्यतीत करना आरम्भ किया। लोग मोह मे फँस गये। जब लोग मोह मे फँस कर अधार्मिक जीवन व्यतीत करने लगे तो ज्ञान और धर्म ने लोगो का साथ छोड दिया। मोह के कारण लोगो मे लोभ, विलासिता आदि अनेक अवगुण उत्पन्न होगये, भोगविलासी होने के कारण उन्हे अपने कर्त्तव्यो का ज्ञान न रहा। ज्ञान का लोप होने से वेद और यज्ञ लुप्त हो गये। देवताओ को यज्ञ का भाग न मिला। उन्होने ब्रह्मा से प्रार्थना की। ब्रह्मा ने उन्हे आश्वासन दिया और मनु द्वारा नीतिशास्त्र बनवा दिया। इस नीतिशास्त्र मे मनुष्यो के कर्त्तव्यो का वर्णन किया और अकर्त्तव्यो का उल्लघन करने पर दड विधान भी बना दिया। इसके पश्चात् देवताओ ने राजा बनाने के लिये विष्णु से प्रार्थना की। विष्णु ने विरजा नामक मानस पुत्र की उत्पत्ति की। इसका कीर्तिमान् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ और कीर्तिमान् के कर्दम नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। कर्दम का अनग और अनग का प्रतिबल नामक पुत्र हुआ। प्रतिबल के पुत्रो मे कोई राज्य न कर सका क्योकि उनमें से एक तो मर गया और अन्य साधू हो गये अत अनंग राजा हुआ। उसके वेन उत्पन्न हुआ। वेन अत्याचारी राजा था इसलिये ऋषियो ने उसे मार डाला। वेन के निषीद नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, यह क्रूर स्वभाव का था अत इस की सन्तान मे

1 दैवहि परमो दण्डो रूपतोऽग्नि रिवोथित । १४
नीलोत्पलदलश्यामश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुज·
अष्ट पान्नैकनयन शंकुकर्णोर्ध्वरोमवान् ॥ १५
जटी द्विजह्वस्ताभ्रास्यो मृगराज तनुच्छदः।
एतद्रूपं बिभर्त्युग्र दण्डोनित्यो दुराधर· ॥ १६
दण्डोहि भगवान् विष्णुर्दण्डो नारायण प्रभु·।
शश्वद्रूपं महद्बिभ्रन्महन् पुरुष उच्यते॥ २३ ॥ शा० अ० १२१

२. दुर्बलार्थं बलं सृष्टं धात्रा मान्धातरुच्यते।
अबहन्तु महद्भुतं यस्मिन् सर्व प्रतिष्ठितम् ॥ शा० अ० ९१ । श्लो० १२

लगभग एक लाख मनुष्य हुए जो अपने पापकर्मों के कारण म्लेच्छ कहलाये। इनका निवास विन्ध्य पर्वत था। वेन के एक पृथु नामक पुत्र भी उत्पन्न हुआ था, यह बड़ा विद्वान् था, वेद शास्त्रों का ज्ञाता और श्रेष्ठ था। यह युद्ध विद्या में भी बड़ा निपुण था। पृथु ने हाथ जोड़ कर ऋषियों से प्रार्थना की कि आप मुझे सेवा बतायें, ऋषियों ने उससे धर्मानुसार कार्य करने का आदेश दिया। और कहा कि सब प्राणियों से आप पक्षपात रहित होकर न्याय पूर्वक व्यवहार करो और सब को समान समझो। ऋषियों ने उससे प्रतिज्ञा ली। पृथु ने प्रतिज्ञा की। शुक्राचार्य उसके पुरोहित थे।[1] एक और स्थान पर महाभारत के शान्तिपर्व में राजा के निर्वाचन का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है।

"अराजकता तथा अत्याचारों के कारण प्रजा को बड़ा कष्ट होने लगा। जिस प्रकार बड़ी बड़ी मछलियां छोटी छोटी मछलियों का भक्षण करती हैं उसी प्रकार सबल निर्बल को दुःख देने लगे। जब लोगों का नाश होने लगा तब सब लोगों ने मिलकर निर्णय किया कि अबसे हमलोग धार्मिक (श्रेष्ठ) जीवन व्यतीत करेंगे, हममें से जो व्यक्ति दुष्ट, कटुभाषी परस्त्रीगामी अथवा अन्यायी होगा उसको हम सब मिलकर त्याग देंगे और उसका बहिष्कार करेंगे। ऐसी प्रतिज्ञा करके वे सब ब्रह्मा के समीप गये और उनसे प्रार्थना की कि हमारे सकट बढ़ते जा रहे हैं क्योंकि हम लोगों में कोई राजा नहीं है इसलिये आप हमें एक राजा दीजिये, जिसकी आज्ञा का हम पालन करें और जो हमारी रक्षा करे। इस पर ब्रह्मा ने मनु को राजा बनने का आदेश दिया। मनु ने राज्य करने की असमर्थता प्रकट की। लोगों ने उनसे प्रार्थना की कि आप निर्भय होकर हमारे ऊपर राज्य कीजिये आपही आदमी को दण्ड दीजिये। हम सब आपकी सब प्रकार से सहायता करेंगे। आपकी कोश वृद्धि के लिये पशु आदि का पचासवाँ भाग तथा धन धान्य का दसवाँ भाग देंगे। अत्यन्त सुन्दर कन्या से आपका विवाह कर दिया जायगा। हम सब आपके पीछे पीछे चलेंगे। आप कुबेर के समान हमारे रक्षक बनिये। जो राजा धर्मानुसार प्रजा की रक्षा करता है उसे उस पुण्य का चतुर्थांश प्राप्त होता है। आपकी सदा जय हो।[2]

---

1. देखिये महाभारत शान्ति पर्व, अ० ५९ श्लो० ९०. से ११०।
2. अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम्।
   परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान्॥
   समेत्यतास्ततश्चक्रुः समयानिति नः श्रुतम्।

कौटिल्य के अर्थ शास्त्र में भी आरम्भ मे राजा की नियुक्ति का वर्णन किया गया है। कौटिल्य ने भी वेद, मनुस्मृति तथा महाभारत के आधार पर ही राजा का बनाना वर्णन किया है। कौटिल्य ने भी यही बतलाया है कि आरम्भ में प्रजा को जब शान्ति पूर्वक जीवन व्यतीत करने मे बाधा हुई - निर्बल को बली दु ख देने लगे और मात्सन्याय के अनुसार लोग अपना

वाक्शूरो दण्ड पुरुषो यश्च स्यात् पारजायिकः ॥
यः परस्व मथादद्या त्याज्या नस्तादृशाइति । '
विश्वासार्थञ्च सर्वेषां वर्णनामविशेषतः ॥
तास्तथा समयं कृत्वा समयेनावतस्थिरे ।
सहितास्तास्तदा जग्मुरसुखार्त्ताः पितामहम् ॥
अनीश्वरा विनश्यामो भगवन्नीश्वरं दिश ।
यं पूजयेम सम्भूय यश्च नः प्रतिपालयेत् ॥
ततो मनुं व्यादि देश मनुर्नाभिनन्द ता ः ।
मनुरुवाच ।
बिभेमि कर्मणः पापाद्राज्यं हि भृशदुस्तरम् ।
विशेषतो मनुष्येषु मिथ्यावृत्तेषु नित्यदा ॥
भीष्मउवाच ।
तमब्रु वन् प्रजामा भैः कर्तृ नेनो गमिष्यति ।
पूनामाधि पंचाद्धिरण्यस्तथैवच ॥
धान्यस्य दशमं भागं दास्याम कोशवद्ध नम् ।
कन्यां शुल्के चारूपां विवाहे षू द्यतासुच ॥
मुखेन शस्त्र पत्रे ण ये मनुष्या प्रधानतः ।
भवन्तं ते ऽनुयास्यन्ति महेन्द्रमिवदेवताः ॥
सत्वं जातबलो राजा दुष्प्रधर्षः प्रतापवान् ।
सुखे धास्यसि नः सर्वान् कुवेर इव नैऋतान् ॥
यञ्च धर्मं चरिष्यन्ति प्रजा राजा सुरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य त्वत्संस्थं वै भविष्यति ।
तेन धर्मेण महता सुखं लब्धेन भावितः ।
पाह्यस्मान सर्वतो राजन् देवानिव शतक्रतुः ॥
विजयाय हि निर्याहि प्रतपन् रश्मिवानिव।
मानं विधम शत्रूणंजयोरस्तुतव सर्वदा ॥
शा० प० अध्या० ६७, श्लो० १७ से २१ ।

मात्स्यन्याय करने को लोगों ने मनु को अपना राजा बनाया। कौटिल्य ने ब्रह्मा द्वारा मनु को राजा बनाने का वर्णन नहीं किया है। कौटिल्य ने इस प्रकार लिखा है कि "जब प्रजा मात्स्यन्याय से पीड़ित हुई तब उसने मनु को अपना राजा बनाया। राज को सुवर्ण आदि का दसवां भाग तथा धन-धान्य का छठा भाग कर के रूप में देने की व्यवस्था की गई। इसके बदले में मनु प्रजा के कल्याण के लिये उत्तर दायी बने"।[1]

कौटिल्य ने पुरोहित अथवा प्रधान सचिव का बड़ा महत्वपूर्ण पद बतलाया है। एक स्थान पर उसने लिखा है कि राजा इस प्रकार पुरोहित का अनुयायी हो जैसे पुत्र पिता का अथवा भृत्य स्वामी का[2]। उसने अमात्य और मंत्री में भेद माना है, उसका कथन है कि कार्यशक्ति तथा बुद्धि आदि गुणों के अनुसार देश काल का विचार करके राजा अमात्य बनावे परन्तु मंत्री न नियुक्त करे।[3] कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में वेद, मनुस्मृति, शुक्रनीति तथा महाभारत आदि ग्रन्थों के आधार पर राजनीति व्यवस्था का उल्लेख किया है और तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति पर भी पूर्णरूप से प्रकाश डाला है। उसके ग्रन्थ के पढ़ने से पता चलता है कि उस समय की राज्य व्यवस्था पूर्ण रूप से उन्नत दशा में थी।

प्राच्य राजदर्शन के लक्षण—अति प्राचीन काल में मानव जीवन में धर्म का बड़ा महत्त्व-पूर्ण स्थान था जैसा कि प्रथम अध्याय में बतलाया जा चुका है। मनुष्य के जीवन का प्रत्येक कार्य धर्म ही से सम्बद्ध था। इसीलिये प्राचीन काल के धर्मशास्त्रों में राजनीति को राजधर्म के नाम से सम्बोधित किया गया है। उस समय के धर्मशास्त्रों का अध्ययन करने से पता चलता है कि मानव समाज के जीवन पर धर्म का बड़ा प्रभाव था। जन्म से लेकर मरण पर्यंत प्रत्येक कार्य धर्म का ही एक अंग समझा जाता था। विधि-विधान, धर्म तथा रीति रिवाज सब एक दूसरे से सम्बद्ध थे। इनमें से किसी एक का पृथक रूप से अस्तित्व न था। मनुष्य का

---

१. मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे॥
धान्य षड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं।
प्रकल्पयामासुः॥ अर्थशास्त्र अधि० १ अ० १३। श्लो० ६—७।

२. तमाचार्यं शिष्यः पितरं पुत्रो भृत्यः स्वामिनमिव चानुवर्त्तेत।
कौटिल्य अधि० १ अ० ९

३. विभज्यमात्यविभवं देशकालौ च कर्म च।
अमात्याः सर्वएवैते कार्याः स्युर्नतु मंत्रिणः॥ अधि० १ अ० ८, श्लो० २३

प्रत्येक कार्य एक वाह्य शक्ति द्वारा प्रभावित रहता था और वह दैवीय शक्ति समझी जाती थी, देवताओं से वे लोग बहुत डरते थे। इन्द्र, वरुण कुबेर आदि अनेकों देवता मनुष्य जीवन के भिन्न भिन्न कार्यों को प्रभावित करते थे। देवताओं की कल्पित इच्छाओं के अनुसार लोग कार्य किया करते थे। सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा द्वारा ही मनुष्यों की उत्पत्ति हुई है अत सब लोग ईश्वर के ही पुत्र हैं, ऐसा विचार करके लोगो का आरम्भ सगठन धर्म के आधार पर बतलाया जाता है। अर्थात् आरम्भ मे मनुष्यों को व्यवस्था म रखने वाली वस्तु धर्म था। धर्म ही उनके सगठन का आधार था।

शनैं शनैं लोग कुटुम्बो के रूप म विभाजित हो गये। भिन्न भिन्न धार्मिक चिन्ह नियत हुए, इस प्रकार धर्म न मनुष्यों के कौटुम्बिक जीवन को भी प्रभावित किया। उस समय लोग प्रकृति की पूजा किया करते थे। प्रकृति की जिन जिन वस्तुओं न उनको प्रभावित किया उन्ही को वे देवता समझकर पूजन लगे, उनसे भय मानने लगे। प्रत्यक कुटुम्ब अथवा जाति अपन अपन देवता की पूजा करती थी और अपना अस्तित्व पृथक् स्थापित करने का प्रयत्न करती थी। पारस्परिक अन्तर जातीय सम्बन्ध तथा विवाहो की व्यवस्था उनम न थी। विवाह आदि सम्बन्ध एक विशेष नियम के द्वारा गोत्र, ग्रह आदि देख कर किये जाते थे।

प्राचीन काल म विधानात्मक विधानो का अस्तित्व न था। लोग अपने सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन सम्बन्धी कार्यों के लिये विधि विधान आदि का निर्माण नही करते थे और प्रत्यक कार्य रीति रिवाजों के अनुसार किया जाता था। जो लोग प्रचलित रीति रिवाजो के विरुद्ध कार्य करते थे उन्हे गृहपति द्वारा दण्ड दिया जाता था। दण्ड कठोर था। नरा-घातक विधानो का प्रचार था। कुछ कार्य ऐसे समझे जाते थ जिनका करना वर्जित था। वर्जित कार्यों के आरम्भ के विषय में कुछ नही कहा जा सकता, इतना अवश्य है कि उस समय लोगो का यह विश्वास था कि इन वर्जित कार्यों के करने स लोगो को सकटो का सामना करना पडता है।

मानव समाज के जीवन की राजनैतिक तथा सामाजिक प्रगति का ज्ञान हमको वैदिक काल के ग्रन्थो से होता है। वैदिक काल के ग्रन्थो के पढने से पता चलता है कि उस समय में मानव समाज की सभ्यता पूर्ण रूप से उन्नत दशा म थी। उस समय के ग्रन्थो से हमको मनुष्यों के जीवन के प्रत्येक कार्य का पता अच्छी तरह चलता है। वेदो और शास्त्रो म मनुष्यो को सब प्रकार का उपदेश दिया गया है। उनमें बतलाया गया है कि मनुष्यो को किस

प्रकार जन्म से लेकर मरण पर्यन्त कार्य करना चाहिये। मनुष्यों को गृहस्थ, सामाजिक तथा राजनैतिक सम्बन्धी सब प्रकार के उपदेश दिये गये हैं और बतलाया गया है कि अमुक कार्य मनुष्य के लिये हितकर तथा अमुक अहितकार है। मनुस्मृति, शुक्रनीति, विदुर निति, महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में मनुष्य को सामाजिक राजनैतिक और धार्मिक, सब प्रकार के उपदेश दिये हैं और इन विषय सम्बन्धी आचरणों के लिये निश्चित नियम निर्धारित कर दिये गये हैं। राजा से लेकर प्रत्येक व्यक्ति को इन नियमों का पालन करना अत्यन्त आवश्यक था। राजा ईश्वर का रूप अथवा दूत समझा जाता था।

प्राचीन हिन्दू धर्म-ग्रन्थों में सब प्रकार के राजनीति सम्बन्धी विषयों का वर्णन किया गया है। परन्तु राज-शास्त्र अथवा राजनीति पर उस समय कोई पृथक् ग्रन्थ न था। भिन्न-भिन्न धार्मिक ग्रन्थों में राजशास्त्र सम्बन्धी भिन्न-भिन्न विषयों का वर्णन किया गया है। जो ग्रन्थ राजनीति पर हैं उनमें राजनीति के अतिरिक्त अन्य विषयों का भी वर्णन है। इस विषय पर उन ग्रन्थों का विवरण लिखते समय विशेष रूप से इस बात का स्पष्टीकरण किया जायगा। इस समय केवल इतनी ही बात ध्यान में रखनी चाहिये कि धर्म तथा धर्म गुरुओं का मानव समाज के प्रत्येक कार्य पर बड़ा प्रभाव था और इसलिये राजनीति पर भी धर्म और पुरोहितों (धर्म गुरुओं) का बड़ा प्रभाव था। राजनैतिक सम्बन्धी प्रत्येक कार्य में इस बात का ध्यान रखा जाता था *कि कोई कार्य धर्म के विरुद्ध न हो।*

प्राचीन काल में प्राच्य देशों में धार्मिक राज्य थे अथवा यों कह सकते हैं कि उस समय धर्म-तन्त्र राज्य थे। मनुस्मृति में केवल राजनीति सम्बन्धी विषय ही नहीं हैं, उसमें मानव समाज सम्बन्धी प्रत्येक कार्य पर प्रकाश डाला गया है। मनुस्मृति में राजा को देवों का अंश बतलाया गया है उसमें लिखा है कि 'इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि वरुण, चन्द्र, और कुबेर की शाश्वत मात्राओं (सारभूत अंशो) को निकाल कर राजा को बनाया।'[1] अर्थात् इन दिव्य गुणों से युक्त पुरुष राजा होता है। क्योंकि देवेन्द्रो की मात्राओं से राजा बनाया गया है। इसलिये यह राजा तेज से सब प्राणियों को दबाता है।[2]

---

१ इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वती ॥ मनु० अध्याय ७ श्लो० ४

२ यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृप ।
तस्मादभिभवत्येष सर्व भूतानि तेजसा ॥ मनु० अ० ७, श्लो० ५

शुक्रनीति में भी केवल राजनीति सम्बन्धी विषय का वर्णन नही है बल्कि मनुष्य जीवन के अनेक कार्यों का वर्णन है और प्रत्येक कार्य को धर्म से सम्बद्ध किया गया है। इस ग्रन्थ में भी राजा को इन्द्रादिकों का अंश बतलाया गया है। उसने लिखा है कि "इन्द्र, पवन, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र, कुबेर, इनके स्वाभाविक अंशो से और अपने तप के प्रताप से जन्म और स्थावरो का स्वामी राजा होता है"।[1]

चीन, मिश्र, असीरिया, ईरान, आदि प्राच्य देशो की सभ्यता भी अति प्राचीन है। इन समस्त देशो में भी राजनीतिक सम्बन्धी विचार ऐसे ही थे जैसे कि भारतवर्ष में। इन देशो में भी राजा देवता के समान समझा जाता था अथवा राजा ईश्वर का दूत समझा जाता था। राजाओ के सहायक धर्म-गुरु ही हुआ करते थे। ये धर्मज्ञ धर्म शास्त्रो के अनुसार राज्य करने मे राजा को सहायता देते थे। राजा को धर्म शास्त्रो की व्याख्या करके उनके तथा प्रजा के कर्तव्य बतलाते थे। इन्ही धर्मज्ञो का उस समय की प्रजा पर पूर्ण प्रभाव था।

इन देशो में पारस्परिक ऐक्य तथा संगठन का आधार धर्म तथा जातीय मौलिकता थी। जो लोग एक ही ऋषि, व्यक्ति अथवा वंश के उत्पन्न हुए होते थे वे सब संगठित रूप में रहते थे और वे सब समान देवताओं की पूजा करते थे। ये लोग जहाँ जहाँ जाते थे वहाँ वहाँ अपने देवताओ को नही ले जाते थे। यदि वे अन्य देशो को चले जाते थे तो वहाँ रहकर उसी देश के देवी देवताओ की पूजा करने लगते थे और अपने देश के देवी देवताओ को भूल जाते थे। केवल यहूदी जाति में यह विशेषता रही है कि जहाँ जहाँ इस जाति के लोग गये अथवा बसे वहाँ वहाँ वे अपने साथ अपने ही देवी देवताओ को ले गये। उन्होने अपनी प्राचीन प्रथा तथा रीति रिवाजो को न छोड़ा इसी लिये आज हम देखते हैं कि संसार में जहाँ जहाँ भी यहूदी फैले हुए हैं उनके देवी देवता तथा रीति रिवाज अभी तक वैसे ही हैं जैसे सहस्त्रो वर्ष पूर्व थे।

अति प्राचीन काल के प्राच्य राजदर्शन का एक महत्व पूर्ण लक्षण यह भी था कि उनमें साम्राज्यवाद को एक विशिष्ट स्थान दिया गया है। प्राचीन काल के

1. इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयो श्चापि मात्रानिर्हृत्य शाश्वती ॥
जंगमस्थावराणां चहीशः स्वतपसा भवेत्।
भाग भाग्दश्येदर्णो यथेन्द्रो नृप तिस्तथा ॥ शु० अ० 1, श्लो० ७२

प्राच्य राज दर्शन का अवलोकन करने से पता चलता है कि उस समय इन देशों में साम्राज्य स्थापित थे। और छोटे छोटे राज्य स्थापित थे जिन पर नाम मात्र के लिये एक शक्तिशाली सम्राट का आधिपत्य रहता था। रामायण तथा महाभारत काल में शक्ति शाली सम्राट अश्वमेध यज्ञ रचाया करते थे। जो सम्राट यह समझता था कि मैं अब शक्ति शाली हूँ और अन्य आसपास के राज्यों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने योग्य हूँ तो वह एक घोड़ा अनेक आभूषणों से सुसज्जित करके अन्य राज्यों में होकर भेजा करता था और उस घोड़े के साथ एक सेना भेजी जाती थी। जो जो राज्य उस घोड़े तथा सेना को अपने राज्य में होकर शान्तिपूर्वक निकल जाने दिया करते थे और नाम मात्र की भेंट सम्राट को देने की प्रतिज्ञा कर लेते थे वे अधीन मान लिये जाते थे, और जो घोड़े को अपने राज्य में होकर निकलने में बाधा डालते थे उनसे युद्ध किया जाता था, और युद्ध में पराजित करके उन्हें अधीन किया जाता था। जब यह घोड़ा अपने राज्य में लौट जाता था तब अश्वमेध यज्ञ रचाया जाता था और जो राजा आधिपत्य स्वीकार कर लेते थे उनको आमन्त्रित किया जाता था।

प्राचीन काल के प्राच्य देशों की शासन प्रणाली पूर्ण रूप से परिपूर्ण थी। शासन के प्रत्येक विभाग की व्यवस्था अच्छी थी। इसमें सदेह नहीं कि उस समय के साम्राज्य आधुनिक काल के सघीय राज्यों के समान थे। अथवा या कह सकते हैं कि वे गण राज्य थे और नाम मात्र को वे एक सम्राट के अधीन रहते थे। इस का यह कारण है कि उस समय यातायात के अच्छे साधन न होने के कारण सम्राट का पूर्ण आधिपत्य अधिक राज्यों पर न रहता होगा, अथवा उस समय के सम्राटों की ही यह नीति होगी कि यदि उनके अधीनस्थ राज्य उनका आधिपत्य स्वीकार कर लेते होंगे तो वे इसी से सतुष्ट हो जाते होंगे और आधुनिक काल के साम्राज्य-वादियों के समान उनका शोषण न करते होंगे।

भारतीय चीनी तथा हिंदू ग्रन्थों के पढ़ने से पता चलता है कि प्राचीन काल में इन देशों ने राजनीति में बड़ी उन्नति की थी। उनकी शासन पद्धति श्रेष्ठ तथा पूर्ण थी। इन्हीं देशों की राजनीति का अनुकरण यूनान तथा रोम वासियों ने किया है। यूनानी तथा रोमन राजशास्त्रों के पढ़ने से विदित होता है कि उन्होंने इन्हीं जातियों के राजदर्शन के आधार पर अपने राजदर्शन का निर्माण किया है।

हिंदू राजदर्शन के लक्षण—उत्तर वैदिक काल अथवा पौराणिक काल के राजदर्शन में वैदिक काल के राजदर्शन की अपेक्षा कुछ परिवर्तन हो

गया था। ईसा से लगभग ५०० वर्ष पूर्व भारतवर्ष मे हिन्दू साम्राज्य स्थापित था अथवा यो कह सकते हैं कि उस समय यह साम्राज्य ससार के समस्त साम्राज्यों से विस्तृत था। इस काल में भारतवर्ष के राजनीति सम्बन्धी विचारो में बहुत बडा परिवर्तन हो गया था। इस समय भारतवर्ष में धर्मतन्त्रीय राज्य न था। शासन पद्धति में इतना परिवर्तन हो गया था कि अब पुरोहितो अथवा धर्म गुरुओं की कुछ भी नही चलती थी। शासन पद्धति धर्म के आधार पर न थी, राजनीति तथा राजधर्म भिन्न भिन्न विषय हो गये थे। कूटनीति म भी बडी उन्नति हो गई थी। राज्य धर्म से पूर्णरूप से स्वतन्त्र हो गया था। कौटिल्य के अर्थ शास्त्रो के पढने से पता चलता है कि धर्म का राजनीति पर बिल्कुल प्रभाव नही रहा था। राजदर्शन तथा राजशास्त्र धर्म शास्त्रो से पृथक् हो गया था।

जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि वैदिक काल मे राजनैतिक चेतना का विकास "मत्स्यन्याय' के आधार पर बतलाया गया है अत दड का हिन्दू राजदर्शन मे अत्यन्त महत्व पूर्ण स्थान है। हिन्दू राजशास्त्र का आधार वैदिक काल का ही दण्ड विधान है । दण्ड को ही विधान, सुशासन, सुव्यवस्था तथा न्याय का आधार माना गया है।

हिन्दू काल म राजा वशागत तथा निर्वाचित दोनो प्रकार का होता था। समस्त राज्य अथवा साम्राज्य का शासक राजा ही होता था। वही अधिकार, विधान, तथा न्याय का स्रोत था। परन्तु राजा अन्याय नही कर सकता था। जब तक राजा लोक हित के कार्य करता था और न्याय पूर्वक कार्य करता था तब तक वह अपनी गद्दी पर रह सकता था। अन्यायी अथवा पक्षपाती राजा के विरुद्ध प्रजा विद्रोह कर देती थी और उसे गद्दी से उतार कर दूसरे व्यक्ति को राजा बना दिया जाता था।

बौद्ध काल म जनतत्र राज्यो की स्थापना हुई । बुद्ध ने साम्राज्यवाद का विरोध किया है। और स्थानीय स्वराज्य का समर्थन किया है। बुद्ध ने यह प्रचार किया था कि मानव समाज का कल्याण स्थानीय सभाओं तथा समितियों द्वारा ही हो सकता है । साम्राज्यवाद का खडन करते हुए उन्होंने जनतत्रो का समर्थन किया। परिणाम यह हुआ कि बौद्ध काल म जनतत्र राज्यो की स्थापनाएँ हुई और स्थानीय सभा तथा समितियो की शक्ति बढी गैटिल (Gettell) का कथन है कि हिन्दू आचार शास्त्र के अनुसार सैनिक गुणो को गौण स्थान दिया गया है और अपने भाग्य पर सन्तुष्ट रहने की शिक्षा दी गई है, परन्तु हिंदू राज्य दर्शन निश्चित रूप से सैनिकवादी है और कुछ-कुछ मैकियावेली के सिद्धान्तो के समान है । इस

(हिन्दू राजदर्शन) में सन्नद्धता को महत्वपूर्ण बतलाया गया है, सैनिक गुणों की प्रशंसा की है और राजनैतिक अधिकार का आधार स्पष्ट रूप में "बल" को माना है और छल तथा गुप्त कूटनीति के विवेक पूर्ण प्रयोग की अत्यन्त प्रशंसा की है।[1]

चीन का राजदर्शन—चीनी राजदर्शन प्राच्य राजदर्शन का ही एक अंग है। चीनी राजदर्शन पर भारतीय अथवा हिन्दू राजदर्शन का बड़ा प्रभाव पड़ा है। भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति ने जितना प्रभाव वहाँ के राजदर्शन पर डाला है उतना ही प्रभाव चीन की भौगोलिक स्थिति ने चीन राजदर्शन पर डाला है। बड़े बड़े पर्वतों से आच्छादित होने के कारण वहाँ की जनता सहस्रों वर्ष तक संसार के अन्य देशों के प्रभावों से बची रही और चीन में भी वहाँ की जातियों में घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित न हो सका। परिणाम यह हुआ कि वहाँ के लोगों की सभ्यता तथा राजनैतिक दशा ने एक विशेष प्रकार का रूप धारण किया और जब तक भारतवर्ष का प्रभाव वहाँ न पहुंचा तब तक उनकी एक विशिष्ट राजनैतिक तथा सामाजिक दशा रही। ईसा से लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व तक का लिखित ऐतिहासिक वर्णन चीनी पुस्तकों में पाया जाता है। चीन में कोन्फ्यूशियन धर्म का प्रारम्भ अब से लगभग तीन सहस्र वर्ष पूर्व बतलाया जाता है। इस धर्म के अनुसार वे लोग अपने पुरखों की पूजा करते हैं, जाति अथवा कुटुम्ब में पुरखों की पूजा का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। वे अपने मृत्यु प्राप्त पुरखों को देवता मान कर उनका पूजन करते। इससे पूर्व चीन में बहुधा स्वर्ग की पूजा होती थी। स्वर्ग-पूजा ही राज धर्म था। राजा तथा अन्य पुराधीप धर्म-गुरु भी होते थे। राजा सबसे बड़ा पुरोहित तथा शासक होता था। वह धार्मिक कार्यों में सबसे आगे रहता था। जिस प्रकार वह युद्ध के समय सेना का नेतृत्व करता था

---

१. While Hindu ethics assigned a low place to the military virtues and taught a pacifist fatalism, Hindu political thought was often decidedly militaristic and sometimes Machiavellian. It emphasized the value of preparedness, praised the military virtues, frankly based political authority upon force, and extolled the judicious use of guile and secret diplomacy.

आर० जी० गैटिल-हिस्ट्री आफ पोलीटिकल थॉट--पृष्ठ २७-२८

उसी प्रकार धार्मिक कार्यों में भी वह पुरोहित अथवा धर्म-गुरु का कार्य करता था। शनै शनै धार्मिक कार्य वहा के पडित अथवा विद्वानो के हाथ में आ गया और राजाओ का कार्य केवल शासन करना ही रह गया ।

अब से लगभग ३ सहस्त्र वर्ष पूर्व चीन में कन्फ्यूशियस, मोहन्ती, लाओ-त्ज़ी नामक बडे विद्वान दार्शनिक हुए हैं। दार्शनिको न चीन वासियो को राजनैतिक क्षेत्र मे जनतत्र तथा स्थानीय स्वराज्य का उपदेश दिया। और यह भी शिक्षा दी कि राजा ईश्वरीय दूत अथवा दैवीय अश नही है। यदि राजा अत्याचारी हो तो उसके विरुद्ध विद्रोह करके उसे गद्दी से उतारा जा सकता है और उसके स्थान पर श्रेष्ठ राजा गद्दी पर बैठाया जा सकता है। धार्मिक क्षेत्र में इन लोगो ने यह शिक्षा दी कि मनुष्य स्वभाव से दूषित होता है। राजा मनुष्य के दोषो को समझता है और उसके अच्छे आचरण के लिये विधि-विधान बनाता है, अनुशासन स्थापित करता है तथा सुख और शान्ति की व्यवस्था स्थापित करता है। इन दार्शनिको ने विश्व बान्धवता के भावो का लोगो में सचार किया। इन दार्शनिको के मतानुसार राज्य का उद्देश्य प्रजा को सच्चरित्र बनाना था। चीनी लोगो का विचार था कि राजा आदर्श होता है उसमें कोई अवगुण नही होता। प्रजा को सब प्रकार से राजा के चरित्र का ही अनुकरण करना चाहिये। प्राचीन हिन्दू धर्म के मतानुसार "यथा राजा तथा प्रजा" वाली कहावत चीन के लिये भी उपयुक्त कही जा सकती थी।

ईसा से लगभग ३०० वर्ष पूर्व भारतीय बौद्ध भिक्षुओने वहा की राजनीति पर बडा प्रभाव डाला। अनेको पाली तथा सस्कृत बौद्ध धर्म-ग्रन्थो का अनुवाद चीनी भाषा में किया गया। लगभग ३०० वर्ष में चीनी भारतीय बौद्ध विचारो से पूर्ण रूप से प्रभावित हो गया। राजनैतिक क्षेत्र में इसका यह परिणाम निकला कि स्थानीय बौद्ध विहार राजनैतिक विचारो के केन्द्र बन गये और स्थानीय स्वराज्य व्यवस्था तथा छोटे छोटे गण राज्यो की स्थापना हुई। राजनीति म धर्म का पुन प्रभाव स्थापित हुआ। अब भी चीन पर भारतीय बौद्ध सस्कृति का बडा प्रभाव है।

यहूदी (Hebrew) राजदर्शन—यहूदी लोग जेहोवा (Jehova) के पुजारी थे। अन्य जातियो के लोग जहा जहा गये वहा उन्होने उन्ही देशो की सस्कृति को ग्रहण किया जहा वे बसे। इन जातिया ने नवीन देशो में जाकर अपने इष्ट देवताओं को त्याग दिया। यहूदी लोगो में एक विशेषता यह थी कि जहा जहा ये लोग गये वहा वहा ये अपने देवता जेहोवा को भी

अपने राज्य में गये। संसार के भिन्न भिन्न भागों में वे बस गये जहां कहीं इन्होंने अपने ही देवता की पूजा प्रचलित रखी और अपने ही रीति-रिवाजों को स्थापित रखा। इन्होंने उन देशों की संस्कृति तथा रीति रिवाजों को ग्रहण न किया जहां जाकर वे बसे।

राज्य के विषय में यहूदियों का यह विचार था कि राज्य ईश्वर के द्वारा स्थापित किया गया है। राज्य सम्बन्धी समस्त विधि-विधानों का स्रोत जेहोवा है। राज्य के विधि विधान दैवीय होने के कारण राजा तथा प्रजा सबके लिये समान रूप से मान्य हैं। इनकी अवहेलना करना पाप है। इन विधि-विधानों में मनुष्य परिवर्तन नहीं कर सकता है। धर्मतन्त्रवादी राज्य व्यवस्था में ये लोग विश्वास करते थे। राज्य की उत्पत्ति के विषय में ये लोग दैवीय सिद्धान्त को मानते थे। उनका मत है कि क्योंकि राज्य देवता का स्थापित किया हुआ है इसलिये राजा भी देव दूत है और उसकी आज्ञा का पालन करना प्रत्येक नागरिक का परम कर्तव्य है। यहूदियों का एक विशेष लक्षण यह था कि वे यह समझते थे कि उनके देवता सदैव प्रत्येक सांसारिक कार्यों में उनका पथ-प्रदर्शन करता है। इसलिये राज्य सम्बन्धी विषयों में भी जेहोवा उनका पथ-प्रदर्शक था। यहूदियों का दूसरा महत्व-पूर्ण लक्षण यह था कि इनमें जातीय एकता की भावना अत्यधिक मात्रा में थी। इसीलिये जहां जहां ये लोग गये वहां वहां उन्होंने अपनी जाति के लोगों का संगठन किया और अपने देवता, अपना धर्म, अपने रीति रिवाज तथा अपनी संस्कृति को पृथक स्थापित रखा और उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन तथा सम्मिश्रण न होने दिया। यद्यपि यहूदी लोग कभी कोई विस्तृत साम्राज्य स्थापित न कर सके तथापि उन्होंने अपना राष्ट्रीय तथा जातीय पृथकत्व स्थापित रखा और सहस्रों वर्ष पश्चात् आज अपने आपको एक राष्ट्रीय जाति के रूप में स्थापित करने में सफल हुए।

यहूदियों का यह मत था कि राजा तथा न्यायाधीश जेहोवा के आदेशों को प्रचलित करते हैं। राजा तथा न्यायाधीशों के पद वंशगत नहीं होते थे। ये अपनी योग्यता के कारण इन पदों को प्राप्त करते थे। यह भी यहूदियों का एक विशिष्ट लक्षण है कि धर्मतन्त्र वादी होते हुए भी यह राजा अथवा न्यायाधीशों को वंशगत नहीं मानते थे। इसका कारण यह था कि वे लोग यह समझते थे कि श्रेष्ठ राजा अथवा न्यायाधीश धर्म के अनुसार कार्य करता है, दुष्ट राजा अथवा अन्यायाधीश दैवीय नियमों अथवा विधि विधानों की अवहेलना करता है। अत ऐसे अधिकारियों के विरुद्ध विद्रोह करना तथा उनको पदच्युत करना धर्म-संगत है। पुरोहितों तथा पुजारियों की राज-

नैतिक विषयो में कुछ नही चलती थी। राजा अथवा न्यायाधीश पुरोहितो से शासन सम्बन्धी कार्यो में कोई परामर्श नही लेते थे, परन्तु फिर भी राज्य में पुरोहितो का प्रभाव था। यह विचार किया जाता था कि पुरोहित देवता से प्रार्थना करके अच्छा राजा देवता द्वारा नियुक्त करा सकते हैं। उनका मत है कि सैम्युअल नामक पुरोहित की अभिस्तुति के कारण ईश्वर ने सौल (Saul) नामक प्रथम राजा नियुक्त किया था और जब सौल ने अत्याचार किया तो स्वय सैम्युअल (Samuel) ने उसे पदच्युत करके दूसरा राज नियुक्त किया था। इतना होने पर भी शासक पर पुरोहितो अथवा धर्म गुरुओ का कोई प्रभाव नही था।

यहूदी लोग कभी सघीय शासन स्थापित नही कर सके परन्तु इनका सामाजिक जीवन वास्तव में सघीय रूप में सगठित था। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है यहूदी लोग स्वेच्छाचारी तथा अत्याचारी शासक के विरुद्ध विद्रोह करने को उद्यत रहते थे और उसे पदच्युत करके श्रेष्ठ शासक नियुक्त करते थे। इसके अनेक उदाहरण यहूदियो की धर्म पुस्तको म पाये जाते हैं। सोलोमन (Solomon) के स्वेच्छाचारी तथा कठोर शासन से लोगो को कष्ट हुआ। उसने अनुचित कर लगाये, अनुचित सैनिक सेवायें ली और लोगो से बेगार ली। इसका परिणाम यह हुआ कि उसकी मृत्यु के पश्चात् लोगो ने उसके पुत्र को गद्दी पर न बैठने दिया। और दूसरा शासक गद्दी पर बैठाया।

यहूदी लोगो का सगठन जनतन्त्रीय था। सब लोग समान समझे जाते थे। उनमें कोई ऊच नीच न था। वे लोग पारस्परिक बन्धु भाव म विश्वास रखते थे और दीन दुखियो पर दया करना अपना परम कर्त्तव्य समझते थे।

प्रारम्भ मे यहूदियो का यह विचार था कि समस्त विधि विधानो का स्रोत उनका देवता जेहोवा ही है और जो लोग अथवा न्यायाधीश उनके वादो का निर्णय करते थे उनको वे देवदूतो के समान मान्य समझते थे। शनैं शनै उनके विचारो में परिवर्तन हुआ और धर्मनिरपेक्ष न्यायालयो की स्थापना हुई। मोजज (Moses) ने सबसे प्रथम इस प्रकार के न्यायालयो की स्थापना की और न्याय सम्बन्धी नवीन विधि विधान निर्माण किये। ईसा से लगभग ७०० वर्ष पूर्व इस प्रकार के विधानो का अनुबद्ध करण किया गया और "द्युतरानामित्र-संहिता" [1] का सकलन किया गया।

1. Deuteronomic Code.

यह संहिता किसी व्यवस्थापिका सभा द्वारा नहीं बनाई गई थी। इसमें केवल परंपरागत तथा प्रचलित रीति रिवाजों को एकत्र कर लिया गया था परन्तु फिर भी यह तत्कालीन विधानों से भिन्न थी। ईसा से लगभग ५०० वर्ष पूर्व तक इस संहिता में परिवर्तन होते रहे और इसके पश्चात् यह "विधि संहिता" पूर्ण रूप से परिपूर्ण समझी जाने लगी।

अध्याय ३

भारतीय राजदर्शन

भारतवासियो की सबसे प्राचीन पुस्तकें वेद है। वेदो मे हमको अनेक थानो पर राजदर्शन सम्बन्धी विषयो का वर्णन मिलता है। यह वर्णन दो मे एक ही अध्याय अथवा स्थान पर नही है किन्तु कही कही पर यह वेषय दिया हुआ है।

ऋग्वेद—ऋग्वेद में लिखा है कि "राजा ही राष्ट्रो की उन्नति करने के कारण राष्ट्रो को रूप देने वाला है। इसलिये उसके पास उत्तम क्षात्रतेज होना चाहिये। अन्यथा वह समस्त राज्य का सरक्षण न कर सकेगा।"[1] राजा के गुणो का वर्णन ऋग्वेद में इस प्रकार किया गया है "राजाओ को उत्तम, तेजस्वी, अत्यन्त ज्ञानी, उत्तम पालन करने वाला, सत्य और सरलता के साथ उन्नति करने वाला तथा प्रत्येक सघ में सत्य की रक्षा करने वाला होना चाहिये।"[2] एक श्रेष्ठ स्वराज्य की राज्य व्यवस्था के सुचारु रूप से चलाने वाले लोगो के विषय मे लिखा है कि "स्वराज्य के लिये मित्र दृष्टि वाले लोग, विस्तृत दृष्टि के लोग और ज्ञानी लोग, ये तीन प्रकार के लोग योग्य होते हैं। अर्थात् पारस्परिक झगडा करने वाले, सकुचित दृष्टि वाले और अज्ञानी लोग स्वराज्य चलाने में समर्थ नही हो सकते। ज्ञानी सुविचारो का सवर्धन करे, शस्त्रधर अथवा बलवान् शत्रुओ का प्रतिकार करे और सब मिलकर स्वराज्य शासन का महत्व फैलावें"।[3]

वैदिक काल में राजा प्रजा द्वारा निर्वाचित किया जाता था और राज्य-पुरोहित (धर्मगुरु) द्वारा उसका राज्याभिषेक किया जाता था। पुरोहित राज्याभिषेक के समय उसे उपदेश देता था। ऋग्वेद में लिखा है कि जब राजा

१. राजा राष्ट्रानां पेशो न दीनामनुत्तमस्मै क्षत्रं विश्वायु। ऋ. ७।३४।११

२. ताहि श्रेष्ठ वर्चसा राजाना दीर्घश्रुत्तमा।
ता सत्पती ऋतावृध ऋतावाना जनेजने॥ ऋ. ५।६५।२

३. आ यद्वामीयचक्षसा मित्रवयं च सूरयः।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये॥ ऋ. ५।६६।६
इत्था हि सोम इन्मदे ब्रह्मा चकार वर्धनम्।
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निःशशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम॥
ऋ. १।८०।१

निर्वाचित कर लिया जाता था तब पुरोहित उससे ऐसा कहता था कि "हे राजा ! तू चुना गया है, राजगद्दी पर आ, स्थिर और दृढ़ होकर कार्य कर, सब प्रजाओं की अनुकूलता प्राप्त कर और प्रजा की सुसम्मति से स्थिर हो और ऐसा कोई कार्य मत कर जिससे तेरे कारण तेरा राज्य ही भ्रष्ट हो, अथवा तेरे आधीन राज्य न रहे।[1] तू यहाँ आ, तू अपने चरित्र से हीन न हो, तू पर्वत के समान स्थिर रहे। प्रभु के समान स्थिर होकर राष्ट्र का उत्तम रीति से धारण करे।[2] जो राजा नियमानुसार चलते हैं सत्य का पालन करते हैं और प्रशस्त कर्म करते हैं, वे ही साम्राज्य के लिये योग्य होते हैं"।[3] इस प्रकार का वर्णन हमको ऋग्वेद में स्थान स्थान पर मिलता है।

राष्ट्र मे जो दास, राक्षस अथवा आर्य शत्रुता करे उसे पराजित करना चाहिये और अपनी विजय संपादन करनी चाहिये। दास अथवा नाश करने वाले जो लोग भी हों वे सब राज्य के शत्रु हैं और नष्ट करने योग्य हैं। इन शत्रुओं का नाश करके अपने राष्ट्र की पूर्ण रूप से वृद्धि करनी चाहिये। जो वीर होते है वे स्थिर दृढ़मूल शत्रुओं को उखाड़ कर फेंक देते हैं। जो भारी होते हैं उनको अपने स्थान से हटा देते हैं तथा वनों, पर्वतों और पत्थरों में से मार्ग निकाल कर अपनी विजय संपादन करते हैं अर्थात् वीर पुरुषों को कुछ भी असाध्य नहीं है। पापी, क्रूर, घातकी मनुष्य को तत्काल समाज से दूर करना चाहिये। चोर, लुटेरे, डाकू, कुटिल, पाजी आदि दुष्ट लोगों को समाज से दूर कर देना चाहिये। धोखे बाज, छली, कपटी और पापियों को दबा रखना चाहिये। चूड़ा कर्म मुण्डन में जिस प्रकार बाल सघन और एकदम गिरते हैं उसी प्रकार युद्ध में बाण शत्रुओं पर गिरते हैं।[4] इस प्रकार युद्ध के विषय में ऋग्वेद में वर्णन किया गया है। युद्ध के अनेक साधनों के विषय मे इस वेद में अनेक मंत्र हैं।

---

१. आ त्वा हार्षं मन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।
विशस्त्वा सर्वा वाँछन्तु मा त्वद्राष्ट्र मधि भ्रशत्। ऋ० १०।१७३।१
२. इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलिः।
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय॥ ऋ० १०।१७३।२
३. ऋतावाना निषेदतुः साम्राज्याय सुक्रतू।
धृतव्रता क्षत्रिया क्षत्रमाशतुः॥ ऋ. ८।२५।८
यो नो दास आर्यो वा पुरुष्टुतादेव इन्द्र युधये चिकेतति।
अस्माभिष्टे सुषहः सन्तु शत्रवस्त्वया वय तान्वनुयाम सङ्गमे॥
ऋ० १०।३८।३

हस्ताघ्न तथा युद्ध के अन्य साधनो के विषय में इस वेद में यह वर्णन है। "हाथ का रक्षण करने वाला गोधा चर्म का कवच, धनुष की डोरी के आघात का निवारण करता हुआ बाहु को साप के समान लपेटो से लपेटा जाता है। इस प्रकार के कवच से सुरक्षित और सब कर्मों को जानने वाला पुरुषार्थी मनुष्य, पुरुषार्थी मनुष्यो का सब प्रकार से संरक्षण करे। अपने शस्त्रास्त्र शत्रुओ से बढकर और अधिक कार्यक्षम होने के कारण अपनी विजय होती है। इसलिये सदैव इस विषय में दक्षता प्राप्त करनी चाहिये जिससे अपने शत्रु के बल की अपेक्षा सब प्रकार से अपना बल अधिक रहे। रथ, चक्र, चक्रनाभि, घोडे तथा लगाम आदि दृढ न होने से कष्ट होगा। इसलिये ये सुदृढ और अच्छे रखे जाय। अर्थात् राष्ट्र *की सुरक्षा के लिये युद्ध के सपूर्ण शस्त्रास्त्र सदा उत्तम अवस्था में रखना* क्षत्रियो का परम कर्तव्य है"।[1] वीर पुरुष विजय प्राप्ति, यश आदि के उद्देश्यो से उत्तम युद्ध करें जिससे लोग उन से भय मानें और शत्रु भी डरें। शूर सेना नायक रथो के अग्र भाग में होता है। उस समय उसकी

यो नो अग्ने ऽभिदासत्यन्ति दूरे पदीष्ट स।
अस्माक मिद्वृधे भव ॥ ऋ० १।७६।११

पराहयस्स्थिरं हथ नरो वर्तयथा गुरु।
वियायन वनिन. पृथिव्या व्याशाः पर्वतानाम ॥ ऋ० १।३६।३

योनः पूषन्नघो वृको दुःशेव आदिदेशति।
अपस्म तं पथो जहि ॥ ऋ० १।४२।२

अपत्यं परिपंथिनं मुषीवाणं हुरश्चितम्।
दूरमधि स्रुतेरज ॥ ऋ० १।४२।३

त्वं तस्य द्वयाविनो ऽघशंसस्य कस्यचित्।
पदाभि तिष्ठ तपुषिम् ॥ ऋ० १।४२।४

यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव। तत्रा नो ब्रह्मणस्पतिर दितिः
शर्म यच्छतु विश्वाहा शर्म यच्छतु ॥ ऋ० ६।७५।१७

अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुं ज्याया हेति परिबाधमान.।
हस्तघ्नोविश्वा वयुनानि विद्वान् पुमान् पुमांसं
परि पातु विश्वत. ॥ ऋ० ६।७५।१४

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे। युष्माकमस्तु
तविषी पनीयसीमा मर्त्यस्य मायिनः ॥ ऋ० १।३६।२

स्थिरा वः सन्तु नेमयो रथा अश्वास एषाम्।
सुसंस्कृता अभीशवः ॥ ऋ० १।३८।१२

सेना हर्षयुक्त होती है। यह सेनापति मित्रों के लिये कल्याणकारी बातें करता है और चमकीले वस्त्र पहनता है।[1]

अथर्व वेद—अथर्व वेद में भी राजनीति सम्बन्धी विषयों का वर्णन पाया जाता है। इस वेद में राजनीति सम्बन्धी विषय अधिक विस्तृत रूप में वर्णन किया गया है परन्तु यह विषय एक ही अध्याय अथवा एक ही स्थान पर नहीं दिया हुआ है। राजनैतिक प्रकरण की खोज के लिये हमको सम्पूर्ण ग्रन्थ को पढ़ने की आवश्यकता होती है। अथर्व वेद में निर्वाचित राजा को उपदेश सम्बन्धी निम्नलिखित वर्णन पाया जाता है—

हे राजन ! तुझे राष्ट्र ने चुना है। तू तेजस्वी बन कर व्यवहार कर। प्रजा का पालन कर, समस्त प्रजाजनों का प्रिय बन और समस्त प्रजाओं को प्राप्त हो अर्थात् ऐसे स्थान पर निवास कर कि जहां समस्त प्रजाजन तेरे पास पहुँच सकें।[2] हे राजन ! समस्त प्रजाजन तुझे ही राज्य के लिये स्वीकार करें। यदि उनकी सम्मति न हुई तो तुझ से राज्य छीन लिया जायगा। इस लिये तू ऐसा राज्य कर कि समस्त प्रजाजन सन्तुष्ट रहें और वे क्लेश युक्त न हों। समस्त राष्ट्र के शिरो भाग में बैठकर सर्वत्र धन विभाग उत्तम रीति से कर, जिससे धन की विषम स्थिति होकर किसी को कोई क्लेश न हो।[3] तेरे राज्य में यज्ञादि करने वाले बहुत हों। देश देशान्तरों में चतुर राजदूत भेजे जायें। तेरे राज्य में स्त्रियां सदाचारी बनी रहें और उनके गुणी सन्तानें उत्पन्न हों। यदि तेरे राज्य की अवस्था इस प्रकार की होगी तो तुझको

---

१. शूराइवेद्युयुधयो न जग्मय श्रवस्यवो न पृतनासु येतिरे।
भयन्ते विश्वा भुवना मरुद्भ्यो राजान इव त्वेषसंदृशो नर ॥
ऋ० १।८५।८

प्रसेनानी शूरो अग्रे रथाना गव्यन्नेति हर्षते अस्य सेना।
भद्रान्कृण्वन्निन्द्रहवान्सखिभ्य आ सोमो वस्त्रा रभसानि दत्ते ॥
ऋ० ६।९६।१

२. आ त्वा गन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां
पतिरेकराट् त्वं विराज। सर्वास्त्वा राजन्
प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह ॥ अ० ३।४।१॥

३. त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्चदेवीः।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥
॥ अ० ३।४।२॥

बहुत भेंट मिलेगी, नही तो नही मिलेगी ।[१] राजा में क्षात्र बल होना चाहिये, उसके पास धन होना चाहिए, उसका मन सदैव प्रजा पालन में तत्पर रहे । राजा तथा राजपुरुष राष्ट्र के विश्वास पात्र बने रहें ।[२] राजा को उचित है कि वह अपने निकट, ज्ञानी, विचार शील, मननशील, बुद्धिमान, विद्वान, तत्वज्ञानी, कारीगर, तरखाण, लुहार आदि सब प्रकार के लोग रखे और उनको उत्तेजना देकर कारीगरी की वृद्धि करे।[३] राजा को उचित है कि वह समस्त सरदारों को तथा राजा के निर्वाचन मे मत प्रदान करने वालों को तथा सज्जनों को, कथा करने वाले ऐतिहासिकों और ग्राम के नेता तथा महाजनों को अपने अनुकूल करके अपने सहायक बना कर अपने साथ रखे ।[४]

लोक सभा, समिति आदि की स्थापना के विषय में अथर्ववेद में निम्न वर्णन आया है—

सृष्टि के आरम्भ मे केवल एक ही राजा से विहीन प्रजाशक्ति थी । इस राजविहीन अवस्था को देखकर सब लोग भयभीत हो गये और विचार करने लगे कि क्या सदैव ऐसी ही दशा रहेगी ।[५] वह प्रजा शक्ति उत्क्रान्त हो गई और गृहपति में परिणत हो गई । अर्थात् पहले मनुष्य अलग अलग रहते थे परन्तु अब उनके व्यवस्थित कुटुम्ब बन गये । कुटुम्ब बनने के पश्चात् गृहपति भी बन गये ।[६] यह प्रजाशक्ति पुनः उत्क्रान्त हो गई । जो यह

---

१. अच्छ त्वा यन्तु हविनः सजाता अग्नि दूतो अजिरः
संचराते । जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहुं बलिं
प्रति पश्यासा उग्रः ॥ अ० ३ । ४ । ३॥

२. मयि क्षत्रं पर्णमणेमधि धारयताद्रयिम् ।
अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥ अ० ३ ।५ । २॥

३. ये धीवाना रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः ।
उपस्तीन पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥ अ० ३।५।६॥

४. ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये ।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥अ० ३।५।७॥

५. विराड् वा इदमग्र आसीत्
तस्या जातायाः सर्वं अबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥अ० ८।१०।१॥

६. सोदक्रामत् सागार्हपत्ये न्यक्रामत् ॥अ० ८।१०।२
गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ॥ अ० ८।१०।३

जानता है वह सभासद बनने योग्य है।[1] वह प्रजा शक्ति पुनः उत्क्रान्त होने लगी और समिति में परिणत हो गई। जो यह जानता है वह समिति का सदस्य बनने योग्य है। इसका अभिप्राय यह है कि अनेक ग्राम समूहों की सुव्यवस्था के लिये ग्राम-सभासदों के प्रतिनिधियों से समितियाँ बनी।[2] वह प्रजाशक्ति उत्क्रमण को प्राप्त हुई और आमन्त्रण (मंत्री परिषद्) में परिणत होगई। जो यह जानता है वह इस मंत्री-परिषद् के लिये योग्य है।[3] ग्राम की लोक-सभा का नाम "सभा", प्रान्त की लोक सभा का नाम "समिति" अथर्व वेद में प्रयोग हुआ है। "मंत्रि-परिषद" के लिये "आमन्त्रण" का प्रयोग किया गया है। ये तीनों सभायें राष्ट्र की स्वराज्य पद्धति की शासक सभायें हैं। वेद में शासक के लिये राजा शब्द प्रयोग किया गया है। वेद में लिखा है कि "वह प्रेम करने लगा, रंजन करने लगा, इसलिये राजा बन गया"[4] अर्थात् जो लोगों (प्रजा) का रंजन करता है (जनता के ऊपर प्रेम करता है) वह राजा होता है। "जो राजा प्रजाओं के अन्नादि का उत्तम प्रबन्ध करता हैं उसको सम्पूर्ण उपभोग प्राप्त होते हैं।[5] जो राजा जनमत के अनुकूल शासन करता है उसी को लोकसभा, राष्ट्रीय महासमिति, सेना तथा कोष प्राप्त होते हैं, क्योंकि इन पर लोक सभा का अधिकार होता है।[6]

अहंकारी और प्रजा को कष्ट देने वाले राजा के विषय मे अथर्व वेद में निम्नलिखित वर्णन आया है—

"जो राजा स्वयं को अत्यंत शक्तिशाली मान कर ज्ञानियों का दमन करता

---

१. सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत्॥ अ० ८।१०।८
यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद ॥ अ० ८।१०।९
२. सोद् क्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् ॥ अ० ८।१०।१०
यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद ॥ अ० ८।१०।११
३. सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत् ॥ अ० ८।१०।१२॥
यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद ॥ अ० ८।१०।१३॥
४. सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत ॥ अ० १५।८।१
५. सविशः सबन्धूनन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठत् ॥ अ० १५।८।२॥
विशां च वै स सबंधूनां चान्नस्यचान्नाद्यस्यच
प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ अ० १५।८।३॥
६. सविशोऽनु व्यचलत् ॥ अ० १५।९।१॥
तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन् ॥ अ० १५।९।२॥
सभायाश्च वै स समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च
प्रिय धाम भवति य एवं वेद ॥ अ० १५।९।३

है उसका नाश होता है और उस राज्य का भी नाश हो जाता है। इसलिये किसी भी राजा को यह उचित नही है कि वह ज्ञानी पुरुषो को दबाए।[1] जिस राज्य में ज्ञानी को सताया जाता है उस राज्य का नाश हो जाता है।[2] सौ में से निन्यानवें ऐसे देशो के राजाओं का पराभव हुआ है जिन्होने ज्ञानियो को सताया है। इसलिये राजा को उचित है कि ज्ञानियो को न सताये।[3] शारीरिक बल, तेजस्विता, सहनशक्ति, आत्मिकबल, वाणी की शक्ति, इन्द्रियो की शक्ति, शोभा, कर्तव्य-पालन करने का स्वभाव, ज्ञान, शौर्य, राष्ट्रशक्ति, वैश्यों की व्यापारिक शक्ति, अधिकार शक्ति, सम्मान, सामर्थ्य, धन, दीर्घायु, सौन्दर्य, नाम का अभिमान, प्रसिद्धि, जीवन शक्ति, रोगनिवारण शक्ति, सूक्ष्म दृष्टि, ज्ञान, वीर्य का बल, रुचि, प्रेम, सहृदयता, सत्व, भोजन सामग्री, न्यायानुकूल यथायोग्य नियमपूर्वक व्यवहार, सत्यता, स्वहित, जनहित अथवा लोकहित, संतति, गाय, बैल, घोड़ा आदि पशु, ये सब, ब्राह्मण की गौ, वाणी आदि को लेने वाले, प्रतिबंध करने वाले और ब्राह्मण को कष्ट देने वाले क्षत्रिय राजा से दूर हो जाते हैं।[4] शासकों के लिये अथर्ववेद में तीन आवश्यक गुण बतलाये हैं। उसमे लिखा है कि शत्रु का पराभव करना, बलवान होना और विजयी बनना, ये तीन गुण राष्ट्र सेना के लिये आवश्यक है।[5]

---

१. उग्रो राजा मन्य मानो ब्राह्मणं योजिघत्सति।
परा तत्सिच्य राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते ॥ अ० ५।१६।६

२. तद्वै राष्ट्रमा स्रवति ना वं भिन्नामिवोदकम्।
ब्राह्मणं यत्र हिंसन्ति तद्राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ॥ अ० ५।१६।८

३. नवैव ता नवतयो यां भूमिर्व्यधूनुत।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥ अ० ५।१६।११

४. ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक्चेन्द्रियंच श्रीश्च
धर्मश्च ॥ ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च
त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥ आयुश्च
रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च
श्रोत्रं च ॥ पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च
सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥
तानि सर्वाण्यप क्रामन्ति ब्रह्मगवीमाददानस्य
जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य ॥ अथर्व० १२।५।७—११

५. सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः।
यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥ अ० १।२९।६

अथर्व वेद में राजा को यह आदेश किया गया है कि उसे लोक समिति की अनुमति के अनुसार कार्य करना चाहिये—"राजा अपनी उत्तम शासन-प्रणाली से सुदृढ़ होकर राज्य करे। समस्त शत्रुओं का पूर्णरूप से संहार करे। जो शत्रु के समान आचरण करने वाले हों उनको दबाकर रखे। सब लोगों की संघशक्ति बना कर राष्ट्र में अपूर्व सामर्थ्य उत्पन्न करे और समिति द्वारा राज्य शासन कराके लोक समिति की अनुमति से स्वयं सुदृढ़ होकर उत्तम राज्य शासन करे"।[1]

"सभा" ग्राम के लोगों की सभा थी और "समिति" राष्ट्र के प्रतिनिधियों की परिषद् थी। अथर्ववेद में इन दोनों सभाओं को प्रजापालन करने वाले राजा की "दुहिताएं" बतलाया गया है। पिता दुहिता अर्थात् पुत्री का पालन करने वाला होता है परन्तु पुत्री पर अधिकार पति का होगा, पिता का नहीं। ठीक इसी प्रकार राजा लोक सभाओं का पालक होता है परन्तु लोक-सभा राजा के अधिकार से बाहर है अर्थात् राज्य शासन का सुधार आदि करने में लोक-सभा पूर्ण स्वतन्त्र है। इन दोनों सभाओं में प्रजा की सम्मतियों का मेल होता है, इसलिये इन सभाओं के सभासदों से मिलकर राजा को प्रजा के मन का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। लोकसभा के सभासदों को भी राजा को अपनी निष्पक्ष सम्मति देनी चाहिये। वास्तव में राज्य के शासक और पालक लोक-सभा के सभासद् ही हैं। राजा और लोक-सभा के सभासदों का सदा परस्पर प्रेमपूर्वक भाषण होना चाहिये और वे कभी विद्वेषक शब्दों का प्रयोग न करें।[2] वेद में लोक सभा का नाम "न-रिष्टा" अर्थात् किसी का नाश न करने वाला, स्वयं नष्ट न होने वाली आया है। इस शब्द का संधि-विग्रह यदि "नर-इष्टा" किया जाय तो इसका अर्थ लोगों की इष्ट करने वाली होती है। जिस राज्य में लोक सभा होती है वहां राजा तथा प्रजा को कभी कष्ट नहीं होता। सभासदों को सत्यभाषी होना चाहिये। राजा तथा सभापति को उचित है कि वह सम्पूर्ण सभा के समस्त सदस्यों का क्या मन है, यह निष्पक्ष भाव से जानकर उसका उपयोग करें। अपने आप को सभा का

---

१. ध्रुवोऽच्युतः प्रमृणीहि शत्रूंछत्रूयतोऽधरान्पादयस्व । सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह ॥ अ० ६।८८।३

२. सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने । येना संगच्छा उपमा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु ॥ अ० १।१२।१॥

भागी अर्थात् अश बनाकर रहें और सभा के ज्ञान से ज्ञानी और सभा के तेज से तेजस्वी बन कर कार्य करें।[1]

अथर्व वेद में सभासद के विषय मे लिखा है कि "राजसभा के सभासद ही वास्तव में शासक है। ये प्रजा से लाभ का (धन धान्यादि का) सोलहवाँ भाग राजा के लिये अलग करते हैं। लोग यही कर राजा को देते हैं। यह दिया हुआ कर ही प्रजा का सरक्षण करता है। अर्थात् यह कर लेकर राजा सब प्रजा की रक्षा करता है और राष्ट्र में धारण शक्ति बढाता है। राजा को सोलहवाँ भाग कर रूप में देने पर वह प्रभावशाली बनकर सब प्रजा को नाश से बचाता है।[2]

अथर्व वेद के बारहवें अध्याय मे मातृभूमि सबधी अनेक गीत (National songs) है। इन गीतो मे देश भक्ति, पारस्परिक प्रेम, समानता, तथा देश प्रेम के भाव फैलाने वाले भाव विद्यमान हैं। इस अध्याय म इस प्रकार के गीत ६३ मत्रो मे वर्णन किये गये हैं। प्रथम गीत म उन आठ गुणो का वर्णन किया गया है जिनसे मातृभूमि की स्वतत्रा का सरक्षण होता है। वे आठ गुण ये बतलाये है—

(१) सत्यनिष्ठा, (२) सवर्धन, (३) न्याय्यव्यवहार, (४) प्रबलक्षात्र तेज, (५) कर्तव्यदक्षता, (६) शीत उष्ण सहन करने की शक्ति, (७) ज्ञान-आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ज्ञान तथा विज्ञान, और (८) श्रेष्ठो का सत्कार, पारस्परिक ऐक्य और अनाथो की सहायता करने के लिये आवश्यक कर्तव्य करना। इन गुणो से अर्थात् इन गुणो के जनता में बढने से मातृभूमि का धारण होता है। इन गुणो से जिस मातृभूमि का धारण हुआ है ऐसी मातृभूमि वहाँ के लोगो की भूत, भविष्य और वर्तमान् कालीन अवस्था का सरक्षण करती

१. विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।
येते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचस ॥ अ० ७।१२।२
एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे।
अस्या सर्वस्या संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु ॥ अ० ७।१२।३

२. यद्राजानो विभाजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं
यमस्यामी सभासदः। अविस्तस्मात्प्र मुंचति
दत्तः शितिपात् स्वधा ॥ अ० ३।२९।१
सर्वान् कामान् पूरयत्याभवन्प्रभवन्भवन्।
आकूति प्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति ॥ अ० ३।२९।२

है।[1] दूसरे गीत में बतलाया है कि जिस हमारे राष्ट्र के विचारशील मनुष्यों में परस्पर द्वेष भाव नहीं है, प्रत्युत उनमें पूर्ण ऐक्य भाव है, और उन में उच्चता, नीचता, और समता के विषय में कोई झगड़े नहीं हैं तथा जो हमारी मातृभूमि विविध गुणों से युक्त औषधि वनस्पतियों को उत्पन्न करती है, वह हमारी मातृभूमि हमारे यश को फैलाने के लिये कारणी भूत हो।[2] तीसरे तथा चौथे गीत में बतलाया गया है कि जिस हमारी मातृभूमि में समुद्र, नद, नदियां, तालाब, कूप, झील आदि बहुत हैं, उनके जल से सब कृषक अनेक प्रकार की खेतियां करके विविध प्रकार का धान्यादि उत्पन्न करें तथा उस अन्न का सेवन करके सब प्राणी आनन्द पूर्वक रहें। हमारी मातृभूमि हमें उत्तम खान पान देती रहे।[3] पांचवें गीत में बतलाया है कि 'जिस मातृभूमि में हमारे प्राचीन पूर्वजों ने विविध प्रकार के पराक्रम किये थे, सज्जनों ने दुष्टों का पराभव किया था और जिसमें गौवें, घोड़े तथा अन्य पशु पक्षी आनन्द से रहते हैं वह हमारी आश्रयदात्री मातृभूमि हमें ऐश्वर्य और तेज देने वाली होवे"।[4] इसी प्रकार के ६३ गीत इस अध्याय में विद्यमान हैं जिनके पढ़ने से पता चलता है कि प्राचीन वैदिक काल में भारतवासियों के राष्ट्रीय भाव कितने उच्च थे।

अथर्ववेद के ११ वें अध्याय में १६ वेद मन्त्र ऐसे हैं जो वीर-सूक्त सम्बन्धी हैं अर्थात इन गीतों (मन्त्रों) में मातृभूमि की रक्षा तथा युद्ध की

---

१ सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥
अ० १२।१।१

२ असम्बाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः॥
अ० १२।१।२

३ यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु॥
अ० १२।१।३

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु॥
अ० १२।१।४

४ यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु॥
अ० १२।१।५

तैयारी के सम्बन्ध में आदेश है। इनके पढने से पता चलता है कि युद्ध की तैयारी किस प्रकार करनी चाहिये किस प्रकार आक्रमण करना चाहिये और किस प्रकार युद्ध करना चाहिये। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित वर्णन वेद म पाया जाता है—"वीरो के जो बाहुबल और शस्त्र ग्रस्त्र आदि हैं, तथा अन्तःकरण के अन्दर जो विचार और सकल्प हैं उनको शत्रु के साथ युद्ध करने मे अवश्य वरतना चाहिये। प्रत्येक शस्त्रास्त्र को तथा विविध युक्तियो और उपायो को बरत कर शत्रु की पराजय और अपनी विजय सम्पादन करनी चाहिये। तथापि शत्रु के साथ युद्ध करने के पूर्व, युद्ध के समय तथा युद्ध के पश्चात् भी मनकी उदारता के हाथ व्यवहार करना चाहिये।[1] जो स्वय सेवक अपने मित्र होकर अपने दल के साथ रहकर, अपने शत्रु के साथ युद्ध करने के लिये आते हैं उनको "मित्रदल" कहते हैं। जो स्वार्थ त्याग से दुष्ट शत्रु को हटाने के लिये होन वाले युद्ध मे अपनी आहुति देने को सिद्ध होते हैं, वे देवताओ के समान पूज्य होने के कारण "देव-जन" कहलाते है। इन समस्त वीरो को युद्ध काल में सदैव सब प्रकार से उद्यत रहना चाहिये। यह पता नही होता कि किस समय युद्ध होगा, इसलिये सदैव उद्यत रहने की आवश्यकता होती है। युद्ध के समय अपन सब मित्रो को सुरक्षित रखना चाहिये और केवल शत्रुओ पर ही आक्रमण करना चाहिय। युद्ध के समय सब प्रकार की तैयारी करके आक्रमण आरम्भ करना चाहिये। चारो ओर से शत्रु सैन्य को पकडने, घेरने और बांधने के उपायो सहित शत्रुसैन्य पर आक्रमण करना चाहिये।[3] हे देवता सदृश सेनापति वीर ! तू सेना के साथ उठ। शत्रुओ की सेना को नष्ट भ्रष्ट करना हुआ सेना की व्यूह रचना द्वारा ऐसा करदे कि शत्रु सेना फिर सामने खडी न हो सके।[४] हे वीर पुरुष ! शत्रु को कपा दे और ऐसा करदे कि शत्रु घबरा जाय और भयभीत हो जाय। पकडने के मत्रो तथा बाहु-

१. येयाहवो या इषवो धन्वनावीर्याणि च। असीन्
परशूनायुधं चित्ताकूत च यद्धदि। सर्व तदर्बुदे त्वम
मित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्रदर्शय ॥ अ० ११।९।१

२ उत्तिष्ठत सं नह्यध्व मित्रा देवजना यूयम।
संदृष्टा गुप्ता व सन्तु या नो मित्राण्यर्बुदे ॥ अ० ११।९।२।

३. उत्तिष्ठतमा रभेथामादानसन्दानाभ्याम्।
अमित्राणांसेना अभि धत्तमर्बुदे ॥ अ० ११।९।३

४. उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह।
भञ्जन्नमित्राणां सेना भोगेभि परिवारय ॥ अ० ११।९।४

बन्धनों से शत्रु को घेर ले।[1] शत्रु पर इस प्रकार आक्रमण कर कि उसके समस्त सैनिक घबड़ा जाय और विक्षिप्त से हो जायें। उनके कोई भी विचार तथा संकल्प स्थिर न रह सकें।[2] हे वीर! तू शत्रु की सेना पंक्तियों को कपा दे। शत्रुओं को जीतने वाला और जय-शील-वीर प्रभु की सहायता से विजय प्राप्त करे।[3] हे वीर! सेना शक्ति युक्त सेनेन्द्र अर्थात् सेना विभागों का अध्यक्ष भागने वाले शत्रुओं के मुखिया को चुन चुन कर मारे। इनमें से कोई भी बच कर न जाने पावे।[4] अपने सैन्य दल की सहायता से ऐसा युद्ध करना चाहिए कि जिससे शत्रु का दिल टूट जाय, उसमें घबराहट उत्पन्न हो जाय, उसका मुख सूख जाय और उसके प्राण स्थान पर न रहें। परन्तु अपनी सेना की ऐसी व्यवस्था रखनी चाहिये कि जिससे अपने सैनिकों के हृदय आत्मविश्वास से परिपूर्ण रहें। प्राण में घबराहट उत्पन्न न हो तथा व्यवस्था और स्वास्थ्य बल आदि सब उत्तम अवस्था में स्थिर रहें। ऐसा होने से ही विजय होती है।[5] जो धैर्यशाली हैं और जो विरोध करने वाले हैं, जो शत्रु पर वेग से आक्रमण करने वाले हैं, जो शत्रुसैन्य का वध करने में कुशल हैं, जो धूम्र अस्त्र का उपयोग करने वाले हैं, जो शत्रु का छेदन-भेदन करने में प्रवीण हैं तथा जो छेदक-शस्त्र का प्रयोग करने में निपुण हैं उन सब को हे वीर! तू शत्रुओं के सम्मुख दृष्टि गोचर कर। और साथ ही साथ उदार भावों को दिखा।[6] युद्ध के समय सम्पूर्ण सेना सदैव तैयार रहे और अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ शत्रु से युद्ध करे। जो हमारे सत्य के पक्ष के साथ युद्ध करने को उद्यत हुए हैं, वे मित्र दल के सैनिक देवतातुल्य हैं। परन्तु पूर्ण रूप से विजय प्राप्त होने तक

---

१. उद्वेपय सं विजन्तां भियाऽमित्रान्त्संसृज।
उरुग्राहैर्बाह्वङ्कैर्विध्याऽमित्रान्न्यर्बुदे॥ अ. ११।९।१२

२. मुह्यन्त्वेषां बाहवश्चित्ताकूतं च यद्धृदि।
मैषामुच्छेषि किंचन रदिते अर्बुदे तव॥ अ. ११।९।१३

३. उद्वेपय त्वमर्बुदेऽमित्राणाममूः सिचः।
जयांश्च जिष्णुश्चाऽमित्रां जयतामिन्द्रमेदिनौ॥ अ० ११।९।१८

४. तयार्बुदे प्रणुत्तानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम्।
अमित्राणां शचीपतिर्माभीषां मोचि कश्चन॥ अ० ११।९।२०

५. उत्कसन्तु हृदयान्यूर्ध्वः प्राण उदीषतु।
शौष्कास्यमनु वर्ततामभित्रान् मोत मित्रिणः॥ अ० ११।९।२१

६. ये च धीरा ये चाधीराः पराञ्चो बधिराश्च ये तमसा येच तूपरा अथो-

उनको साथ रह कर युद्ध करना आवश्यक है।[1] उदार पुरुष उसका नाम है जो सब से अधिक आत्मसमर्पण करता है। शूरवीर युद्ध मे अपना जीवन ही देता है और जीवन सबसे अधिक प्रिय वस्तु है। इसलिये युद्ध मे भाग लेने वाले क्षत्रिय ही सबसे अधिक उदार पुरुष होते हैं। ये सब वीर अपने राष्ट्रीय झंडे साथ लेकर युद्ध की तैयारी करके उद्यत रहे और योग्य समय में धावा करें।[2] जो वीर अपने राष्ट्रीय झंडे की रक्षा के लिए युद्ध करते हैं और विजय प्राप्त करते हैं। वे ही राष्ट्र के संरक्षक होने के कारण सच्चे शासक हैं और विजय प्राप्त करते हैं। वे ही राज्य के मालिक हैं। इन वीरो के मन में वे ही लोग होने हैं जो दुष्ट और उपद्रवी होते हैं अर्थात् इन का उद्देश्य सदा ऐसे ही लोगो पर आक्रमण करना होता है। वीर पुरुष दुष्टों पर नियंत्रण स्थापित करें और शिष्टो का पालन करें। जो इस प्रकार का शासन करते हैं वे ही क्षत्रिय "ईश" कहलाते हैं।[3] वीर अपनी सेना के साथ आक्रमण करे। आक्रमण के लिये जो वीर नियुक्त हो, उनको भेंट अवश्य देनी चाहिये।[4] शत्रु के साथ ऐसा युद्ध करना चाहिये कि शत्रु पागल बन जाय अर्थात् वह घबडा जाय। शत्रु के वीरो मे से चुन-चुन कर मुखिया वीरो को मार दे।[5] कवचधारी, बिना कवचधारी अथवा अन्य प्रकार का जो कोई शत्रु बन कर युद्ध करने के

वस्ताभि -वासिनः । सर्वांस्तां अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे
कुरूदारांश्च प्रदर्शय ॥ अ० ११।९।२२

१. तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजनायुयम् ।
इमं संग्रामं संजित्य यथा लोकं वितिष्ठध्वम् ॥ अ० ११।६।२६

२. उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह ।
सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननुधावत ॥ अ० ११।१०।१

३. ईशां वो वेद राज्यं त्रिषन्धे अरुणैः केतुभिः सह ।
ये अन्तरिक्षे ये दिवि पृथिव्यां ये च मानवाः ।
त्रिषन्धेस्ते चेतसि दुर्णामान उपासताम् ॥ अथर्व० ११।१०।२

४. उत्तिष्ठ त्वं देव जनार्बुदे सेनया सह ।
अयं बलिर्व आहुतस्त्रिषन्धेराहुतिः प्रिया ॥ अ० ११।१०।५

५. मूढा अमित्रा न्यर्बुदे जह्येषां वरं वरम् ।
अनया जहि सेनया ॥ अ० ११।१०।२१

लिये आ जाय, उसका पूर्ण रूप से अन्त कर देना चाहिये।[1] कवचादि धारण करने वाले अथवा न धारण करने वाले शत्रु योद्धाओं का पूर्ण रूप से विनाश करना चाहिये।[2] युद्ध में रथी, पैदल आदि सबका वध करना चाहिये। और युद्ध में शत्रु के सहस्रों सैनिकों का वध करना चाहिये"।[3]

अथर्ववेद में शत्रु पराजय की भेदनीति के सम्बन्ध में निम्नलिखित मन्त्र पांचवें अध्याय में मिलते हैं—

ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि जिससे शत्रु सैन्य में फूट, पारस्परिक वैर, वैमनस्य, व्याकुलता, कष्ट, दुःख, त्रास का विरोध और भय उत्पन्न हो। यही भेद नीति है। इससे अपनी विजय होती है।[4] अपनी सेना की आहुति देने से डरने वाले शत्रु घबराहट के साथ मन, चक्षु और हृदय से कांपते हुए भाग जायें।[5] अपने सैन्य में ऐसा पराक्रम हो कि जिससे शत्रु का पूर्ण पराजय हो। और सेना के विभाग के विभाग ही घबराकर भाग जायें।[6] हमारी सेना सूर्य विद्युदग्नि ध्वजा लेकर शान्ति चित्त से योग्य पराक्रम करके शत्रु का पूर्ण पराजय करे। शत्रु का पूर्ण पराजय करने के लिये हम अपने सर्वस्व की आहुति दें। जिस समय सब लोग शत्रु को पराजित करने के लिये आत्म सर्वस्व समर्पण करेंगे, उसी समय विजय प्राप्त होगी।[7]

---

१ यश्च कवची यश्चाऽकवचो ऽमित्रो यश्चाज्मनि।
ज्यापाशैः कवचपाशैरज्मनाभिहतः शयाम्॥ अ० ११।१०।२२

२. ये वर्मिणो ये ऽवर्माणो अमित्रा ये च वर्मिणः।
सर्वांस्तां अर्बुदे हताञ्छ्वानोऽदन्तु भूम्याम्॥ ११।१०।२३

३ ये रथिनो ये अरथा असादा ये च सादिनः।
सर्वानदन्तु तान् हतान् गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः॥ ११।१०।२४
सहस्र कुणपा शेतामामित्री सेना समरे वधानाम्।
विविध ककजा कृता॥ अ० ११।१०।२५

४ विहृदयं वैमनस्यं वदामित्रेषु दुन्दुभे। विद्वेषं कश्मशं भयम्-
मित्रेषु नि दध्मस्य वैनान्दुन्दु भेजहि॥ अ० ५।२१।१

५. उद्वेपमाना मनसा चक्षुषा हृदयेन च।
धावन्तु बिभ्यतोऽमित्राः प्रत्रासेनाज्ये हुते॥ अ. ५।२१।२

६. ज्याघोषा दुन्दुभयोऽभि क्रोशन्तु या दिशः॥
सेना पराजिता यतीरमित्राणामनीकशः॥ अ० ५।२१।६

७ एता देवसेना सूर्यकेतव सचेतसः।
अमित्रान् नो जयन्तु स्वाहा॥ अ० ५।२१।१२

धूम्रास्त्र तथा गोली बारूद के विषय में लिखा है कि वरुण जल के देवता, अग्नि आग के देवता और इन्द्र विद्युत के देवता है। ये तीनो देवता सीसे से प्रीति करते है। इसलिये यह सीसा डाकुओ का नाश करने वाला होता है। इसका अभिप्राय यह है कि जल अग्नि और विद्युत् से सस्कार किया हुआ सीसा अर्थात् सीसे की गोलिया डाकुओ का नाश करती हैं।[1] यह सीसे की गोली डाकू, चोर, दुष्ट, लुटेरे तथा क्रूर प्राणि आदिको पर चलाकर उनका नाश करना चाहिये अथवा उनको दूर भगाना चाहिये। सीसे की गोली के प्रयोग से विजय प्राप्त होती है।[2] गौ, घोडा, मनुष्य आदि की हिंसा करने वाले, तथा अपने से युद्ध करने वाले अथवा पूर्वोक्त प्रकार के दुष्ट डाकू, लुटेरे आदि जो कोई आक्रमण करने वाले हो, उन पर गोली चलानी चाहिये और उनको दण्ड देकर सज्जनो की रक्षा अवश्य करनी चाहिये।[3] शत्रु की सेना जिस समय अपने ऊपर चढाई करके आरही हो, उस समय शत्रुओ पर धूमास्त्र फेंककर उनकी ऐसी अवस्था बनानी चाहिये कि उनके सैनिको मे से कोई एक दूसरे को न जान सके। इस प्रकार शत्रु का नाश करना चाहिये।[4]

मनु—वेदो मे लिखा है कि ब्रह्मा ने सृष्टि उत्पन्न की और जब समस्त प्राणियो तथा पदार्थों को उत्पन्न किया तब आदिकाल मे ब्रह्मा ने मनु को उत्पन्न किया। मनु ने मनुस्मृति की रचना की जिसमें उन्होंने सृष्टि की उत्पत्ति तथा मानव समाज के जीवन सम्बन्धी उपयोगी बातो का वर्णन किया। मनुस्मृति के पढने से ज्ञात होता है कि समय समय पर लोगो ने उसमें कुछ श्लोक अपनी ओर से भी मिला दिये हैं। इन सब बातो पर ध्यान न देते हुये हम मनुस्मृति-सम्बन्धी केवल उन्हीं विषयो का वर्णन करेंगे जिनका राजशास्त्र मे सम्बन्ध है। इस ग्रन्थ में कुल १२ अध्याय हैं।

अध्याय १—मे जगत्की उत्पत्ति से पूर्व अवस्था, परमेश्वर का जगत् को

१. सीसायाध्याह वरुणः सीसायाग्निरुपावति।
सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत्तदंग यातुचातनम्॥ अ. १।१६।२

२. इदं विष्कन्धं सहत इदं बाधते अत्रिणः।
अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः॥ अ. १।१६।३

३. यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा॥ अ. १।१६।४

४. असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना।
तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात्। अ. ३।२।६

उत्पन्न करना, शरीर, भूलोक, अन्तरिक्ष, दिशा, जलस्थान की उत्पत्ति, मन अहंकार, महतत्व, तीन गुण, पाँच इन्द्रियों की उत्पत्ति, अन्य दैवी सृष्टि, वेदोत्पत्ति, काल विभाग, नदी, समुद्रादि की उत्पत्ति, तप, वाणी रति आदि की उत्पत्ति, चारों वर्णों की उत्पत्ति, स्त्री पुरुषों तथा विराट् की उत्पत्ति, जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिजों की उत्पत्ति, उत्पत्ति तथा प्रलय की अवस्थाओं का वर्णन, मन, आकाश, वायु आदि तत्व तथा इनके गुणों का वर्णन, मन्वन्तर का परिमाण, युगों का प्रभाव, वर्णों के कर्म, प्राणियों में कौन कौन श्रेष्ठ हैं, आचार आदि की प्रशंसा आदि विषयों का वर्णन किया है। इस अध्याय के अन्त में श्लोक १११ से ११६ तक मनु ने मनुस्मृति का संक्षिप्त सूचीरूप वर्णन किया है—"जगत् की उत्पत्ति और संस्कारों की विधि और ब्रह्मचारियों के व्रत धारण और स्नान की परमविधि का वर्णन प्रथम अध्याय में किया गया है"।[1]

दूसरे अध्याय में धर्मोपदेश, श्रुति, स्मृति में कहे धर्म की प्रशंसा, आर्यावर्त्त की सीमा, सदाचार का लक्षण, ब्रह्मर्षि देश तथा मध्यदेश की सीमा, यज्ञ, संस्कार, माता पिता तथा आचार्य के साथ कैसे वर्तना चाहिये, चारों आश्रमों आदि विषयों का वर्णन है। मनु ने स्वयं प्रथम अध्याय के ११२ वें श्लोक में द्वितीय अध्याय के विषय का वर्णन इस प्रकार किया है "गुरु के अभिवादन का प्रकार और उपासनादि, गुरु के पास से विद्याभ्यास कर विवाहादि का वर्णन दूसरे अध्याय में और महायज्ञ और श्राद्ध कल्पादि का वर्णन तीसरे अध्याय में है'।

चौथे अध्याय में मनुष्यों के नित्य कर्मों का वर्णन है कि दिन में प्रत्येक मनुष्य को किस प्रकार कार्य करना चाहिये। इसमें पूर्ण दिनचर्या दी हुई है और इस अध्याय में यह भी बतलाया गया है कि कौन कौन से कार्य करने योग्य और कौन कौन से न करने योग्य हैं। 'वृत्तियों के लक्षण और स्नातक के व्रत, भक्ष्य अभक्ष्य, शौच और द्रव्यों की शुद्धि का वर्णन चौथे अध्याय में है'।[2]

---

1. जगतश्चसमुत्पत्ति संस्कार विधि मेव ॥
   व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परंविधिम् ॥ अ० १, श्लोक १११
   दाराधिगमनं चैव विवाहानाम् च लक्षणम।
   महायज्ञ विधानं च श्राद्धकल्पश्च शाश्वत ॥ अ० १, श्लोक ११२
2. वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्यव्रतानिच। भक्ष्याभक्ष्यंच शौचं च द्रव्याणां शुद्धिमेवच ॥ ११३ ॥ स्त्री धर्म योगं तापस्यं मोक्षं सन्यासमेवच। राज्ञश्च धर्ममखिलं कार्याणां चविनिर्णयम् ॥ ११४

पाचवे अध्याय में स्त्री सम्बन्धी धर्मोपदेश तथा अन्य शिक्षाओं का वर्णन है। छठे अध्याय में वानप्रस्थ आदि तपस्वियों का धर्म और मोक्ष तथा सन्यास धर्म का वर्णन है।

सातवें अध्याय में राज-शास्त्र सम्बन्धी विषय का वर्णन है। इस अध्याय म राजा धर्म वर्णन की प्रतिज्ञा, राजा के बिना हानि, राजोत्पत्ति का प्रयोजन, राजा के दैव बल, राजा का प्रभाव, राज नियम का मान्य, दण्ड की उत्पत्ति तथा बडाई, उसके जलाने की विधि, राजा के कर्तव्य, मन्त्रियों तथा राजा के पुरोहितों का कर्तव्य, कर आदि लेने का नियम तथा सैना सम्बन्धी विषयो का वर्णन है। मनु ने इन अध्यायो की सूची के विषय मे ऐसा लिखा है "स्त्रियों का धर्मोपयोग पाचवे अध्याय मे, वानप्रस्थादि तपस्वियो का धर्म और मोक्ष तथा सन्यास धर्म छठे अध्याय मे और राजा के सम्पूर्ण धर्म का वर्णन सातवें अध्याय मे किया गया है"।

आठवे अध्याय मे 'मुकद्दमो की छान बीन, दण्ड (जुर्माना) लेने के नियम, साक्षी कैसा होना चाहिये, झूठी साक्षी देने का अपराध, सब प्रकार के अपराध तथा उनके दण्डो का वर्णन है"।[1] 'नवें दसवें, तथा ११ वें अध्यायो मे वैश्य शूद्रो के धर्म का अनुष्ठान प्रकार, वर्ण सकरो की उत्पत्ति, वर्णों का आपद्धर्म और प्रायश्चित्त विधि का वर्णन है।"[2]

बारहवें अध्याय मे मनु ने देहान्तर प्राप्ति जो तीन प्रकार के कर्मों से होती है तथा मोक्ष का स्वरूप और कर्मों के गुण दोष परीक्षा, देशधर्म, जो कुल-परम्परा से चला आता है, तथा पाखण्ड (वेद शास्त्रो मे निषिद्ध कर्म) और गुण धर्म आदि का वर्णन किया है।[3]

मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में मनु न सृष्टि की उत्पत्ति, सृष्टि काल तथा मनुस्मृति ग्रन्थ की सक्षिप्त सूची का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त मानव समाज सम्बन्धी अनेक बातो का वर्णन करके मनुष्य की श्रेष्ठता तथा मनुष्यो म कौन सर्व श्रेष्ठ है इन विषयों का विस्तृत विवरण दिया है।

१. साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मं स्त्रीपुंसयोरपि।
विभागधर्मं द्यूतं च कण्टकानां च शोधनं ॥ ११५

२. वैश्य शूद्रोपचारं च संकीर्णानांच सम्भवम्।
आपद्धर्मञ्च वर्णाणां प्रायश्चित्तविधिं तथा ॥ ११६

३. संसार गमनं चैव त्रिविधं कर्म सम्भवम्। निःश्रेयसं कर्मणांच गुण दोष परीक्षणम् ॥ ११७
देश धर्मोञ्जातिधर्मान्कुलधर्मांश्च शाश्वतान्। पाषण्डगण धर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान्मनु ॥ ११८

दूसरे अध्याय में धर्मोद्देश, वेदादि आर्ष ग्रन्थ, आर्यवर्त तथा ब्रह्मर्षि देश की सीमा, वर्णाश्रम, विभिन्न संस्कार तथा माता पिता, गुरु आदि के प्रति कर्तव्यों का वर्णन किया है।

तीसरे अध्याय में ब्रह्मचर्य की महिमा, गृहस्थ के कर्तव्य तथा यज्ञादि की महिमा का वर्णन है।

चौथे अध्याय में यह बताया गया है कि मानव समाज को किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करना चाहिये। श्रेष्ठ तथा आदर्श जीवन चर्चा पर अधिक जोर दिया गया है। इस अध्याय में आचार सम्बन्धी अनेक विषयों का वर्णन है।

पांचवें अध्याय में आलस्यादि दोषों की हानि, भक्ष्याभक्ष्य विचार, नित्य कर्म आदि का वर्णन है।

छठे अध्याय में वानप्रस्थ अवस्था की महिमा, वानप्रस्थ धर्म से मुक्ति, सन्यास आश्रम, मनुष्यों की कर्म गति, मृत्यु, शोक, भय आदि का कारण तथा परमात्मा की सूक्ष्मता आदि विषयों का वर्णन है।

सातवें अध्याय में मनु ने विशेष रूप से राजनैतिक विषय का वर्णन किया है—इस अध्याय के प्रथम श्लोक में मनु लिखते हैं कि "जैसे आचरण वाला राजा होना चाहिये, उस प्रकार के राजधर्मों और राजा की उत्पत्ति और जैसे राजा के प्रभुत्व की उत्तम सिद्धि हो, उसको आगे कहूंगा"।[1]

प्राकृतिक अवस्था—(State of Nature)—को मनु ने बड़ा भयंकर तथा चलविचल अवस्था बताया है। यह अवस्था भयपूर्ण थी। इसलिये मनु का कथन है कि 'बिना राजा के इस लोक में भय से चारों ओर चल-विचल हो जाता, इस कारण सब की रक्षा के लिये ईश्वर ने राजा को उत्पन्न किया, इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर की शाश्वत मात्राओं (सारभूत अंशों) को निकाल कर राजा को बनाया "अर्थात् इन दिव्य गुणांशों से युक्त पुरुष राजा होता है। क्योंकि देवेन्द्रों की मात्राओं से राजा बनाया गया है, इसलिये यह तेज से सब प्राणियों को दबाता है। राजा अपने तेज से इन (देखने वालों) की आंखों और मनों को सूर्य सा असह्य होता है और पृथ्वी पर कोई राजा के सामने होकर नहीं देख सकता। वह राजा प्रभाव से अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, यम, कुबेर, वरुण और इन्द्र है। मनुष्य जान कर बालक राजा का भी अपमान करने योग्य नहीं है क्योंकि यह एक बड़ा देवता

---

१. राज धर्मान्प्रवक्ष्यामि यथा वृत्तोभवेन्नृपः।
संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा॥ अ० ७, श्लो: १

मनुष्य रूप में स्थित है। अग्नि तो केवल उसी को जलाती है जो कोई उसको कुचलता है परन्तु राजा कुचाल चलने वाले के कुल को भी पशु और धन सहित नष्ट कर देता है।[1]

सर्वोच्च सत्ता मनु के अनुसार राजा ही है। राजा के लक्षण मनु ने इस प्रकार वर्णन किये हैं। '*कार्य शक्ति देश और काल को तत्त्व से देख कर धर्म सिद्धि के लिये राजा बारम्बार नाना प्रकार का रूप धारण करता है।* (कभी क्षमा, कभी कोप कभी मित्रत्व कभी शत्रुत्व इत्यादि) जिसकी प्रसन्नता में लक्ष्मी रहती है। और जिसके पराक्रम म जय रहता है और क्रोध में मृत्यु वास करता है वह राजा अवश्य सर्व तेजोमय है। जो अज्ञान वश राजा से द्वेष करता है वह निश्चय नाश को प्राप्त होता है क्योंकि उसके शीघ्र नाश के लिय राजा मन बिगाड लेता है। इसलिये राजा अपने अनुकूलो म जिस धर्म (कानून) का और प्रतिकूलो म जिस अनिष्ट का निश्चय करके स्थापन करे (कानून बनावे) उस धर्म (कानून) को न तोड। उस राजा के लिय प्राणिमात्र के रक्षक आत्मा से उत्पन्न ब्रह्म तेज से बने दण्ड धर्म को ईश्वर ने पूर्व बनाया है। उस दण्ड के भय से सम्पूर्ण स्थावर और जङ्गम भोग को प्राप्त होते हैं और अपने अपने धर्म से विचलित

---

१. अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रानिर्हृत्य शाश्वती ॥
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृप।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥
तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥
बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥
एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरुपसर्पिणम्।
कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसञ्चयम् ॥ अ० ७, श्लो० ३–९

नहीं होते। देश, काल, शक्ति और विद्या के तत्त्व को शास्त्रानुसार विचार कर अपराधी मनुष्यों को यथा योग्य दण्ड देवे'।[1]

राजा के लिये दण्डव्यवस्था को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बताया। सुशासन के लिये दण्डव्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। अथवा यों कह सकते हैं कि वास्तव में दण्ड को ही राजा बतलाया है। यह दण्ड ही राजा है, वही पुरुष है वही नेता तथा शासिता और चारों आश्रमों के धर्म का प्रतिभू (जामिन) है, दण्ड सम्पूर्ण प्रजा पर शासन करता है, दण्ड ही रक्षा करता है सब के सोते हुए दण्ड ही जागता है उसी के भय से चोर चोरी नहीं करते और विद्वान लोग दण्ड को धर्म मानते हैं। दण्ड शास्त्र से अच्छे प्रकार देखकर स्थापित किया हुआ समस्त प्रजा को प्रसन्न करता है और बिना देखे हुए स्थापित किया हुआ चारों ओर नाश करता है। आलस्य रहित राजा यदि अपराधियों को दण्ड न देवे तो शूल पर मछली के समान अति बलवान लोग निर्बलों को भून डालें। (यदि राजा दण्ड व्यवस्था न करे तो) कौआ पुरोडाश भक्षण कर जाय, कुत्ता हवि का भक्षण करले और कोई किसी का स्वामी न हो सके और नीचे ऊंच और ऊंचे नीचता में प्रवृत्त हो जाय। समस्त लोग दण्ड से नियमित किये हुए ही सन्मार्ग में रहते हैं। क्योंकि (स्वभाव से सन्मार्ग में रहने वाला) शुचि मनुष्य दुर्लभ है। सम्पूर्ण जगत् दण्ड के भय से ही भोग कर सकता

---

1 कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः ।
कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः ॥
यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे ।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः ॥
तं यस्तु द्वेष्टि सम्मोहात्स विनश्यत्यसंशयम् ।
तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः ॥
तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः ।
अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत् ॥
तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥
तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च ॥
तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः ।
यथार्हतः सम्प्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु ॥ अ० ७, श्लो० १०–१६

है।[1] देव, दानव, गन्धर्व, राक्षस, पक्षी, सर्प, ये सब दण्ड के ही दबे हुए भोग को पा सकते हैं। दण्ड के बिना समस्त वर्ण दुष्टाचरण में प्रवृत्त हो जाय और (चतुर्वर्ण रूप) सब पुल टूट जाय और सम्पूर्ण लोगो मे उपद्रव हो जाय। जिस देश में श्याम वर्ण और लाल आख वाला, पाप का नाशक दण्ड विचरता है वहा प्रजा प्रमाद नही करती, यदि राजा अच्छे प्रकार देखता हो। सत्य बोलने वाले और अच्छे प्रकार समझ कर कार्य करने वाले, बुद्धिमान और धर्म, अर्थ, काम के ज्ञाता राजा को उस (दण्ड) के देने का अधिकारी कहते हैं। जो राजा दण्ड को भली प्रकार चलाता है वह धर्म, अर्थ, काम से वृद्धि को प्राप्त होता है और जो विषय का अभिलाषी और उलटा चलने वाला तथा क्षुद्रता करने वाला है वह उसी दण्ड मे नष्ट हो जाता है। बड़े तेज वाला दण्ड है, और शास्त्रोक्त सस्कार रहित राजाओ से धारण नही किया जा सकता किन्तु राजधर्म से विपरीत राजा ही को बन्धु सहित नाश कर देता है। राजा के नाश के अन्तर दुर्ग (किला) राज्य, और स्थावर जङ्गम प्रजा, पक्षी आदि सब को अधर्मी राजा का दण्ड पीडित करने लगेगा। मन्त्री व सेनापतियो की सहायता से रहित, मूर्ख, लोभी, निर्बुद्धि और विषयो मे आसक्त राजा से वह दण्ड (राजधर्म) न्याय पूर्वक नही चलता है।[2] शौचादि

१. स राजा पुरुषो दण्डः स नेताशासिता च स ।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृत. ॥
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्ड सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधा ॥
समीक्ष्य धृतः सम्यक् सर्वारञ्जयति प्रजा ।
असमीक्ष्यस प्रणीतस्तु विनाशयतिसर्वतः ॥
यदि न प्रणयेद्रजा दण्ड दण्डचेष्वतन्द्रित· ।
शूलेमत्स्यानि वापचयन्दुर्बलानलवत्तरा· ॥
अद्यात्काकः पुरोडाशंश्वा चलिह्याद्धविस्तथा ।
स्वाम्यं च नस्याकस्मि श्चि प्रवर्तेताधरोत्तरम् ॥
सर्वोदण्डजितोलोको दुर्लभोहि शुचिर्नरः ।
दण्डस्यहिभयासर्वं जगद्भोगाय कल्पते ॥ अ० ७, श्लो १७-२२

२. देवदानवगन्धर्वा रक्षांसिपत गोरगा·
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिता ॥
दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्यरेन्सर्वसेतवः ।
सर्वलोक प्रकोपश्च भवेद्दन्डस्य विभ्रमान् ॥

पवित्र, सत्य प्रतिज्ञ, शास्त्र के अनुसार चलने वाले, अच्छे सहायकों वाले और बुद्धिमान् राजा द्वारा दण्ड चलाया जा सकता है। राजा को न्यायकारी, शत्रु को दण्ड देने वाला, मित्रों में कुटिलता रहित व्यवहार करने वाला और ब्राह्मणों पर क्षमायुक्त होना चाहिये। ऐसा आचरण करने वाले शिलोञ्छवृत्ति से भी जीवन व्यतीत करते हुए राजा का यश जगत् में फैल जाता है, जैसे पानी में तेल की बूंद। विषयासक्त और इसके विपरीत आचरण करने वाले राजा का यश लोगों में संकोच को प्राप्त होता है, जैसे पानी में घृत की बूंद। अपने अपने धर्म पर चलने वाले आनुपूर्व्य से सब वर्णों और आश्रमों की रक्षा करने वाला राजा (ईश्वर ने) उत्पन्न किया है।[1] इस प्रकार दण्ड का महत्व मनु ने अपने ग्रन्थ में वर्णन किया है।

यत्रश्यामोलोहिताक्षोदण्डश्चरति पापहा ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥
तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्य वादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थ कोविदम् ॥
तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैवनिहन्यते ॥
दण्डोहि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाऽकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥
ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम् ।
अन्तरिक्ष गतांश्चैव मुनीन्देवांश्च पीडयेत ॥
सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेना कृत बुद्धिना ।
नशक्यो न्याय तो ने तुं सक्तेन विषयेषु च ॥ अ० ७, श्लो २५-३० ॥

1. शुचिना सत्य सन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्ड सुसहायेन धीमता ॥
स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद् भृशदण्डश्च शत्रुषु ।
सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषुक्षमान्वितः ॥
एवं वृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः ।
विस्तीर्यतेयशोलोके तैल बिन्दुरिवाम्भसि ॥
अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः ।
संक्षिप्यते यशोलोके घृत बिन्दु रिवाम्भसि ॥
स्वेस्वेधर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः ।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टो ऽभिरक्षिता ॥ श्लो० ३१-३५

- आगे चलकर मनु ने उत्तम राजा के कर्त्तव्यो का वर्णन किया है। विनय से लाभ और अविनय से हानि बतलाते हुए कुछ उदाहरण दिये है। राजा को प्रातःकाल उठकर ऋग्, यजु, सामवेद और धर्म शास्त्र के जानने वाले ब्राह्मणो के साथ बैठना और उनके शासन को मानना चाहिये। वेद जानने वाले पवित्र, आयु में वृद्ध ब्राह्मणो की नित्य सेवा करे क्योंकि बड़े विद्वानो की सेवा करने वाला राजा दुष्ट जीवो से भी पूजा (सत्कार) पाता है।[1] शिक्षित राजा भी उन विद्वानो से शिक्षा का नित्य अभ्यास करे क्योंकि सुशिक्षित राजा कभी नाश को प्राप्त नही होता। (हाथी, घोडा, खजाना, इत्यादि) सब सामानो से युक्त बहुत से राजा विनय रहित होने के कारण नष्ट हो गये और बहुत से (वे सामान) जगल मे रहते हुए भी विनय के कारण राज्य को प्राप्त हो गये।[2] तीनो वेदो के जानने वालो से तीन तीन वेद पढ़े और सनातन दण्डनीति विद्या तथा वेदान्त पढ़े और लोगो से व्यवहार विद्या पढ़े। इन्द्रियो को जीतने का रात दिन उद्योग करे क्योंकि जितेन्द्रिय ही प्रजा को वश में कर सकता है। काम से उत्पन्न दश और क्रोध से उत्पन्न आठ (ऐसे १८) व्यसनो को जिनका अन्त मिलना दुर्लभ है, यत्न से छोड दे। काम से उत्पन्न व्यसनो में आसक्त हुआ राजा अर्थ और धर्म से हीन हो जाता है और क्रोध से उत्पन्न व्यसनो मे आसक्त हुआ राजा तो अपने शरीर से ही नष्ट हो जाता है।[3] शिकार करना, जुआ,

---

१. ब्राह्मणान्पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः।
त्रैविद्यवृद्धान्विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने ॥
वृद्धांश्चनित्यं सेवेत विप्रान्वेद विदः शुचीन्।
वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिर ऽपि पूज्यते ॥ अ० ७, श्लो० ३७-३८

२. तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः।
विनीतात्माहि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित् ॥श्लो० ३९
बहवो ऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः।
वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ॥ श्लो० ४०

३. त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकींचात्म विद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥ श्लो० ४३
इन्द्रियाणां जयेयोगं समा तिष्ठे दिवानिशम्।
जितेन्द्रियोहि शक्नोतिवशेस्थापयितुं प्रजाः ॥ श्लो० ४४
दशकामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ श्लो० ४५

खेलना, दिन में सोना, दूसरे के दोषों को कहते रहना, स्त्री सम्भोग, मद्यपान, नाचना, गाना, बजाना और बिना प्रयोजन घूमना ये दस काम से व्यसन हैं। चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, दूसरे के गुणों में दोष लगाना, द्रव्यहरण, गाली देना और कठोरता, ये आठ क्रोध से उत्पन्न व्यसन हैं। जिसको सम्पूर्ण विद्वान इन दोनों गणों का कारण बताते हैं उस लोभ को यत्न से छोड़ दे। उसी से ये दोनों गण उत्पन्न होते हैं। काम से उत्पन्न हुए गण में मद्यपान, जुवा खेलना, स्त्री प्रसंग और शिकार इन चारों को बहुत कष्ट जाने। क्रोध से उत्पन्न हुए गण में कठोर वचन कहना, डण्डे से मारना, द्रव्य हरण करना, इन तीन (३) को सदैव अति कष्ट जाने। ये जो सबके साथ सो सात व्यसन हैं, इन में पहले व्यसन को ज्ञानी पुरुष भारी व्यसन जाने। व्यसन और मृत्यु दोनों नाश करने वाले हैं। इनमें व्यसन अति कष्ट-कारी है क्योंकि व्यसनी दिनबदिन अवनति को प्राप्त होता है और निर्व्यसनी मर कर स्वर्ग को जाता है।[1]

मनु स्वेच्छाचारी राजतन्त्र के पक्ष में नहीं हैं। उन्होंने पार्लमेन्टीय-(सभ्यागारी) शासन का समर्थन किया है। उनका मत है कि राजा को मंत्रियों के परामर्श से प्रत्येक कार्य करना चाहिये। राजा को उचित है कि "मूल से नौकरी किये हुए, शास्त्र को जानने वाले शूरवीर, अच्छा निशाना लगाने वाले,

कामजेषु प्रसक्तोहि व्यसनेषु महीपतिः।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥ श्लो० ४६

1. मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियोमदः।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥
पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्याऽसूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपिगणोऽष्टकः ॥
द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥
पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथा क्रमम्।
एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥
दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थ दूषणे।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा ॥
सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥
व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्ट मुच्यते।
व्यसन्यधोऽधोव्रजति स्वर्यात्यव्यसनोमृतः ॥ अ० ७, श्लो० ४७–५३

अच्छे कुल के और परीक्षोत्तीर्ण सात या आठ मन्त्री रखे। जबकि सुगम काम भी एक से होना कठिन है तो विशेष कर बड़े फल देने वाला राज्य सम्बन्धी कार्य अकेला कैसे कर सकता है, इसलिये उन (मन्त्रियों) के साथ साधारण सन्धिविग्रह की ओर (दण्ड, को, पुर, राष्ट्र = चतुर्विध) स्थान और द्रव्यादि की उन्नति और सबकी रक्षा और जो प्राप्त है उसकी शान्ति का विचार करे। उन मन्त्रियों के अलग अलग और सब के मिले अभिप्राय को जानकर कार्यों में अपना हित करे। उन सब (मन्त्रियों) में अधिक धर्मात्मा और बुद्धिमान ब्राह्मण (मन्त्री) के साथ राजा षड्गुणयुक्त परम मन्त्रणा करे। उस मन्त्री में अच्छा विश्वास करता हुआ सब कार्य उसको सौंपे और जो करना हो उसके साथ निश्चय करके उस कार्य को करे। अन्य भी पवित्र, बुद्धिमान्, परीक्षित तथा द्रव्य के उपार्जन की युक्ति जानने वालों को मन्त्री बनावे। राजा का जितने मनुष्यों से पूरा काम चले उतने आलस्यरहित चतुर बुद्धिमानों को मन्त्री बनावे।[1] उनमें शूर, चतुर कुलीन मन्त्रियों को धन के स्थान में और अर्थशुचियों को रत्नों की खान खुदवाने में तथा डरपोकों को महलों के भीतर आने जाने में नियुक्त करे।[2]

---

१. मौलान्छास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान् कुलोद्गतान्।
सचिवान्सप्तचाष्टौवा प्रकुर्वीत परीक्षितान्॥
अपियत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम्॥
तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम्।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानिच॥
तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक्-पृथक्।
समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः॥
सर्वेषां तुविशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता।
मन्त्रयेत्परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम्॥
नित्यं तस्मिन्समाश्वस्तः सर्वकार्याणि निक्षिपेत्।
तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत्॥
अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञान वस्थितान्।
सम्यगर्थ समाहर्तॄन मात्यान्सुपरीक्षितान्॥
निर्वर्तेतास्ययावद्भिरितिकर्तव्यतानृभिः।
तावतोऽतन्द्रितान्दक्षान् प्रकुर्वीत विचक्षणान्॥ अ० ७, श्लो० ५४-६१

२. तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान्दक्षान् कुलोद्गतान्।
शुचीनाकर कर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने॥

राजदूतों के लक्षण मनु ने इस प्रकार बतलाये हैं कि "दूत उसको रखे जो बहुश्रुत, हृदय के भाव, आकार चेष्टाओं को जानने वाला, अन्तःकरण का शुद्ध तथा चतुर और कुलीन हो। प्रीति वाला, शुद्ध चित्त, चतुर, याद रखने वाला, देश काल का जानने वाला, अच्छे देह वाला, निडर और बोलने वाला, राजा का दूत प्रशस्त है। मन्त्री के अधीन, दण्ड, दण्ड के अधीन सुशिक्षा, राजा के अधीन देश तथा खजाना और दूत के अधीन मेल व बिगाड़ है, क्योंकि दूत ही मेल कराता है और दूत ही मिले हुओं को फोड़ता है। दूत वह कार्य करता है जिस से मनुष्योंमें भेद हो जाता है। राजदूत का कर्तव्य है कि वह राजा से असन्तुष्ट तथा विरुद्ध लोगों में छिपे इशारों और चेष्टाओं से उनकी सूरत शकल इशारे और कार्य या हरकतों को जानने का यत्न करे और यह जाने कि भरणपोषण योग्य पुरुषों में वे क्या करना चाहते हैं। दूत शत्रु राजा की सब इच्छाओं को ठीक ठीक जानकर वैसा प्रयत्न करे जिससे वह अपने को पीड़ा न दे सके"।[1]

राजा के नगर तथा दुर्ग का लक्षण अगले श्लोकों में मनु ने वर्णन किया है। राजा को ऐसे देश में रहना चाहिये जहाँ जंगल, घास, पानी, धन धान्य हो, जहाँ आर्य पुरुष निवास करते हों, जो स्थान रोगादि से रहित हो, देखने में मनोहर और जिसके पास अच्छे वृक्ष, पक्षी, खेती और बाजार हों तथा जहाँ धनुर्दुर्ग, मही दुर्ग, जल दुर्ग, वृक्षदुर्ग, सेना दुर्ग या गिरि दुर्ग, हो।[2] अर्थात् राजा को ऐसे स्थान पर पुर बसाना चाहिये जहाँ ऐसे दुर्ग बन सकें कि

---

१. दूतंचैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्र विशारदम्।
इङ्गिताकार चेष्टज्ञं शुचिंदक्षं कुलोद्गतम् ॥
अनुरक्त शुचिर्दक्ष स्मृतिमान् देशकालवित्।
वपुष्मान्वीत भीर्वाग्मीदूतोराज्ञःप्रशस्यते ॥
अमात्येदण्ड आयत्तोदण्डे वैनयिकी क्रिया।
नृपतौ कोश राष्ट्रं च दूते सन्धिविपर्ययौ ॥
दूतएवहि संधत्ते भिनत्येव च संहतान्।
दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः ॥
स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढेङ्गितचेष्टितैः।
आकार मिङ्गितं चेष्टां भृत्येषु चचिकीर्षितम्।
बुद्ध्वा च सर्वं तत्वेन पर राज चिकीर्षितम्।
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीडयेत् ॥ अ० ७, श्लो० ६२-६८

२. जाङ्गलं सस्यसंपन्नमार्यप्रायमनाविलम्।
रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत् ॥ श्लो० ६९

वहा शत्रु आसानी से आक्रमण न कर सके। "सब दुर्गों में पहाडी दुर्ग अधिक श्रेष्ठ है। दुर्ग के भीतर रहने वाला एक धनुर्धर सौ के साथ लड सकता है और सौ, दश सहस्त्र के साथ लड सकते हैं, इसलिये दुर्ग बनाया जाता है। दुर्ग,शस्त्र, धनधान्य, बाहनो, विद्वानो, कलो के जानने वालो, कलो, चारा, जल और ईधन से समृद्ध होना चाहिये"।[1]

आगे चलकर मनु राजा के शासन सम्बन्धी कार्यो का वर्णन करते हुए बतलाते हैं कि राजा राज्य से प्रामाणिकों द्वारा वार्षिक बलि'(मालगुजारी) उगावे, लोक मे शास्त्रानुकूल चले और प्रजा के साथ पिता तुल्य वर्ताव करे। नाना प्रकार के कार्यो की देख भाल के लिए नाना प्रकार के अध्यक्ष नियुक्त करे।[2] प्रजा का पालन करता हुआ राजा,क्षत्रिय धर्म को स्मरण करता हुआ युद्ध से न हटे। सग्राम से न भागे, प्रजा का पालन करे, विद्वानो का सत्कार करे। रथ से उतरे हुए भूमि पर स्थित को, नपुसक को, हाथ जोडे हुए को, शिर के बाल खुले हुए को बैठे हुए को, 'मैं तुम्हारा हूँ ऐसा कहने वाले को, सोते हुए को, कवच उतारे हुए को नगे को, बिना हथियार वाले को, युद्ध न करने वाले को, तमाशा देखन वाले को, दूसरे से समागम करने वाले को, टूटे आयुध वाले को, आर्त को, बहुत घाव वाले को, डरपोक को, भागने वाले को, युद्ध में न मारे।[3]

धनुर्दुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा।
गिरिदुर्गं नृदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम्॥ श्लो० ७०

१. सर्वेणतु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत।
एषा हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते॥ श्लो० ७१
एकः शतं योधयति प्रकारस्थो धनुर्धरः।
शतं दश सहस्त्राणि तस्मा दुर्गं विधीयते॥ श्लो० ७४
तत्स्यादा युधसपन्नं धन धान्येन वाहनै।
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च॥ श्लो० ७५

२. सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्बलिम्।
स्याच्चाम्नाय परलोके वर्तेत पितृवन्नृपु॥ श्लो० ८०
अध्यक्षान्विविधान्कुर्यात्तत्रतत्रविपश्चित।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन् नृणा कार्याणि कुर्वताम्॥ श्लो० ८१

३. समोत्तमाधमै राजा वाहूतः पालयन्प्रजाः।
न निवर्तेत सग्रामात क्षात्रं धर्ममनुस्मरन्॥ श्लो. ८७

राजा को उचित है कि जो नहीं मिला है, उसके लेने की इच्छा करे। मिले हुए की प्रयत्न से रक्षा करे और जो रक्षित है उसको बढ़ावे और बढ़े को अच्छे योग्य पात्रों को दे। ये चार प्रकार का पुरुषार्थ प्रयोजन समझे और आलस्य रहित होकर नित्य अच्छी तरह इसका अनुष्ठान करे। जो नहीं प्राप्त है उसे दण्ड से जीतने की इच्छा करे और प्राप्त की देखने से रक्षा करे और रक्षित को व्यापार से बढ़ावे और बढ़े को दान से जमा करे। सर्वदा दण्ड व्यवस्था को उद्यत रखे और सदा करके पुरुषार्थ वाला रहे। सदा अपने समस्त अर्थों को गुप्त रखे और शत्रु के छिद्रों को सदा देखता रहे।[१] नित्य उद्यत दण्ड वाले राजा से सम्पूर्ण जगत भयभीत रहता है, इसलिए दण्ड ही से सम्पूर्ण जीवों को स्वाधीन करे। छलसे रहित व्यवहार करे और अपनी रक्षा करता हुआ शत्रु के किये छल को जानता रहे। अपने छिद्रों को शत्रु न जाने परन्तु शत्रु के छिद्रों को आप जाने, कछुए के समान राजा अपने (राज्य सम्बन्धी) अंगों को गुप्त रखे और अपने छिद्र का संरक्षण करे। अविश्वासी पर विश्वास न करे, विश्वासी पर अति विश्वास न करे, क्योंकि विश्वास उत्पन्न भय जड़ से काट देता है। बगुले के समान अर्थों का चिंतन करे और सिंह के समान पराक्रम करे वृक के समान मारे और शश के समान भाग जावे। इस प्रकार विजय प्राप्त करने वाला राजा विरोधियों को साम, दाम, भेद आदि उपायों से वश में करे, यदि इन उपायों से न माने तो दण्ड से वश में करे। पण्डित

संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् ।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥ श्लो. ८८
नायुधव्यसनं प्राप्तं नार्तंनातिपरिक्षतम् ।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ श्लो. ९३
यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः ।
भर्तुर्यद् दुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ श्लो. ९४

१ अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः ।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥ श्लो. ९९
एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थं प्रयोजनम् ।
अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः ॥ श्लो. १००
अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ।
रक्षितं वर्धयेद् वृद्ध्या वृद्धं दानेन निक्षिपेत् ॥ श्लो. १०१
नित्यमुद्यत दण्डः स्यान्नित्य विवृतपौरुषः ।
नित्यं संवृत सर्वार्थो नित्यं छिद्रानुसार्यरेः ॥ श्लो. १०२

लोग सामादि चार उपायों में सदा राज्य के वृद्धि के लिये साम और दण्ड की प्रशंसा करते हैं।[1] परन्तु जो राजा अज्ञान से बिना विचारे अपने राज्य को दुःख देता है वह शीघ्र ही राज्य तथा जीवन और बाँधवों भ्रष्ट हो जाता है। जैसे शरीर के शोषण से प्राणियों के प्राण क्षीण होते हैं वैसे ही राजाओं के भी प्राण राष्ट्र को पीडा देने से क्षीण होते हैं। इसलिये राज्य संग्रहार्थ उपाय करे क्योंकि अच्छे प्रकार सुरक्षित राष्ट्र वाला राजा सुख पूर्वक उन्नति करता है[2]

इसके पश्चात् मनु ने शासन पद्धति का वर्णन किया है। दो, तीन, पांच, तथा सौ ग्रामों के बीच में संग्रह करने वाले पुरुषों का समूह (collec-

---

१. नित्यमुद्यत दण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत् ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥ १०३
अमाययैव वर्त्तेत न कथञ्चन मायया ।
बुद्ध्येतारिप्रयुक्तांचमायां नित्य स्वसंवृत ॥ १०४
नास्यच्छिद्रं परोविद्या द्विद्याच्छिद्रं परस्यतु ।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मन ॥ १०५
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलादपि निकृन्तति ॥ (यह श्लोक कई प्रतियों में नहीं है)
बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत्
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत ॥ १०६
एवं विजयमानस्य ये अस्य स्यु परिपन्थिन ।
तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरुपक्रमै ॥ १०७
यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायै प्रथमैस्त्रिभि ।
दण्डेनैव प्रसह्यैतां शनकैर्वशमानयेत् ॥ १०८
सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डित ।
सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ॥ १०९

२. मोहाद्राजास्वराष्ट्रं य कर्षयत्यनवेक्षया ।
सोचिराद्भ्रश्यतेराज्याज्जीवितात्चसबान्धव ॥१११
शरीर कर्षणात्प्राणा क्षीयन्तेप्राणिनांयथा ।
तथा राज्ञामपि प्राणा क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥११२
राष्ट्रस्य संग्रहे नित्य विधानमिदमाचरेत ।
सुसंगृहीत राष्ट्रो हि पार्थिव सुखमेधते ॥११३

tors) स्थापित करे। एक ग्राम का अधिपति नियुक्त करे, वैसे ही दस ग्रामों का और बीस ग्रामों का और सौ का तथा सहस्र का। ग्रामादि में उत्पन्न हुए ग्रामों के दोषों का स्वयं धीरे से जानकर (यदि करने योग्य न समझे तो) दस ग्राम के अधिपति को सूचित करे। इसी प्रकार दस ग्राम वाला बीस ग्राम वाले को, बीस वाला सौ वाले को और सौ वाला सहस्र वाले को स्वयं सूचित करे। अन्न-पान ईंधनादि जो ग्राम वासियों से प्रतिदिन देने योग्य हों उनको उन उन ग्रामों पर नियुक्त रक्खे राजपुरुष ग्रहण करें।[1] यह निया कर निम्न प्रकार ग्रहण करे। दसग्राम वाला एक 'कुल'[2] का भोगग्रहण करे। बीस वाला पांच कुल का, सौ ग्राम वाला एक मध्यम ग्राम तथा सहस्र ग्राम वाला एक मध्यम नगर का भोग ग्रहण करे (अर्थात् यह उनकी जीविका हो)। उनके ग्राम सम्बन्धी तथा अन्य कार्यों को एक प्रीतिवाला राजा का (प्रतिनिधि) मंत्री आलस्य रहित होकर देखे। प्रति नगर में एक बड़े कुल का प्रधान, सेना, आदि से भय का देनेवाला और तारों में ग्रह सा तेजस्वी, कार्य का द्रष्टा नगराधिपति नियुक्त करे। वह नगराधिपति सदैव स्वयं उन समस्त ग्रामाधिपतियों के ऊपर निरीक्षण के लिये दौरा करे और राष्ट्र में उनके समाचारों को उस विषय में नियुक्त दूतों से जाने। क्योंकि रक्षा के लिये नियुक्त किये राजा के नौकर प्राय दूसरों के द्रव्य को हरण करने वाले और वञ्चक होते हैं। राजा ऐसे लोगों से प्रजा की रक्षा करे। जो पाप बुद्धि कार्यार्थियों से द्रव्य ही ग्रहण करते हैं ऐसों को राजा सर्वस्व हरण करके देश से बाहर निकाल दे।[3] राजा के कार्य में

१. द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानांमध्ये गुल्ममधिष्ठितम् तथा ग्रामशतानां च
कुर्याद्राष्ट्रस्यसंग्रहम् ॥११४॥ ग्रामस्याधिपतिंकुर्याद्दश ग्रामा पतिं तथा।
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥११५॥ ग्रामदोषान्समुत्पन्नान्
ग्रामिक शनकैः स्वयम्। शंसेद्ग्रामदशेशायद्दशेशो विंशतीशिनम् ॥११६
विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत ।
शंसेद्ग्राम शतेशस्तु सहस्र पतये स्वयम् ॥११७
यानि राज प्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः ।
अन्न पानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात् ॥११८॥

२. छै बैल का एक मध्यम हल, ऐसे दो हलों से जितनी पृथ्वी
जोती जाती है उसको 'कुल' कहते हैं ।

२. दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशीपञ्चकुलानि च ।
ग्रामं ग्राम शताध्यक्षः सहस्राधिपतिः पुरम् ॥११९

नियुक्त स्त्रियों तथा पुरुषों को उनके कार्य के अनुसार पदवी और वृत्ति निश्चित की जाय। निकृष्ट चाकर को वेतन एक पण और छः मास में दो कपड़े, एक महीने में द्रोण भर धान्य दिया जाय और उत्तम कार्य करने वाले को छः गुणा दिया जाय। क्रय, विक्रय, राह (रास्ते) का व्यय, रक्षादि का व्यय तथा उनके निर्वाह को देख कर बनियों से कर दिलाया जाय। राज्य में सदा ऐसा विचार करके कर लगाया जाय कि जिससे कार्य-कर्त्ताओं तथा राजा को उचित लाभ हो। जैसे जोंक, बछड़ा और भ्रमर धीरे धीरे अपनी खुराक खींचते हैं, वैसे ही राजा भी थोड़ा थोड़ा करके राष्ट्र से वार्षिक कर ग्रहण करे (जिससे उजाड़ न हो)। पशु और सुवर्ण के लाभ का पचासवां भाग और धान्य का आठवां, छठा वा बारहवां भाग (उपजश्रम को देखकर) राजा को ग्रहण करना चाहिये। वृक्ष, 'मांस,' मधु, घृत, गन्ध, औषधि, रस, पुष्प, मूल, फल, पत्र, शाक, तृण, चर्म, तथा मिट्टी वा पत्थर की वस्तुओं की आय का छठा भाग लेना चाहिये। राजा अपने राज्य में व्यापार

तेषां ग्राम्याणिकार्याणि पृथक्कार्याणि चैवहि ।
राज्ञो ऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥१२०

नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम् ।
उच्चैस्थानं घोर रूपं नक्षत्राणामिवग्रहम् ॥१२१

सतानपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम् ।
तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रे षु तच्चरैः ॥१२२

राज्ञोहि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः ।
भृत्या भवन्ति प्रायेणतेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥१२३

ये कार्यिकेभ्योर्थमेवगृह्णीयुः पापचेतसः ।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् ॥१२४

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्य जनस्य च ।
प्रत्यहं कल्पयेद् वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः ॥ १२५

पणोदेयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम् ।
षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्य द्रोणस्तुमासिकः ॥ १२६

क्रयविक्रय मध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् ।
योग क्षेमं च सम्प्रेक्ष्य वणिजोदापयेत्करान् ॥ १२७

यथा फलेन युज्येत राजा कर्त्ता च कर्मणाम् ।
तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान् ॥ १२८

मासों में भी कुछ थोड़ा सा वाणिज कर ले। लोहार, बढ़ई आदि दासों से राजा महीने में एक एक काम राजकर के बदले में करावे।[1]

राजा को स्वयं मनुष्यों के कार्यों की देखभाल करनी चाहिए। यदि राजा स्वयं मनुष्यों के कार्यों की देखभाल करने योग्य न हो तो मुख्य मंत्री जो धर्म का जानने वाला, बुद्धिमान, जितेन्द्रिय और कुलीन हो, उसको यह कार्य सौंपे। अपने सम्पूर्ण कर्तव्यों को इस प्रकार पूरा करके प्रमाद-रहित होकर राजा प्रजा की रक्षा करे। भृत्यों के सहित जिस राजा के देखते हुए चिल्लाती हुई प्रजा चारों ओर दुष्टों से लूटी जाती है वह राजा जीता नहीं किन्तु मरा है। प्रजा का पालन करना राजा का परम धर्म है।[2]

अगले श्लोकों में मनु ने राजा की दिनचर्या का वर्णन किया है। पहर भर रात्रि रहने पर तड़के उठकर, शौचादि से निवृत्त होकर, एकाग्रचित्त होकर, पूजा पाठ करके सभा में प्रवेश करना चाहिये। उस सभा में स्थित सम्पूर्ण एकत्र

यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः ।
तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः ॥ १२९
पंचाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः ।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा ॥ १३०
आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम् ।
गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ॥ १३१
पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च ।
मृण्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च ॥ १३२

1. यत्किंचिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम् ।
व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम् ॥ १३७
कारुकाञ्छिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः ।
एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः ॥ १३८

2. अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम् ।
स्थापयेदासने तस्मिन्खिन्नः कार्येक्षणे नृणाम् ॥ १४१
एवं सर्वं विधायेदमिति कर्तव्यमात्मनः ।
युक्तश्चैवाऽप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १४२
विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद्ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः ।
संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥ १४३
क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम् ।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥ १४४

जनो का कार्य पूरा करके उन्हे विसर्जन करके, मन्त्रियो से राज्य शासन सम्बन्धी परामर्श करे।[1] पर्वत पर चढकर वा एकान्त घर में वा वृक्षरहित वन में वा एकान्त में, जहाँ भेद लेने वाला न पहुच सके, ऐसे स्थान मे राजा मत्री से परामर्श करे। जिसके मत्र को मिलकर अन्य मनुष्य नही जान पाते वह कोशहीन राजा भी सम्पूर्ण पृथ्वी को भोगता है। जडमूक, अन्ध, बधिर, पक्षी, वृद्ध, स्त्री, म्लेच्छ, रोगी और विकृत अग वालो को मत्र के समय मे वहा से हटा दे। पूर्वोक्त जडादि अपमान को प्राप्त हुए मन्त्र भेद कर देते है। इसी प्रकार शुक, सारिकादि पक्षी और विशेषकर के स्त्री मत्रभेदक हैं, इसलिये उनको आदर पूर्वक हटा दे। दोपहर दिन में वा आधीरात को चित्त के खेद और शरीर के क्लेश से रहित होकर मन्त्रियो के साथ वा अकेला धर्म, अर्थ, काम का चिन्तन करे। यदि धर्म, अर्थ, काम परस्पर विरुद्ध हो तो इनके विरोध दोष के परिहार द्वारा उपार्जन और कन्याओ के दान और पुत्रो के रक्षण शिक्षण आदि का चिन्तन करे। पर राज्यो म दूत भेजने और शेष कामो तथा अन्त पुर में जो प्रचार हो रहा है उसका और प्रतिनिधियो के कार्य का विचार करे।[2] सम्पूर्ण 'अष्टविधि' कर्म और 'पचवर्ग' का तत्व से

---

१. उत्थायपश्चिमेयामे कृत शौच समाहित ।
हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत्सशुभासभाम् ॥ १४५
तत्र स्थित प्रजा सर्वा प्रतिनन्द्य विसर्जयेत ।
विसृज्य च प्रजा सर्वामन्त्रयेत्सह मन्त्रिभि ॥ १४६

२. गिरि पृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहो गत ।
अरण्येनि शलाके वा मन्त्रयेद विभावित ॥ १४७
यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जना ।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोपिपार्थिव ॥ १४८
जडमूकान्धबधिरांस्तिर्यग्योनान्वयोतिगान् ।
स्त्री म्लेच्छ व्याधित व्यङ्गान्मन्त्र कालेऽपसारयेत् ॥ १४९
भिन्दन्त्यवमता मन्त्रं तिर्यग्योनास्तथैव च ।
स्त्रियश्चैवविशेषेण तस्मात्तत्रादृतो भवेत् ॥ १५०
मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तोविगतक्लम ।
चिन्तयेद्धर्म कामार्थान् सार्धं तैरेक एव वा ॥ १५१
परस्पर विरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम् ।
कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥ १५२
दूत संप्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च ।
अन्त पुर प्रचारं च प्रणि धीनां च चेष्टितम् ॥ १५३

विचार करे और अमात्यादि के अनुराग विराग को जाने और 'मण्डल' के प्रचार (कौन लड़ना चाहता है और कौन संधि करना चाहता है) को विचारे। मेल, लड़ाई, शत्रु पर आक्रमण करना, उसकी राह देखना, अपने दो भाग कर लेना और दूसरे का आश्रय कर लेना, इन छ गुणों को राजा सर्वदा विचारे। आसन, यान, सन्धि, विग्रह, द्वैध और आश्रय, इन गुणों का अवसर देख कर जब जैसा उचित हो तब वैसा करे। सन्धि दो प्रकार की होती है और विग्रह भी दो प्रकार का होता है। यान, आसन और संश्रय भी दो दो प्रकार के होते हैं।[1] तत्काल व आगामी समय के फल लाभ के लिये (जहां दूसरे राजा के साथ किसी और राजा पर आक्रमण किया जाता है उसके) "समानयान कर्मा" सन्धि और ('हम इस पर आक्रमण करें, तुम उस पर करो" इस प्रकार मेल करके दो भिन्न भिन्न राजाओं पर आक्रमण करने के लिये मेल किया जाय उसको) "असमानयानकर्मा'

अष्ट विधि कर्म—भेंट या कर लेना, वेतन या पारितोषिकादि देना, दुष्टों को त्यागना, अधिकारियों के मतभेद को स्वीकार करना, बुरी प्रवृत्तियां को मना करना, व्यवहार पर दृष्टि, अपराधियों को दण्ड और पराजितों की भूल का प्रायश्चित्त करना ये आठ विधिकर्म मेधातिथि के मतानुसार हैं। उसने अन्य आठ प्रकार के निम्नलिखित विधिकर्मों की भी गणना की है—व्यापार, पुल बांधना, किले बनवाना, उनकी स्वच्छता का ध्यान, हाथी पकड़ना, खान खोदना, जंगलों को बसाना और वन कटवाना।

पञ्चवर्ग—कोई तो कर्मारम्भोपाय, पुरुष संपत्ति, हानि का प्रतिकार, देशकाल का विभाग और कार्य सिद्धि को पंचवर्ग मानते हैं और कुछ लोगों के मतानुसार कापटिक, उदासीन, वैदेह, गृहपति और तापस ये पाच 'पंचवर्ग' हैं। ये ५ प्रकार के बनावटी साधुवेष बनाये अन्य राजाओं की ओर से अन्य राजाओं का भेद जानने को फिरते हैं।

---

1. कृत्स्नं चाष्टविधिं कर्म पञ्चवर्गं च तत्त्वतः ।
अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च ॥ १२४
सधिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च ।
द्वैधीभावं संश्रयं च षड् गुणांश्चिन्तयेत्सदा ॥ १६०
आसनं चैव यानं च संधि विग्रहमेव च ।
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥
सधिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेवच ।
उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः १६१-१६२,

कहते हैं। इन दो को दो प्रकार की संधि समझनी चाहिये। शत्रु को विजय करने के लिये (शत्रु के व्यसनादि जान कर उचित मार्ग मार्गशीर्षादि) काल में वा बिना काल में स्वयं युद्ध करना एक विग्रह, और अपने मित्र के अपकार होने से उसकी रक्षा के लिये जो युद्ध किया जाता है उसे दूसरे प्रकार का विग्रह कहते हैं। अर्थसिद्धि के लिये कुछ सेना एक स्थान पर स्थापित करके शेष सेना के साथ राजा दुर्ग में रहे, यह दो प्रकार का द्वैध है। शत्रुओं से पीडित राजा को प्रयोजन की सिद्धि के लिये किसी की शरण लेना और सज्जनों के साथ व्यपदेश के लिये शरण लेना (अर्थात् बिना शत्रु पीडा भी किसी बड़े राजा का आश्रय लेना, जिससे अन्य राजाओं को उस बड़े का भय रहे) ये दो प्रकार का संश्रय कहलाता है। दैव योग से अत्यावश्यक कार्य में अकेला शत्रु पर आक्रमण करना या मित्र के साथ होकर शत्रु पर आक्रमण करना, ये दो प्रकार का "यान" (धावा) कहलाता है। पूर्व जन्म के दुष्कृत से या यहीं की बुराई से क्षीण राजा का चुपचाप बैठना, एक आसन और मित्र के अनुरोध से चुपचाप बैठे रहना, दूसरा आसन, ये दो प्रकार के आसन हैं।[1] जब भविष्य काल में निश्चय अपना आधिक्य जाने और वर्तमान समय में अल्प पीडा दिखाई दे तो सन्धि का आश्रय ले। और जब (अमात्यादि) सब प्रकृति अत्यन्त बढी हुई जाने और अपने को अत्यन्त बलिष्ठ देखे तब विग्रह करे। जब अपनी सेना हर्षयुक्त और पुष्ट दिखाई दे और शत्रु निर्बल हो तो शत्रु के सम्मुख जावे। परन्तु जब स्वयं वाहन और बल से क्षीण हो तो धीरे धीरे शत्रु को प्रयत्न से शान्त करता हुआ आसन पर ठहरा रहे। जब

---

1. समान यान कर्मा च विपरीतस्तथैव च।
तदात्वायतिसंयुक्तः संधिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः॥
स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा।
मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः॥
बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थ सिद्धये।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः॥
अर्थ संपादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः।
साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः॥
एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया।
संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते॥
क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात् पूर्वकृतेन वा।
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम्॥ १६३-१६८

युद्ध में शत्रु को प्रति बलवान समझे तो कुछ सेना के साथ राजा दुर्ग में आश्रय ले और कुछ सेना लड़ने को मोर्चे पर रखे। इन दोनों नीतियों से अपना कार्य सिद्ध करे। जब शत्रु सेना का प्रबल आक्रमण हो तो शीघ्र किसी धार्मिक बलवान राजा का आश्रय ले।[1]

जब राजा शत्रु के राज्य पर आक्रमण करे इस प्रकार धीरे-धीरे शत्रु के राज्य में गमन करे कि जैसी अपनी सेना या सैन्यबल हो उसी के अनुसार शुभ काल म राजा यात्रा करे। और यदि निश्चय जय समझे तो दूसरे कालों में भी यात्रा करे, और चाहे अपनी ओर से युद्ध ठाने चाहे शत्रु की ओर से उपद्रव उठे।[2] अपने राज्य और दुर्ग की रक्षा करके यात्रा सम्बन्धी ठीक ठीक प्रबन्ध करके आवश्यक सामान लेकर और दूतों को भली प्रकार नियत करके यात्रा करे। जल, स्थल, आकाश, तीनों प्रकार के मार्गों का शोधन करके, छः प्रकार का बल[3] लेकर संग्राम कल्प की विधि से

१. यदारगच्छेद् दायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मन ।
तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा स धि समाश्रयेत् ॥ १६६
यदा प्रकृत्या मन्येत सर्वास्तु प्रकृतिर्भृशम् ।
अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥ १७०
यदामन्येत भावेन हृष्टं बलं स्वकम् ।
परस्य विपरीत च तदा यायाद्रिपुं प्रति ॥ १७१
यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहने न बलेनच ।
तदा सीत प्रयत्नेन शनकैः सान्त्वयन्नरीन् ॥ १७२
मन्येतारि यदा राजा सर्वथा बल वत्तरम् ।
तदा द्विधा बल कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मन ॥ १७३
यदा पर बलाना तु गमनीयतमो भवेत् ।
तदा तु सश्रयेत्क्षिप्र धार्मिक बलिन नृपम् ॥ १७४

२. यदा तु यान मातिष्ठेदरिराष्ट्र प्रति प्रभु ।
तदा ऽनेन विधानेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८१
मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपति ।
फाल्गुन वाऽथ चैत्र वा मासौ प्रति यथा बलम् ॥ १८२
अन्येष्वपितु कालेषु यदा पश्येद्ध्रुवजयम् ।
तदायाया द्विगृह्यैव व्यसनेचोत्थिते रिपो ॥ १८३

३. छः प्रकार का बल यह है—१ हस्त्यारोही २ अश्वारोही, ३ रथारोही, ४ पैदल सेना, ५ कोश, और ६ नौकर चाकर।

शनै शनै शत्रु के नगर की यात्रा करे। जो मित्र छिप कर शत्रु से मिला हुआ हो अथवा जो पहले छुडाया और फिर आया हुआ नौकर हो उनसे सचेत रहे क्योंकि ये बडा दुख दे सकते हैं। दण्ड व्यूह, शकट व्यूह, वराह व्यूह, मकर व्यूह, सूची व्यूह, अथवा गरुड व्यूह के आकार मे यात्रा करे और जिस ओर भय समझे उस ओर सेना बढावे, स्वय सदैव पद्म (कमलाकार) व्यूह में रहे। सेनापति तथा सेना नायको को सब दिशाओ मे नियुक्त करे, जिस दिशा मे भय समझे उस दिशा की कल्पना पहले करे। सेना के स्तम्भ के समान दृढ प्राप्त पुरुषो को भिन्न भिन्न सज्ञाधर कर सब ओर स्थापित करे। ये ऐसे हो जो स्थान और युद्ध मे प्रवीण हो और भ्रष्ट होने वाले न हो। अल्प योद्धा हों तो उन्हें इकट्ठा करके युद्ध करावे और बहुत हो तो उन्हे फैला कर युद्ध करावे।[1] बराबर की पृथ्वी पर रथो और अश्वो से, पानी मे हाथी और नावो से, वृक्ष लताओं से घिरी पृथ्वी पर धनुषो से और कण्टकादि रहित पृथ्वी पर खड्गादि शस्त्रो से युद्ध करावे। कुरुक्षेत्र, मत्स्य देश, पाञ्चाल तथा शूरसेन देश निवासी नाटे और ऊचे मनुष्यो को युद्ध मे आगे करे, व्यूह की रचना करके उनको उत्साहित करे और शत्रुओ से युद्ध करते हुए उनकी चेष्टाओ की परीक्षा करे। शत्रुओ को घेर कर देश को उच्छिन्न करे अन्न, जल, ईधन आदि

---

१ कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथा विधि।
उपगृह्यास्पदं चैवचारान्सम्य ग्विधायच॥
संशोध्यत्रिविधं मार्गषड्विधं च बलं स्वकम्।
सांपरायिक कल्पेन यायादरिपुरं शनैः॥
शत्रु सेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत्।
गत प्रत्यागते चैव सहि कष्टतरोरिपु॥
दण्ड व्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा।
वराहमकराभ्या वा सूच्या वा गरुडेन वा॥
यतश्च भयमाशङ्केत्ततोविस्तारयेद् बलम्।
पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम्॥
सेनापति बलाध्यक्षौ सर्वादिक्षु निवेशयेत्।
यतश्च भयमाशङ्केत् प्राचीं ता कल्पयेद्दिशम्॥
गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान् कृतसंज्ञान्समन्ततः।
स्थाने युद्धे च कुशलान भीरून्निकारिणः॥
संहतान्योधयेदल्पान्कामं विस्तारयेद्बहून्।
सूच्या वज्रेण चैवैतान्व्यूहेन व्यूह्य योधयेत्॥ १८४-१९१

नष्ट करे। शहर पनाह और घेरे तोड़ कर शत्रु को निर्बल करे और रात्रि में कष्ट देवे। शत्रु के मन्त्री आदि को तोड़ कर अपनी ओर मिलावे। यदि दैव सहायक हो तो निडर युद्ध करे। और यदि हो सके तो साम, दान,भेद आदि को भी प्रयोग करे। यदि इन तीनों उपायों से जय सम्भव न हो तो जिस प्रकार शत्रु को जीत सके उस प्रकार उसे जीतने का प्रयत्न करे। पराज्य देश को विजय करके वहां देवता आदि का पूजन करके वहां जिन दीन पुरुषों की हानि हुई हो उन्हें निर्वाहार्थ कुछ दे और अभय की घोषणा करे।[1] शत्रु तथा उसके मन्त्रियों के अभिप्राय को संक्षेप से जान कर उस राजा के वंश के किसी पुत्रादि को गद्दी पर बैठादे तथा विशेष प्रकार के आदेश भी दे। कुछ धन अथवा भूकर लेकर सन्धि करके वहां से गमन करे।[2]

१. स्यन्दनाश्वैः समेयुध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥१९२
कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालाञ्शूरसेनजान्।
दीर्घांल्लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषु योजयेत् ॥१९३
प्रहर्षयेद्बलं व्यूह्य तांश्च सम्यक् परीक्षयेत्।
चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन्योधयतामपि ॥१९४
उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत्।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥१९५
भिन्द्याच्चैव तडागानि प्रकारपरिखास्तथा।
समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥१९६
उपजप्यानुपजपेद् बुध्येतैव च तत्कृतम्।
युक्ते च दैवे युध्येत जय प्रेप्सुरपेतभीः ॥१९७
साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन ॥१९८
त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसम्भवे।
तथा युध्येत संपन्नो विजयेतरिपून्यथा ॥२००
जित्वा संपूजयेद्देवान्ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान्।
प्रदद्यात्परिहारांश्च ख्यापयेदभयानि च ॥२०१

२. सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम्।
स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम् ॥ २०२
सहवापि व्रजेद्युक्तः सन्धिं कृत्वा प्रयत्नतः।
मित्रं भूमिं हिरण्यं वा संपश्यंस्त्रिविधं फलम् ॥ २०६

अगले श्लोको में मनु ने नीति संबंधी उपदेशो का वर्णन किया है "जो पराये राज्य को जय करते राजा के पीछे राज्य दबाता हुआ राजा आये उसे "पार्ष्णिग्रह" और जो उसे ऐसा करने से रोके उसे "अन्द" कहते है। इन दोनो को देखकर इनसे यथोचित व्यवहार करे । राजा सुवर्ण और भूमि को पाकर वैसा नही बढता है जैसा आगामी काल मे काम देने वाला स्थिर मित्र पाकर बढता है।। धर्मज्ञ, कृतज्ञ, प्रसन्न चित्त, प्रीति करने वाला, स्थिर कार्य का आरम्भ करने वाला छोटा मित्र अच्छा होना है। बुद्धिमान् कुलीन, शूर, चतुर, दाता, कृतज्ञ और धैर्य वाले शत्रु को विद्वान लोग कठिन कहते है। सभ्यता, मनुष्यो की जाच, शूरता, कृपालुता, और मोटी-मोटी बातो पर ऊपरी लक्ष्य रखना, यह उदासीन गुणो का उदय है। कल्याण करने वाली, सम्पूर्ण धान्यो को देने वाली और पशु वृद्धि करने वाली भूमि को भी राजा अपनी रक्षा के लिये छोड द।[1] आपत्ति के लिय धन की रक्षा करे। और धन से स्त्री की रक्षा करे तथा स्वय की स्त्री और धन से निरन्तर रक्षा करे। बहुत सी आपत्ति एक साथ उत्पन्न होती देखे तो बुद्धिमान साम, दामादि समस्त उपायो से अलग अलग वा एक साथ उसे दूर करने का प्रयत्न करे। उपाय करने वाले, उपाय के साध्य तथा उपाय, इन तीनो का ठीक ठीक आश्रय लेकर अर्थ सिद्धि की प्राप्ति करे। उक्त समस्त विषयो पर मन्त्रियो के साथ परामर्श करने के पश्चात् व्यायाम करके मध्यान्ह मे भोजन के अन्त पुर म प्रवेश करे। वहा भोजन के भेद जानने वाले, शत्रु-पक्ष में मिल जाने योग्य सेवको द्वारा बनवाया हुआ परीक्षित और विष दूर करने वाले मत्रो (गुप्त विचारो) से शुद्ध हुआ भोजन करे। सब भोज्य

1. पार्ष्णि ग्राहं च स प्रेक्ष्यतथाॅ क्रन्दं च मण्डले ।
मित्रादथाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात् ॥ २०७
हिरण्य भूमि संप्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते ।
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ॥ २०८
धर्मज्ञं कृतज्ञं च तुष्टप्रकृति मेव च ।
अनुरक्तं स्थिरारम्भ लघु मित्रं प्रशस्यते ॥ २०९
प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्ष दातारमेव च ।
कृतज्ञं धृतमन्तं च कष्टमाहुररिं बुधा ॥ २१०
आर्यता पुरपज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता ।
स्थौल लक्ष्यं च सततमुदासीन गुणोदय ॥ २११
क्षेम्यां सस्य प्रदा नित्यं पशुवृद्धि करीमपि ।
परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन् ॥ २१२

पदार्थों में विष नाश करने वाली औषधि डाले और विष दूर करने वाले रत्नों को सदा धारण करे। भोजन के पश्चात् अन्तःपुर में आगमन करे। फिर निवास ग्रह के एकान्त स्थान में शास्त्र धारण किये हुये, गुप्त समाचार कहने वाले दूतों के समाचार सुने। रात्रि का भोजन करके गाना बजाना सुनकर शयन करे,"[1] इत्यादि नीति सम्बन्धी उपदेश सप्तम अध्याय के अन्त में दिये हुये हैं।

आठवें अध्याय में मनु ने न्याय व्यवस्था का वर्णन किया है। मनु की न्याय व्यवस्था समुचित रूप से परिपूर्ण है। न्याय के प्रत्येक विभाग पर प्रकाश डाला गया है। मनु का कथन है कि "कि अष्टा दश (१८) व्यवहार के मार्गों में नियत कार्य हैं। उनको देश व्यवहार और शास्त्र द्वारा समझे हुए हेतुओं से पृथक् पृथक् नित्य विचारे। दो प्रकार के मुकद्दमे होते हैं, फौजदारी (कोई किसी की हिंसा करे) और दीवानी (किसी को देने वाली वस्तु को न दे)। अठारह प्रकार के विवाद ये हैं—(१) ऋण दान अर्थात् ऋण लेकर न देना अथवा बिना दिये मागना, (२) निक्षेप अर्थात् धरोहर,

---

१. आपदर्थं धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपिधनैरपि ॥ २१३
सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदोभृशम्।
संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान्सृजेद्बुधः ॥ २१४
उपेतार मुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः।
एतत्त्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थ सिद्धये ॥ २१५
एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य मंत्रिभिः।
व्यायाम्याप्लुत्य मध्यान्हे भोक्तुमन्तःपुरंविशेत् ॥ २१६
तत्रात्म भूतैः कालज्ञैरहार्यैः परि चारकैः।
सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः ॥ २१७
विषघ्नैरगदैश्चास्य सर्व द्रव्याणि योजयेत्।
विषघ्नानि च रत्नानि नियतो धारयेत्सदा ॥ २१८

(३) बिना स्वामी होने के बेचना, (४) साझे का व्यापार, (५) दिये को फिर लेना, (६) नौकरी का न देना, (७) इकरारनामे के विरुद्ध चलना, (८) क्रय विक्रय का विवाद, (९) पशु स्वामी और पशु पाल का विवाद, (१०) सीमा सम्बन्धी विवाद, (११) कठोर वार्त्ता कहना, (१२) मारपीट, (१३) चोरी, (१४) बलपूर्वक धनादि का हरण करना, (१५) परस्त्री का लेना, (१६) स्त्री और पुरुष के धर्म की व्यवस्था, (१७) धन का भाग, (१८) जुआ और पशुओ की लडाई मे हार जीत का दावा लगाना। ससार म ये १८ मुकद्दमे (विवाद) के कारण है।[1] जब राजा स्वय कार्य-दर्शन न कर सके तब विद्वानो को यह कार्य सौप दे। वह विद्वान् तीन सभ्य पुरुषो के साथ सभा मे प्रवेश करके राजा की दृष्टि मे कार्य करे। जिस देश में वेदो के ज्ञाता ३ विद्वान राजसभा मे रहते है और १ विद्वान राजा का अधिकार पाया हुआ रहता है, ऐसी सभा को ब्रह्मा की सभा समझना चाहिये। जिस सभा में अधर्म से धर्म को बीधा जाता है वहाँ अधर्म रूपी कांटे से वे सभासद् बिधते है। या तो सभा (कचहरी) मे जाये ही नही और यदि जाये तो सत्य बोले। कुछ न बोले या असत्य बोले तो वह पापी होता है। जिस सभा में सदस्यो के देखते हुए धर्म अधर्म से और सत्य झूठ से नष्ट होता है वहाँ के सभासद् उस पाप से नष्ट होते हैं। नष्ट हुआ धर्म ही नाश करता है और रक्षित हुआ धर्म रक्षा करता है। इसलिये धर्म को नष्ट न करना चाहिये जिससे नष्ट हुआ धर्म हमारा नाश न करे। एक धर्म ही

---

१. प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्र दृष्टैश्चहेतुभिः।
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक् पृथक ॥
हिंसां यः कुरुते कश्चिद्देयं वा न प्रयच्छति।
स्थाने ते द्वे विवादस्य भिन्नोऽष्टादशधा पुनः॥
तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः।
संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च॥
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः।
क्रयविक्रयानुशयोविवादः स्वामि पालयोः॥
सीमा विवाद धर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्री संग्रहणमेव च॥
स्त्री पुंधर्मोविभागश्च द्यूतमाह्वयएवच।
पदान्यष्टा दशैतानि व्यवहार स्थिताविह॥
मनु० अध्याय ८, श्लो० २-७

पदार्थों में विष नाश करने वाली औषधि डाले और विष दूर करने वाले रत्नों को सदा धारण करे। भोजन के पश्चात् अन्तःपुर में आगमन करे। फिर निवास ग्रह में एकान्त स्थान में शास्त्र धारण किये हुये, गुप्त समाचार कहने वाले दूतों से समाचार सुने। रात्रि का भोजन करके गाना बजाना सुनकर शयन करे,"[1] इत्यादि नीति सम्बन्धी उपदेश सप्तम अध्याय के अन्त में दिये हुये हैं।

आठवें अध्याय में मनु ने न्याय व्यवस्था का वर्णन किया है। मनु की न्याय व्यवस्था समुचित रूप से परिपूर्ण है। न्याय के प्रत्येक विभाग पर प्रकाश डाला गया है। मनु का कथन है कि "कि अष्टा दश (१८) व्यवहार के मार्गों में नियत कार्य हैं। उनको देश व्यवहार और शास्त्र द्वारा समझे हुए हेतुओं से पृथक् पृथक् नित्य विचारे। दो प्रकार के मुकद्दमे होते हैं, फौजदारी (कोई किसी की हिंसा करे) और दीवानी (किसी को देने वाली वस्तु को न दे)। अठारह प्रकार के विवाद ये हैं—(१) ऋण दान अर्थात् ऋण लेकर न देना अथवा बिना दिये मागना, (२) निक्षेप अर्थात् धरोहर,

---

१, आपदर्थं धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपिधनैरपि ॥ २१३
सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदोम्भृशम् ।
संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान्सृजेद्बुधः ॥ २१४
उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः ।
एतत्त्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थ सिद्धये ॥ २१५
एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य मंत्रिभिः ।
व्यायाम्याप्लुत्य मध्यान्हे भोक्तुमन्त पुरंविशेत् ॥ २१६
तत्रात्म भूतैः कालज्ञैरहार्यैः परि चारकैः ।
सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः ॥ २१७
विषघ्नैरगदैश्चास्य सर्व द्रव्याणि योजयेत् ।
विषघ्नानि च रत्नानि नियतो धारयेत्सदा ॥ २१८
भुक्तवान् विहरेच्चैव स्त्री भिरन्तः पुरे सह ।
विहृत्य तु यथा कालं पुन कार्याणि चिन्तयेत् ॥ २२१
संध्यां चोपास्य शृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्र भृत् ।
रहस्या ख्यायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥ २२३
तत्र भुक्त्वा पुनः किंचित्तूर्य घोषैः प्रहर्षित ।
संविशेत्तु यथा कालमुत्तिष्ठेच्च गतक्लम. ॥ २२५

(जब्त) करले। जो यह कहे कि धन मेरा है तो राजा उससे यथाविधि पूछे कि क्या स्वरूप है ? कितना है ? कैसा है ? उचित उत्तर पाने पर धन उसे दे यदि वह उस धन का स्वामी न हो तो उसे उस धन के बराबर दण्ड दिया जाय ।[1] जो पुरुष सत्य कहे कि यह धन मेरा है तो उसका छठा भाग लेकर शेष लौटा दे। यदि राजा पड़ी हुई भूमि में पुरानी निधि को पावे तो उसका आधा दान करके आधा कोश मे रखे। पुरानी निधि और सुवर्णादि के उत्पत्ति स्थानो का आधा भाग राजा को लेना चाहिये। क्योंकि भूमि की रक्षा करने के कारण वह उसका स्वामी है। जो धन चोरों ने हरण किया है उसे पाकर राजा उसके स्वामी को लौटा दे। यदि राजा स्वयं उसका भोग करेगा तो चोरी का पाप उसे लगेगा। व्यवहार (मुकद्मे) के देखने में राजा वा राज पुरुष सत्य अर्थ, साक्षी, देश, रूप, और काल को विचार करे। ऋणी से महाजन का रुपया दिलाये। यदि महाजन स्वयं अपना रुपया ऋणी से प्राप्त करे तो उस पर अभियोग न चलाये। धन के

---

१ राजाभवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासद ।
एनो गच्छति कर्त्तारं निन्दार्हो यत्रनिन्द्यते ॥ १९
बह्यै विभाव येर्लिंगैर्भावमन्तर्गतं नृणाम् ।
स्वरवर्णेङ्गिता कारैश्चक्षुपा चेष्टितेन च ॥ २५
आकारै रिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मन॥ २६
बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजानुपालयेत् ।
यावत्सस्यात्समावृत्तो यावच्चातीत शैशवः ॥ २७
वशाऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च ।
प्रतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥ २८
जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः ।
ताञ्छिष्याच्चौर दण्डेन धार्मिकः पृथ्वीपतिः ॥ २९
प्रणष्ट स्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् ।
अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ॥ ३०
ममेदमिति यो ब्रूयात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि ।
संवाद्य रूपसंख्यादीन् स्वामी तद्द्रव्यमर्हति ॥३१॥
अवेदयानो नष्टस्य देश कालं च तत्त्वत ।
वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति ॥ ३२

मित्र है, जो मरने पर भी साथ चलता है अन्य सब वस्तुएं शरीर के साथ नाश हो प्राप्त होती हैं। अधर्म का एक भाग अधर्म करने वाले को, दूसरा भाग झूठी साक्षी देने वाले को, तीसरा सभासदों को और चौथा राजा को लगता है।[1] जिस सभा में पाप कर्त्ता की ठीक ठीक निन्दा की जाती है वहां राजा और सभासद निष्पाप हो जाते हैं और अधर्म करने वाले को ही पाप लगता है। मनुष्यों के बाहरी लक्षणों (स्वर, आकृति आदि) वर्ण, आकार, चक्षु चेष्टा आदि से भीतरी अभिप्राय को समझें। आकार, इशारे, गति चेष्टा, भाषण और नेत्र, मुख के विकारों से मन का भेद जाना जाता है। बालक के दाय भाग का द्रव्य राजा तब तक (Court of Wards) पालन करे जब तक वह वयस्क तथा शिक्षित न हो जाय, वन्ध्या, अपुत्रा, पतिव्रता, विधवा, स्थिर रोगिणी आदि के द्रव्य की भी राजा को रक्षा करनी चाहिये। यदि जीवित स्त्री का धन उसके बान्धव हरण करें तो उन्हें चोर दण्ड मिले। जिसका स्वामी न हो उस धन को राजा तीन वर्ष तक रख इसके अनन्तर स्वामी का पता न लगे तो राजा उसको हरण

---

१ यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपति कार्यदर्शनम् ।
तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥ अ० ८ श्लो ९
सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृत ।
सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीन स्थित एव वा ॥ १०
यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रय ।
राज्ञश्चाधिकृतोविद्वान् ब्रह्मणस्तां सभां विदु ॥ ११
धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासद ॥ १२
सभा वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।
अब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरोभवति किल्बिषी ॥ १३
यत्र धर्मोह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासद ॥ १४
धर्म एव हतोहन्ति धर्मोरक्षति रक्षित ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मोहतोऽवधीत् ॥ १५ ॥
एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति य ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥ १७ ॥
पादोऽधर्मस्य कर्त्तारं पाद साक्षिणमृच्छति ।
पाद सभासद सर्वान् पादो राजानमृच्छति ॥ १८ ॥

(जब्त) करले। जो यह कहे कि धन मेरा है तो राजा उसमे यथाविधि पूछे कि क्या स्वरूप है ? कितना है ? कैसा है ? उचित उत्तर पाने पर धन उसे दे यदि वह उस धन का स्वामी न हो तो उसे उस धन के बराबर दण्ड दिया जाय ।[1] जो पुरुष सत्य कहे कि यह धन मेरा है तो उसका छठा भाग लेकर शेष लौटा दे। यदि राजा पड़ी हुई भूमि में पुरानी निधि को पावे तो उसका आधा दान करके आधा कोश मे रखे। पुरानी निधि और सुवर्णादि के उत्पत्ति स्थानो का आधा भाग राजा को लेना चाहिये। क्योंकि भूमि की रक्षा करने के कारण वह उसका स्वामी है। जो धन चोरों ने हरण किया है उसे पाकर राजा उसके स्वामी को लौटा दे। यदि राजा स्वय उसका भोग करेगा तो चोरी का पाप उसे लगेगा। व्यवहार (मुकद्मे) के देखने मे राजा वा राज पुरुष सत्य अर्थ, साक्षी, देश, रूप, और काल को विचार करे। ऋणी से महाजन का रुपया दिलाये। यदि महाजन स्वयं अपना रुपया ऋणी से प्राप्त करे तो उस पर अभियोग न चलाये। धन के

---

१ राजाभवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासद ।
एनो गच्छति कर्त्तारं निन्दार्हो यत्रनिन्द्यते ॥ १६
वह्यैर्विभाव येल्लिंगैर्भावमन्तर्गतं नृणाम् ।
स्वरवर्णेङ्गिता कारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥ २५
आकारै रिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः॥ २६
बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजानुपालयेत् ।
यावत्सस्यासमावृत्तो यावच्चातीत शैशवः ॥ २७
वशाऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च ।
प्रतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥ २८
जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः ।
ताञ्छिष्याच्चौर दण्डेन धार्मिकः पृथवीपतिः ॥ २९
प्रणष्ट स्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् ।
अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ॥ ३०
ममेदमिति यो ब्रूयात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि ।
संवाद्य रूपसंख्यादीन् स्वामी तद्द्रव्यमर्हति ॥३१ ॥
अवेदयानो नष्टस्य देशं कालं च तत्त्वत. ।
वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति ॥ ३२

विषय में जो ऋणी मना करे और साक्षी द्वारा वह ऋणी सिद्ध हो तो रुपये दिलाने के लिये थोड़ा दण्ड भी राजा दे सकता है ।[1]

साक्षी के विषय में मनु बतलाते हैं कि सब वर्णों में धार्मिक, विद्वान्, निष्कपटी, सब प्रकार धर्म को जानने वाले लोभ रहित सत्यवादी को न्याय-व्यवस्था में साक्षी करे, इससे विपरीतों को न करे। स्त्रियों की साक्षी स्त्री, द्विजों के द्विज, शूद्रों के शूद्र और अन्त्यजों के अन्त्यज साक्षी हों। जितने बलात्कार काम चोरी, व्यभिचार, कठोर वचन, दण्डनिपात-रूप अपराध हैं उनमें साक्षी की परीक्षा न करे और अत्यावश्यक भी न समझे क्योंकि ये काम गुप्त होते हैं। दोनों ओर के साक्षियों में से बहुपक्षानुसार तुल्य साक्षियों में उत्तम गुणी पुरुष की साक्षी के अनुकूल और दोनों के साक्षी उत्तम गुणी और तुल्य हों तो द्विजोत्तम अर्थात् ऋषि, महर्षि और यतियों की साक्षी के अनुसार न्याय करे। दो प्रकार के साक्षी होना सिद्ध होता है, एक साक्षात् देखने वाला और दूसरा सुनने वाला, जब सभा पूछे तो जो साक्षी सत्य बोलें वे धर्महीन और दण्ड के योग्य न हों और जो साक्षी मिथ्या बोलें वे

---

1 ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः ।
तस्याददीत षड् भागं राजा द्वादशमेव वा ॥ ३५
निधीनां तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ ।
अर्धभाग्रक्षणाद्राजा भूमेरधिपतिर्हि सः ॥ ३९ ॥
दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राज्ञा चौरैर्हृतं धनम् ।
राजा तदुपयुञ्जानः चौरस्याप्नोति किल्बिषम् ॥ ४०
सत्यमर्थं च संपश्येदात्मानमथ साक्षिणः ।
देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः ॥ ४५
अधमर्णार्थसिद्ध्यर्थमुत्तमर्णेन चोदितः ।
दापयेद्धनिकस्यार्थमधमर्णाद्विभावितम् ॥ ४७
यैर्यैरुपायैरर्थं स्वं प्राप्नुयादुत्तमर्णिकः ।
तैस्तैरुपायैः संगृह्य दापयेदधमर्णिकम् ॥ ४८ ॥
धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च ।
प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च ॥ ४९ ॥
यः स्वयं साधयेदर्थमुत्तमर्णोऽधमर्णिकात् ।
न स राज्ञाभियोक्तव्यः स्वकं संसाधयन्धनम् ॥ ५०
अर्थेऽपव्ययमानं तु करणेन विभावितम् ।
दापयेद्धनिकस्यार्थं दण्डलेशं च शक्तितः ॥ ५१

यथायोग्य दण्डनीय हो। जो राजसभा वा किसी उत्तम पुरुषों की सभा में साक्षी देखने और सुनने से विरुद्ध बोले तो वह (अवाड्नरक) जिह्वा के छेदन से दुःख रूप नरक को वर्त्तमान समय में प्राप्त हो और मृत्यु के पश्चात् सुख से हीन हो जाय।[1] साक्षी के उस वचन को मानना चाहिये जो स्वभाव ही से व्यवहार सम्बन्धी बोले और जो इससे भिन्न सिखाये हुए बोले उसे न्यायाधीश व्यर्थ समझे। जब अर्थी (वादी) और प्रत्यर्थी (प्रतिवादी) के सामने सभा के समीप प्राप्त हुए साक्षियों को शान्तिपूर्वक न्यायाधीश और प्राड्विवाक (वकील) इस प्रकार से पूछे कि "हे साक्षी लोगो! इस कार्य में इन दोनों के परस्पर कर्मों में जो तुम जानते हो उसको सत्य के साथ कहो क्योंकि तुम्हारी इस कार्य में साक्षी है। जो साक्षी सत्य बोलता है वह जन्मान्तर में उत्तम जन्म और उत्तम लोकान्तरों में जन्म को प्राप्त होकर सुख भोगता है। इस जन्म व पर-जन्म में उत्तम कीर्त्ति को प्राप्त होता है क्योंकि जो यह वाणी है वही वेदों में सत्कार और तिरस्कार का कारण लिखी है। जो सत्य बोलता है वह प्रतिष्ठित और मिथ्यावादी निन्दित होता है। सत्य बोलने से साक्षी पवित्र होता है, सत्य बोलने से ही धर्म भी बढ़ता है। इससे सब वर्णों में साक्षियों को सत्य ही बोलना चाहिये। आत्मा की साक्षी आत्मा और आत्मा की गति आत्मा है, इसको जानकर हे पुरुष! तू सब मनुष्यों का उत्तम साक्षी अपने आत्मा का अपमान मत कर अर्थात् सत्य भाषण जो कि तेरे आत्मा, मन, वाणी में है वह सत्य और जो इससे विपरीत है वह मिथ्या

1. आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्य्याः कार्य्येषु साक्षिणः।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत॥ ६३
स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशाद्विजाः
शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः॥ ६८
साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसङ्ग्रहणेषु च।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः॥ ७२
बहुत्वं परिगृह्णीयात्साक्षिद्वैधे नराधिप।
समेषु तु गुणोत्कृष्टान् गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान्॥ ७३
समक्ष दर्शनात्साक्ष्य श्रवणाच्चैव सिद्ध्यति।
तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते॥ ७४
साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्य्यसंसदि।
अवाङ्नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते॥ ७५

भाषण है। जिस बोलते हुए पुरुष का विद्वान् क्षेत्रज्ञ अर्थात् शरीर का जानने वाला आत्मा भीतर शंका को प्राप्त नहीं होता उससे भिन्न विद्वान् लोग किसी को उत्तम पुरुष नहीं जानते।[1] हे कल्याण की इच्छा करने वाले पुरुष! जो तू "मैं अकेला हूं" ऐसा अपने आत्मा में जानकर मिथ्या बोलता है सो ठीक नहीं है। किन्तु जो दूसरा तेरे हृदय में अन्तर्यामी रूप से ईश्वर पुण्य पाप का देने वाला मुनि स्थित है उस ईश्वर से डरकर सदैव सत्य बोला कर"।[2]

अगले श्लोकों में मनु ने साक्षी के भेद तथा भिन्न अपराधों के लिये दण्ड व्यवस्था का वर्णन किया है। जो लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध, अज्ञान और बालकपन से साक्षी दे वह सब मिथ्या समझी जाय। इनमें से किसी स्थान में साक्षी झूठ बोले उसको वक्ष्यमाण अनेक प्रकार का दण्ड दें। जो लोभ से झूठी साक्षी दे उससे १५॥=) दण्ड ले, जो मोह से झूठी साक्षी दे, उससे ३=) दण्ड ले, जो भय से मिथ्या साक्षी दे उससे ६।), जो मित्रता से झूठी साक्षी दे उससे १२॥), जो पुरुष कामना से मिथ्या साक्षी दे उससे २५), जो क्रोध से मिथ्या साक्षी दे उससे ४६॥।=), जो अज्ञानता से झूठी साक्षी दे उससे ६) और बालकपन से मिथ्या साक्षी दे उससे १॥-) दण्ड ले। दण्ड के उपस्थेन्द्रिय,

---

1. स्वभावेनैव यद् ब्रूयुस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम्।
 अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम्। ७८
 सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ।
 प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिनाऽनेन सान्त्वयन्॥ ७९
 यद् द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिन् चेष्टितं मिथः।
 तद् ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता॥ ८०
 सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान्।
 इहचानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता॥ ८१
 सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्द्धते।
 तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः॥ ८३
 आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः।
 मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ८४
 यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते।
 तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः॥ ९६
2. एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे।
 नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः॥ ९१

उदर, जिह्वा, हाथ, पैर, आँख, नाक, कान, धन और देह ये दश स्थान हैं। जिन पर दण्ड दिया जाता है। परन्तु जो जो दण्ड लिखा है और आगे लिखेंगे, उनमे निर्धन से आधा, धनाढ्य से दूना तिगुना चौगुना तक ले, देश, काल और पुरुष का विचार करके अपराधानुसार दण्ड दे।[1] क्योकि इस संसार में अधर्म से दण्ड करना, पूर्वप्रतिष्ठा, वर्त्तमान और भविष्य और पर जन्म में होने वाली कीर्ति का नाश करना है इसलिये अधर्मयुक्त दण्ड किसी पर न करे। जो राजा दण्डनीयो को दण्ड नही देता वह जीवित रहता हुआ बडी निन्दा को और मरने के बाद बडे दुःख को प्राप्त होता है। प्रथम वाणी का दण्ड अर्थात् उसकी निन्दा करना, दूसरा "धिक्" दण्ड अर्थात् उसको धिक्कारना, तीसरा उससे धन लेना, और चौथा "वध" दण्ड अर्थात् उसको कोडा बेंत, कारावास वा शिरच्छेदन का दण्ड देना चाहिये।[2] जिस प्रकार जिस जिस अंग से मनुष्य विरुद्ध चेष्टा करे उस उस अंग को राजा मनुष्यो को शिक्षा देने के लिये छेदन वा हरण करे। चाहे पिता, आचार्य, मित्र, स्त्री, पुत्र और पुरोहित ही क्यो न हो, जो स्वधर्म मे स्थित नही रहता वह राजा का

---

१. लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्कामात् क्रोधात्तथैव च।
अज्ञानाद् बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥ ११८
एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत्।
तस्य दण्डविशेषास्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ११९
लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वन्तु साहसम्।
भयाद्द्वौ मध्यमौ दण्ड्यौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥ १२०
कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम।
अज्ञानाद् द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु ॥ १२१
उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पंचमम्।
चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनदेहस्तथैव च ॥ १२५
अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः।
साराऽपराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥ १२६

२. अधर्मं दण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम्।
अस्वर्ग्यञ्च परत्रापि तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ १२७
अदण्ड्यान्दण्डयन राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥ १२८
वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदन्तरम्।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥ १२९

अदण्ड्य नहीं होता अर्थात् जब राजा न्यायासन पर बैठकर न्याय करे तब किसी का पक्षपात न करे किन्तु यथोचित दण्ड दे। जिस अपराध में साधारण मनुष्य पर एक पैसा दण्ड हो उसी अपराध में राजा को सहस्र पैसा दण्ड हो, अर्थात् साधारण मनुष्य से राजा को सहस्र गुणा दण्ड मिलना चाहिये, मन्त्री को आठ सौ गुणा, उससे न्यून को उससे कम इस प्रकार सबसे छोटे राजकीय कर्मचारी अथवा चपरासी को आठ गुणा दण्ड से कम नहीं होना चाहिये। क्योंकि यदि प्रजापुरुषों से राजपुरुषों को अधिक दण्ड न मिलेगा तो राजपुरुष प्रजा पुरुषों का नाश कर देंगे जैसे सिंह अधिक और बकरी थोड़े दण्ड से वश में आती है।[1] इसी प्रकार जो कुछ विवेकी होकर चोरी करे उस शूद्र को चोरी से ८ गुणा, वैश्य को १६ गुणा, क्षत्रिय को ३० गुणा, और ब्राह्मण को चौंसठवां, सौ वां, या १२८ गुणा दण्ड मिलना चाहिये अर्थात् जिसका जितना ज्ञान और जितनी प्रतिष्ठा अधिक हो उसको अपराध में उतना ही अधिक दण्ड मिलना चाहिये। राज्य के अधिकारी धर्म और ऐश्वर्य की इच्छा करने वाला राजा बलात्कार काम करने वाले डाकुओं को दण्ड देने में एक क्षण भी देर न करे। बलात्कार करने वाला पुरुष, गाली देने वाले, चोर तथा बिना अपराध दण्ड देने वाले से भी अधिक पापी है। जो राजा "साहस" (जबर्दस्ती) करने वाले को क्षमा करता है वह शीघ्र विनाश तथा लोगों में द्वेष को प्राप्त होता है और राज्य में द्वेष उठाता है। मित्रता विचार करके अथवा पुष्कल धन प्राप्त होने पर भी राजा 'साहसी" (बलात्कार करने वाले) को न छोड़ और उसे अवश्य दण्ड दे। चाहे गुरु हो, चाहे पुत्रादि बालक हो चाहे पिता आदि वृद्ध, चाहे ब्राह्मण और चाहे बहुत से शास्त्रों का ज्ञाता क्यों न हो जो धर्म को छोड़ अधर्म में वर्तमान दूसरे को बिना अपराध मारने वाले हैं उनको बिना विचारे मार डालना चाहिए। दुष्ट पुरुषों को मारने में हन्ता को पाप नहीं लगता।[2]

---

१. येनयेन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते।
तत्तदेव हरेदस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः॥ ३२४
पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः।
नाऽदण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति॥ ३२५
कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा॥ ३३६

२. अष्टापाद्यन्तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम्।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत् क्षत्रियस्य च ३३७
ब्राह्मणस्य चतुः षष्टिः पूर्णं वापि शतं भवेत्।
द्विगुणा वा चतुः षष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः॥ ३३८

जिस राजा के राज्य में न चोर, न परस्त्री गामी, न दुष्ट वचन बोलने वाला, न साहसिक (बलात्कार करने वाला), डाकू और न राजा की आज्ञा भंग करने वाला है वह राजा श्रेष्ठ है। जो स्त्री अपनी जाति गुण के अभिमान से पति को छोड़ व्यभिचार करे उसको बहुत स्त्री पुरुषों के सामने जीती हुई कुत्तों से राजा कटवा कर मरवा डाले। उसी प्रकार अपनी स्त्री को छोड़कर जो पुरुष परस्त्री वा वेश्या गमन करे, उस पापी को लोहे के पलंग को अग्नि से तपाकर लाल करके उस पर सुला के जीते हुए को बहुत पुरुषों के सन्मुख भस्म करवा दे। राजा के जो प्रसिद्ध निज विक्रेय द्रव्य (controlled articles) हैं और जो राजा ने बेचने से निषेध किये हुए (licensed) हैं उनको लोभ के कारण और स्थानों में ले जाकर बेचने वालों का सर्वस्व हरण राजा को कर लेना चाहिये। चुङ्गी से चुराकर माल ले जाने वाले, बे समय लाभ उठाकर बचने वाले और गिनती व तोल में झूठ बोलने वाले से राजा राज्य कर का आठ गुणा ले, अथवा जितना झूठ बोला हो उसका आठ गुणा दण्ड ले। आने जाने का व्यय तथा वृद्धि और क्षय को विचार कर समस्त वस्तुओं का भाव करावे। पाँच पाँच दिन अथवा प्रति पक्ष (१५ दिन) के भाव राजा प्रत्यक्ष नियत करावे। देश देशान्तर, द्वीपद्वीपान्तरों में नौका में जाने वाली अपनी प्रजा की सर्वत्र रक्षा करे।[1]

ऐन्द्रं स्थानमभि प्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम्।
नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम्॥ ३४४
वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसत।
साहसस्य नरः कर्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः॥ ३४५
साहसे वर्त्तमानन्तु यो मर्षयति पार्थिवः।
स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति॥ ३४६
नमित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात्।
समुत्सृजेत् साहसिकान्सर्वभूतभयावहान्॥ ३४७
गुरुं वा बाल वृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवा विचारयन्॥ ३५०
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तन्मन्युमृच्छति॥ ३५१

1. यस्य स्तेन पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्।
न साहसिक दण्डघ्नौ स राजा शक्र लोक भाक्॥ ३८६
भर्तारं लङ्घयेद्यातुस्त्री ज्ञाति गुणदर्पिता।
तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहु संस्थिते॥ ३७१

मनु ने नवें अध्याय में निम्नलिखित विषयों का वर्णन किया है :—

(१) स्त्री पुरुष के धर्म, उनके दोष व गुण, सन्तानोत्पत्ति संबंधी नियम।

(२) नियोग, कन्यादान, स्वयंवर, कन्या विक्रय निषेध, दाय भाग।

(३) दो स्त्रियों में उत्पन्न पुत्रों के ज्येष्ठ भागादि का निर्णय, अपुत्र की पुत्रिका विधान।

(४) पुत्र पुत्री की बराबरी, माता का धन पुत्री ले, धेवते का भाग, पुत्रिका के पुत्र और निज पुत्र में समता, पुत्रिका का पुत्र न हो तो जामाता धन पावे।

(५) नियुक्ता पुत्र के भाग, असवर्णा विवाह जनित सन्तानों के भागादि।

(६) भाइयों में एक ही सन्तान से सबका सपुत्रत्व, कई स्त्रियों में एक पुत्र हो तो सबका सपुत्रीत्व, पुत्रों में नीचोच्चत्व से भाग भेद, अपुत्र के मरने पर दायभागी, जिस अपुत्र का दाय राजा ले आदि।

(७) स्त्री धन के अन्य निर्णय।

(८) द्यूत और समाह्वय का भेद, रिश्वतखोरी, छल से शासन करने वालों, प्रजा दूषकों को दण्ड, अपील अस्वीकार करना, स्वीकार करना, अन्याय-पूर्वक निर्णयकारी अमात्यादि को दण्ड और फिर से मुकद्दमा करना, महापातकियों को दण्ड, उस दन्ड धन से राजा क्या करे, अवध्यादि से राजा का बचना, विवादों का उपसंहार इत्यादि।

(९) राजा को न्यायपूर्वक प्रजा रक्षा करते हुए राज्य वृद्धि के उपाय, प्रकाश और अप्रकाश दो प्रकार के तस्कर, उनका पता लगाना,

---

पुमांस दाहयेत्पापं शयने तप्त आयसे।
अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत ॥ ३७२

राज्ञः प्रख्यात भाण्डानि प्रतिषिद्धानि यानि च।
तानि निर्हरतो लोभात्सर्वहारं हरेन्नृप ॥ ३९९

शुल्कस्थाने परिहरन्नकाले क्रय विक्रयी।
मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्ट गुणमत्ययम्। ४००

आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ।
विचार्य सर्व पण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ ॥ ४०१

पंचरात्रे पंचरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते।
कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घ संस्थापनं नृप ॥ ४०२

दीर्घाध्वनि यथा देशं यथा कालतरो भवेत्।
नदी तीरेषु तद्विद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥ ४०६

सभा, प्याऊ, चौराहे आदि पर चौकी स्थापित करना, वहां तस्करो का निग्रह दमन और दण्ड, माल सहित चोरो को दण्ड देना, चोरो के सहायको का निग्रह, स्वधर्म त्याग को दण्ड, यथाशक्ति राजा की सहायता न करने वालो को ग्राम घातादि मे दण्ड, राजकोष के चोरो, सेंध लगाने वालो, आग लगाने वालो, जलभेदकों इत्यादि की दण्ड व्यवस्था।

(१०) तडागादि के जलचोर, राजमार्ग मे मैला, कूडा-करकट फेंकने वाले, चिकित्सक, पुल आदि तोडने वाले, बराबर के मूल्य से घटिया वस्तु देने वाले, इत्यादि की भिन्न-भिन्न दण्ड व्यवस्था ।

(११) जेल, कारावास मार्ग पर बनवाना, चहारदीवारी तोडने वाले, मारणादि प्रयोग करने वाले, चोर सुनार, खेती का सामान चुराने वाले, शस्त्र व औषधि के चोर आदि को दण्ड।

(१२) स्वामी अमात्यादि ७ प्रकृति, चार (गुप्तदूत) आदि रखना।

(१३) राजा का शासन, राजा का वानप्रस्थ, राजधर्म का उपसंहार इत्यादि।

दसवे अध्याय में निम्नलिखित विषयो का वर्णन है—

(१) चारो वर्ण तथा जाति कर्म, वर्णसंकर आदि।

(२) अनार्य, आर्य कर्मी, षट्कर्मादि और आपद्धर्म।

(३) प्रतिग्रह की निन्दा आदि।

११ वें अध्याय मे निम्न विषयो का वर्णन है—

(१) नव प्रकार के स्नातक धर्म-भिक्षु, राजा को उनका सत्कार करना।

(२) देव धन, असुर धन, अनापद् में आपत्कर्म की निन्दा।

(३) प्रायश्चित्त विचार।

(४) गोवधादि उपपातो की गणना, भ्रूणहत्या, सुवर्ण की चोरी।

(५) भक्ष्याभक्ष विचार।

(६) धान्यादि चुराने, मनुष्य हरण, अगम्यागमन, पतितो से मेल सवासादि विचार।

(७) व्रतियो तथा वेदाभ्यासियों के नियमो का वर्णन।

१२ वें अध्याय में निम्न विषयो का वर्णन है—

(१) कर्म का प्रवर्त्तक मन है, मन, वचन, देह के कार्य, तीनो का भोग-साधन, फल, योनि, संयमी की सिद्धि क्षेत्रज्ञ, और भूतात्मा, जीव, शरीरोत्पत्ति का वर्णन।

(२) यमयातना, भोग, फिर मात्राओं में लय, उन्नति, स्वर्ग प्राप्ति,

नरक, आत्मधर्म में ही मन लगाना, सत्वादि तीन गुण, समस्त भूतों का गुणों से व्याप्त होना।

(३) तीन गुणों की पहचान, तीनों गुणों की और तीन गति, किस कर्म से क्या योनि मिलती है। उनके प्रकार हुए।

(४) वेदाभ्यासादि नैश्रेयस कर्मों का वर्णन, प्रवृत्ति निवृत्ति मार्ग, सब और विद्या का फल।

(५) विद्वानों की सभा। पूर्ण निर्धारित, धर्माभास का दुष्ट फल, धर्मानुरागी की मुक्ति, शास्त्र सार आदि।

शुक्रनीति—मनु के पश्चात् शुक्राचार्य हुए हैं। मनु आदि महर्षियों ने जो उपदेश किया है उसे शुक्राचार्य ने अपनी शुक्रनीति में वर्णन किया है। इन महर्षियों का कथन है कि राजा के बिना क्षणमात्र भी इस संसार का व्यवहार नहीं चल सकता है। राजा किस प्रकार प्रजा का संरक्षण करे, प्रजा के पालन में किन किन नियमों की आवश्यकता है इन सब बातों का वर्णन शुक्राचार्य ने शुक्रनीति में किया है। शुक्रनीति में चार अध्याय और २८५२ श्लोक हैं। प्रथम अध्याय में "राजकृत्य कथन" है। इसमें नीति शास्त्राभ्यास की आवश्यकता, राजा का धर्म, राजदण्ड, राजा के सात गुण व लक्षण, राज्य के सात अंग, राजा के दुर्गुण, ग्राम नगर व राजधानी का बनाना, राजगृहनिर्माण, राजसभा, मंत्री आदि, शासन पद्धति आदि का वर्णन है।

द्वितीय अध्याय में युवराजादि कृत्य कथन है। इस अध्याय में राजा का प्रजा के साथ व्यवहार, राजा के सहायकों की आवश्यकता तथा उनके गुण, युवराज के अधिकार, युवराज का धर्म, मंत्री आदि के कर्तव्य, उनके लक्षण, राज्य की दश प्रकृतियों का वर्णन, भिन्न भिन्न शासक वर्ग—दण्डाधिपति, सेनाधिपति, कोषाध्यक्ष आदि सभासद के लक्षण, न्यायालय, भृत्यवर्ग, राजसभा का शिष्टाचार, राजा को उपदेश, राजा का त्रिविध वर्णन, भिन्न भिन्न प्रकार लेख—जयपत्र, आज्ञापत्र, प्रज्ञापन पत्र, शासनपत्र, प्रसादपत्र, भोगपत्र, दान पत्रादि, दो प्रकार के व्यय, तीन प्रकार का सञ्चय, आय व्यय लेखन तथा राजमुद्रा आदि विषयों का वर्णन है।

तृतीय अध्याय में "साधारण नीति शास्त्र कथन" है। इस अध्याय में लोकहित सम्बन्धी विषयों का वर्णन है, सुख का आधार धर्म, दस प्रकार का पाप, जन साधारण को परस्पर कैसा व्यवहार करना चाहिये, इन्द्रियों को वश में करना, राजादि सद्धर्म में दूषण न लगाना, राजा को प्रजा के साथ व्यवहार सम्बन्धी उपदेश, राजा की सेवा, छः त्याज्य दोष, करने तथा न करने योग्य बातें, विद्यादि का फल, राजादिकों का आज्ञाभंग निषेध, देशाटन

के लाभ, श्रुति आदि का अभ्यास, बिना लिखे व्यवहार का निषेध, ऋण-ब्याज, दान, धर्म, मनुष्यों का भूषण, नररूपधारी पशु का लक्षण, दुख का कारण, मूर्ख मनुष्यों का कृत्य, भिन्न भिन्न प्रकार की जीविकोपार्जन सम्बन्धी वृत्ति, राजसेवा, कुमन्त्री से राजा की हानि, राजा को देशाटन सम्बन्धी उपदेश, व्यवहार ज्ञान के प्रत्यक्षादि चार प्रमाण आदि विषयों का वर्णन है।

चतुर्थ अध्याय में "मिश्र प्रकरण कथन" है। इस अध्याय में चार प्रकार के मित्र वा शत्रु, मित्रामित्रों के लक्षण, प्रजा का साम, दान से पालन करना, युग प्रवर्त्तक राजा, पापी राजा के राज्य की दशा, राजा को क्रोध लोभादि त्यागने का आदेश, उत्तम राजा के लक्षण, अपराधो के भेद और उनकी परीक्षा, दण्डविधि, रत्नादि के भेद तथा लक्षण, सुवर्ण आदि सात धातुओं का वर्णन, कर प्राप्त करने की विधि, चारो वर्णों के कर्म, ३२ विद्या और ३४ कलाओं के लक्षण, वद तथा उनके अग, शास्त्रादि, गृहनिर्माण तथा वाहन विचार, राजा तथा प्राड्विवाक के कार्य, सभा म राजा का कृत्य, व्यवहार विचार साक्षी का कृत्य, प्रतिभू के लक्षण आठ प्रकार का निर्णय, दुर्ग प्रकरण, सैन्य प्रकरण, पशुओं के शुभ तथा अशुभ लक्षण, अस्त्र शस्त्रादि का लक्षण और भेद, तोप बदूक, गोला बारूद आदि बनाना तथा प्रयोग करने की विधि, युद्ध के भेद तथा लक्षण, सधि के लक्षण, व्यूह आदि, विषयो का वर्णन है।

शुक्राचार्य का कथन है कि राजा के दो परम धर्म है, एक प्रजा का पालन और दूसरा दुष्टो का नाश, परन्तु यह दोनो नीति के बिना नही हो सकते इसलिये राजा को नीतिशास्त्र का यत्न से अभ्यास करना चाहिये क्योंकि नीति स ही धर्म, अर्थ काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है और इस नीति शास्त्र मे ही सम्पूर्ण जगत का उपकार और मर्यादा का पालन होता है। जिस राजा के दल, सेना, मन्त्री आदि म परस्पर भेद होता है वह राजा नीति नही जानता है क्योंकि नीति जानने वाले राजा के राज्य मे ऐसा कदापि नही हो सकता।[1]

---

१. सर्वोपजीवक लोकस्थिति कृन्नीति शास्त्रकम्।
धर्मार्थ काम मूल हि स्मृतमोक्ष प्रद यत ॥ अ० १ श्लो० ५
अत सदानीति शास्त्रमभ्यसेद्यत्न तो नृप ।
यद्विज्ञानान्नृपाद्याश्च शत्रु जिल्लोकरजका ॥ ६
नृपस्य परमोधर्म प्रजानापरिपालनम्।
दुष्ट निग्रहण नित्यंननीत्यार्नाविनाह्य भे ॥ १४

शुक्राचार्य ने राज्य के सात अंग बतलाये हैं। क्रमशः वे अंग ये हैं (१) राजा, (२) मंत्री, (३) मित्र, (४) कोष, (५) देश, (६) दुर्ग, और (७) सेना। इनमें राजा को राज्य का प्रधान अंग बतलाया है। इन सातों अंगों का वर्णन क्रमशः इस प्रकार है।[1]

१. राजा—जैसा कि मनुस्मृति में कहा गया है शुक्राचार्य के मतानुसार भी राजा इन्द्र, पवन, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र, कुबेर आदि देवताओं का अंश है। समस्त प्रजा का रक्षक होने के कारण राजा को इन्द्र, सत् और असत् कर्मों का प्रेरक होने के कारण पवन, तेजस्वी होने के कारण सूर्य, दुष्टों को दण्ड देने वाला होने के कारण यम, शुद्ध होने के कारण अग्नि, सुखदायक होने के कारण चन्द्र, जल के समान सब का पोषक होने के कारण वरुण और धन की रक्षा करने के कारण वरुण की उपमा दी गई है। राजा सात गुणों से युक्त होता है, वे सात गुण ये हैं (१) पिता (२) माता, (३) गुरु, (४) भ्राता, (५) बन्धु, (६) कुबेर, और (७) यम, अर्थात् राजा पिता और माता के समान प्रजा का पालन पोषण करता है, गुरु के समान उत्तम विद्या सिखाने के प्रयत्न करता है, बन्धु के समान प्रजा की सहायता करता है, कुबेर के समान संकट के समय प्रजा की धन से सहायता करता है और यमराज के समान दुष्टों को दण्ड देता है। श्रेष्ठ बुद्धिमान् और उत्तम राजा में ये सातों गुण होते हैं इसलिए राजा को इन सातों गुणों का कभी परित्याग नहीं करना चाहिए। जिस राजा में इनके विपरीत गुण हैं वह राजा राक्षसों का अंश होता है और उसी अंश के उसके सहायक होते हैं।[2] राजा को

भिन्नं राष्ट्र बल भिन्न भिन्नोऽमात्यादिको गण ।
अकौशल्य नृपस्यैतदनीतेर्यस्य सर्वदा ॥ १६

१. स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानिच ।
सप्तागमुच्यते राज्य तत्र मूर्धानृप स्मृत ॥ अ० १ श्लो० ६१

२ इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्चवरुणस्यच ।
चन्द्र वित्तेशयोश्चापि मात्रानिर्हृत्यशाश्वती ॥ ७१
पिता माता गुरुर्भ्राताबन्धुर्वैश्रवणोयम ।
नित्य सप्तगुणैरेषा युक्तो राजा न चान्यथा ॥ ७७
प्रवृद्धिमति स राज्ञिनित्यस्ति गुणा अमी ।
एते सप्त गुणा राजानहातव्या कदाचन ॥ ८१
विपरीतस्तुरक्षोंश सवैनरकगोजन ।
नृपाश सदृशोनियंतत्सहायगण किल ॥ ८६

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, इन पाचों विषयों को छोड़ना चाहिये क्योंकि इन मे एक केवल एक ही विषय नाश का कारण होता है।[1] मृग गीत पर मोहित होने से, पकड़ा जाता है, हस्तिनी के कारण हाथी पकड़ा जाता है, दीपक के रूप पर मोहित होकर पतंगे भस्म हो जाते हैं, मछली खाने के लालच में पकड़ी जाती हैं, भ्रमर गंध के लोभ से कमल मे बिंध जाता है। केवल एक ही विषय नाश करने के लिये पर्याप्त होता है जिसमे पाचों विषयो का लालच होगा तो वह अवश्य नाश को प्राप्त होगा।[2] राजा को परस्त्री गमन में, अन्य के धन मे, और अपनी प्रजा के दण्ड मे क्रमश काम, लोभ और क्रोध का धारण नही करना चाहिये लेकिन प्रजा के पालन म सेना की धारणा में और शत्रुओं के नष्ट करने मे राजा को क्रम से कामना, लोभ और क्रोध अवश्य करना चाहिये।[3]

शुक्रनीति म राजाओं का आठ प्रकार का आचरण बतलाया है, (१) दुष्टों को दण्ड देना, (२) प्रजा का पालन करना (३) राजसूय यज्ञ करना, (४) न्याय से कोष की वृद्धि करना, (५) राजाओं से कर लेना, (६) स्व-राष्ट्र की उन्नति करना, (७) शत्रुओं का नाश करना और (८) भूमि का सम्पादन करना।[4] शुक्राचार्य का कथन है कि राजा को सदैव यह जान कर धर्म में तत्पर रहना चाहिये कि यौवन, जीवन, वित्त छाया, लक्ष्मी और स्वामिता ये छै वस्तुएं चचल हैं।[5] काम क्रोध, मोह, लोभ, मान, मद, इन

१. शब्द स्पर्शश्च रूपं च रसोगंधश्च पंचमः ।
एकै कस्त्वलमेतेषां विनाश प्रतिपत्तये ॥ अ० १ श्लो० १०१

२. एकैक शोविनिघ्नन्तिविषयाविषसन्निभा ।
कि पुन पंच मिलिता न कथं नाशयन्तिहि ॥ १०७

३. काम प्रजा पालने च क्रोध शत्रु निग्रहणे ।
सेना संधारणे लोभो योज्यो राज्ञजयार्थिना ॥ ११७
परस्त्री संगमे कामो लोभो नान्य धनेषु च ।
स्वप्रजा दंडने क्रोधो नैव धार्यो नृपै कदा ॥ ११८

४. दुष्ट निग्रहणं दान प्रजाया परिपालनम् ।
यजनंराजसूयादे कोशानान्यायतोर्जनम् ॥ १२३
करदी करणं राज्ञां परिपुरिणामरिमर्दनम् ।
भूरिरूपार्जनं भूयो राज वृत्तं तुचाष्टदा ॥ १२४

५. यौवनं जीवितं चित्तं छाया लक्ष्मीश्च स्वामिता ।
चञ्चलानि षडेतानि ज्ञात्वा धर्म रतो भवेत् ॥ १२८

६ बातों को राजा को त्यागना चाहिये। जो राजा बलवान बुद्धिमान शूरवीर और पराक्रमी होता है वही राज्य को भोगता है।[1]

"प्रात और घटी रात्रि में उठकर राजा को यह देखना चाहिये कि कोष में कितना आय व्यय हुआ है? और प्रति दिन का व्यय निश्चय करके उतना धन कोष से निकाले, तत्पश्चात् नित्य कर्म से निश्चिन्त होकर चार मुहूर्त (आठ घडी) आय व्यय का कार्य करके मित्रों के साथ भोजन करके एक मुहूर्त स्वस्थ्य चित्त रहे। फिर पुरानी और नई वस्तुओं का एक मुहूर्त निरीक्षण करके वकीलों से परामर्श करे। दो मुहूर्त मृगया, एक मुहूर्त कवायद करके सायंकाल सध्या आदि एक मुहूर्त करे। फिर एक मुहूर्त भोजन आदि में व्यतीत करके दो मुहूर्त मत्रणा आदि करके आठ मुहूर्त निद्रा मे व्यतीत करे।" [2] इस प्रकार राजा की दिनचर्या का वर्णन किया गया है। और इसी के साथ राजा के दैनिक शासन सम्बन्धी कार्यों का भी इसी अध्याय में विस्तार पूर्वक वर्णन किया है।

राजा का शासन कार्य—शुक्राचार्य ने एकाकी राजा होने का निषेध

---

१. कामक्रोधस्तथा मोहोलोभोमानोमदस्तथा।
षड्वर्ग मुत्सृजदेनमस्मिस्त्यक्तेसुखीनृप ॥ अ० १ श्लो० १४२
बलान्बुद्धि मान्शूरोयोहियुक्तपराक्रमी।
नित्त पूर्णां महीं भुंक्ते स भूयो भूपतिर्भवेत् ॥ १७४

२. उत्थाय पश्चिमेयामे मुहूर्तद्वितयेननै।
नियतायश्चकत्यस्तिव्ययश्चनियत कति ॥ २७२
कोश भूतस्यद्रव्यस्य व्यय कति गतस्तथा।
व्यवहारे मुद्रिताय व्ययशेषंकती तिच ॥ २७६
प्रत्यक्षतो लेखतश्चज्ञात्वा चाद्यव्यय कति।
भविष्यति चतत्तुल्य द्रव्य कोशान्तुनिर्हरेत् ॥ २७७
आयव्ययैमुंहूर्तानाचतुष्कंतुनयेत्सदा।
स्वस्थचित्तो भोजनेनमुहूर्तं ससुहृन्नृप ॥ २८०
प्र यक्षीकरणाज्जीर्णनवीनानामुहूर्तकम्।
ततस्तु प्राड्विवाकादि बोधितव्यवहारत न ॥ २८१
मुहूर्तद्वितय चैव मृगयाक्रीड नैनयेत्।
व्यूहाभ्यासैर्मुहूर्ततुमुहूर्तं सध्ययाततः ॥ २८२
मुहूर्त भोजनेवैवद्विमुहूर्तच वार्तया।
गूढाचार श्रावितयानिद्रयाष्ट मुहूर्तकम् ॥ २८३

किया है, उनका मत है कि राजा को कभी अकेले राज्य नहीं करना चाहिये "समस्त विद्याओं का ज्ञाता भी राजा बिना मन्त्रियों की सहायता के शासन न करे क्योंकि जो राजा स्वेच्छाचारी होकर अनर्थ करता है उसका राज्य नष्ट हो जाता है। इसलिये श्रेष्ठ कुल के, गुणी, शीलयुक्त, वृद्ध, शूर-वीर, भक्त, प्रिय वक्ता, अच्छा उपदेश देने वाले, क्लेश के सहन करके वाले, धार्मिक सहायकों को राजा रखे। क्योंकि निंदित सहायकों के कारण राजा अपने धर्म और राज्य को नष्ट कर देता है। राजा के युवराज और मन्त्रियों का समूह राजा के दक्षिण वाम भुजा, नेत्र और कर्ण है।[1] जो कोई भी मनुष्य कार्य सम्बन्धी निवेदन हो उसे राजा मन्त्रियों के साथ सुनें, प्रजा तथा अधिकारियों की चेष्टाओं का गुप्तचरों द्वारा राजा को जानने का प्रयत्न करना चाहिये, राजा को चारों दिशाओं के देशों में अधिकारी नियुक्त करने चाहिये, गृह के भीतर अथवा वन में, दिन में एकान्त में मन्त्रियों के साथ भविष्य में करने वाले कार्यों पर विचार करे और मित्र, भ्राता, बन्धु, पुत्र, सेनाधिपति सभासदादि के साथ राज्य कृत्यों का चिन्तन करे।[2]

राजा के शासन कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिये दस पदाधिकारियों को नियुक्त करना चाहिये। ये पदाधिकारी राजा की दस प्रकृतियाँ शुक्राचार्य ने बतलाई हैं। "पुरोहित, प्रतिनिधि, प्रधान, सचिव, मंत्री,

१. सर्व विद्या सुकुशलो नृपोह्यपिसुमंत्रवित्।
मंत्रिभिस्तुविनामंत्रं नैकोर्थंचितयेत्क्वचित् ॥ अ० २ श्लो० २
प्रभु स्वातंन्त्र्यमापन्नोह्यनर्थायैवकल्पते।
भिन्न राष्ट्रोभवेत्सद्योभिन्नप्रकृतिरेवच ॥ अ० २ श्लो० ४
कुल गुणशील वृद्धाञ्छूरान्भक्तान्प्रियवदन् ॥
हितोपदेशकान्क्लेशसहान्धर्मरतान्सदा ॥ अ० २ श्लो० ८
हीयते कुसहायेन स्वधर्माद्राज्यतो नृप।
कुकर्मणा प्रनष्टास्तुदितिजा कुसहायत ॥ अ० २ श्लो० १०
युवराजोमात्यगणो भुजावेतौ महीभुज।
तावेवनयनेकर्णौ दक्ष सव्यौक्रमात्स्मृतौ ॥ अ० २ श्लो० १२

२. श्रावेदयति यत्कार्यंश्रृणुयान्मंत्रिभि सह ॥ अ० १ श्लो २२८
इंगितंचेष्टितंयत्नात्प्रजानामधिकारिणाम् ॥ अ० १ श्लो० २३३
अन्तर्वेश्मनिरात्रौवादिवारण्ये विशोधिते। मंत्रयेनमत्रिभि सार्धं भाविकृत्यंतुनिर्जने ॥ सुहृद्भि भ्रातृभि सार्धं सभायां पुत्र बांधवै।
राजकृत्यं सेनपैश्च सभ्यां चैरिचंतयेत्सदा ॥ अ० १ श्लो० २४०-२४१

प्राड्विवाक्, पंडित, सुमन्त्र, अमात्य और दूत, ये राजा की १० प्रकृति होती हैं। इनमें सबसे समस्त देश का पालन कर्ता पुरोहित, पुरोहित का अनुयायी प्रतिनिधि, प्रतिनिधि के अनन्तर प्रधान, प्रधान के अनन्तर सचिव, सचिव के पश्चात् मंत्री, मंत्री के पश्चात् प्राड्विवाक, प्राड्विवाक के अनन्तर पंडित, पंडित के अनन्तर सुमन्त्र, सुमन्त्र के अनन्तर अमात्य और अमात्य के अनन्तर दूत होता है।[1] इन पदाधिकारियों का क्रम गुणों की श्रेष्ठता के अनुसार रखा गया है। पुरोहित को गुप्त विषयों का ज्ञाता, वेदादि पढ़ा हुआ, कार्य में तत्पर, जितेन्द्रिय, क्रोध, लोभ, मोह, रहित, मन्त्र, शस्त्र में निपुण,, नीति का ज्ञाता, और ऐसा होना चाहिये जिसके भय से राजा भी धर्म और नीति तत्पर हो जाय, वही आचार्य भी होता है। प्रतिनिधि ऐसा पदाधिकारी होता है, जो राजा के कर्तव्याकर्तव्य और हितकारी तथा अहितकारी कार्यों को सर्वकाल में जाने। कार्य तथा अकार्य और राजा के सम्पूर्ण कार्यों का ज्ञाता प्रधान होता है। सेना सम्बन्धी प्रत्येक विषय का ज्ञाता सचिव कहलाता है, मंत्री का कर्तव्य राजा को यह परामर्श देना है कि साम, दान, भेद और दंड किसको और किस काल में देना उचित है, इन दंडों से क्या उत्तम मध्यम अल्प फल होगा। इसका भी चिन्तन करके मंत्री निवेदन करे। मंत्री कोष, आदि के अध्यक्ष होते हैं। मंत्री नीति में कुशल होता है। शास्त्र तथा स्मृति की नीति का ज्ञाता प्राड्विवाक् (वकील) कहलाता है। अनेक सम्मितियों के सिद्ध कार्यों को सभासदों के सहित प्राड्विवाक सभा में विराज कर राजा को निवेदन करता है। पंडित राजा को यह बतलाता है कि लोक में वर्तमान और प्राचीन धर्म में कौनसा शास्त्रानुसार है और कौन-सा शास्त्रविरुद्ध है। लोक परलोक में सुखदायक धर्म का ज्ञान भी पंडित

---

[1] समासन पुरोधादि लक्षणं यत्त दुच्यते।
पुरोधा च प्रतिनिधि प्रधानस्सचिवस्तथा ॥ अ० २ श्लो. ६६
मंत्री च प्राड्विवाकश्च पंडितश्च सुमंत्रक।
अमात्यो दूत इत्येताराज्ञ प्रकृतयोदश।। श्लो० ७०
पुरोधा प्रथमं श्रेष्ठ सर्वेभ्योराज राष्ट्रभृत्।
तदनुस्यात्प्रतिनिधि प्रधानस्तदनंतरम् ॥ श्लो० ७४
सचिवस्तुत प्रोक्तो मंत्री तदनुचोच्यते।
प्राड्विवाकस्तत प्रोक्त पंडितस्तदनंतरम् ॥ श्लो० ७५
सुमंत्रस्तुतत स्यातोह्यमात्यस्तुतत परम्।
दूतस्ततः क्रमादेते पूर्वश्रेष्ठा यथा गुणा ॥ श्लो० ७६

राजा को कराता है। सुमन्त का कार्य प्रतिदिन राजा को यह निवेदन करना है कि इस वर्ष कितना द्रव्य सचय हुआ, कितना व्यय हुआ, और कितना शेष है। अमात्य का कार्य राजा को पुर, ग्राम, वन, भूमि की उत्पत्ति, भूमि की जुताई आदि की सूचना देना है। दूत वह है जो इंगित नेत्र से इच्छा का प्रकाश और चेष्टा जान लेता है और देश, काल का ज्ञाता, वाग्मी धीरता से वक्ता और भय रहित होता है।

राजा को उचित है कि वह प्रधान, मन्त्री, अमात्य आदि समस्त अधिकारियो को बदलता रहे और एक के स्थान पर दूसरा नियुक्त करे जैसे अमात्य के स्थान पर मन्त्री, मन्त्री के स्थान पर प्रधान इत्यादि। कभी अपने से प्रबल अधिकारियो को नियुक्त न करे। एक-एक अधिकारी के कार्य के लिये तीन तीन साक्षी नियुक्त करे। उसके कार्य के दो दृष्टा नियुक्त करे और तीन, पाच, सात, अथवा दस वर्ष में उनकी निवृत्ति कर। अधिकार के योग्य अधिकारी नियुक्त करने चाहिये क्योंकि अधिक समय तक अधिकार पर रहने वाला व्यक्ति मोह को प्राप्त होता है। पशुओ, सुवर्ण रत्नादि, बाग-बगीचे, दानाध्यक्ष, दड का अधिपति, ग्राम का चौधरी, लेखक, शुल्क का ग्राहक, और प्रतिहार ये छ छ पदाधिकारी प्रत्येक ग्राम व नगर म राजा को नियुक्त करने चाहिये। गजाधिपति, अश्वाधिपति, सेनापति, कोषाध्यक्ष, वस्त्राधिपति, वितानाद्यधिपति, धान्यपति, आरामाधिपति, गृहाद्यधिपति, सभाराधिपति, पुजारी, दानाध्यक्ष, सभासद, सत्राधिपति, परीक्षक, साहसाधिपति, ग्रामाधिपति, लेखक, प्रतिहार शौल्किक यान्त्रिक, वैद्य, तान्त्रिक, परिचारक, गायकाधिपति, वैतालिक, शिल्पज्ञ, चौकीदार आदि नियुक्त करे और जय पत्र, आज्ञा पत्र, प्रज्ञापन पत्र शासन पत्र प्रसाद पत्र, भोगपत्र, दानपत्र, क्रमणपत्र, सविदपत्र, ऋणपत्र, शुद्धिपत्र, सामयिक पत्र समनि पत्र क्षेमपत्र, भाषापत्र आदि के लेखन की पृथक् पृथक् व्यवस्था करे।

आय व्यय का हिसाब रखन के अतिरिक्त राजा को व्यवहारार्थ चाँदी, सोना, ताँबा आदि की मुद्रिकाओ की व्यवस्था करे।

घर म कार्य करने वाले भृत्य को एक पहर की दिन म और तीन पहर की रात में छुट्टी दे। जो भृत्य केवल दिन म ही कार्य करे उसे आधे पहर की छुट्टी दे। उत्सवो की भी छुट्टी दे। रोग के समय वर्ष में ३ मास की रोग सम्बन्धी छुट्टी (medical leave) दे। भृत्य को वर्ष मे १५ दिन की छुट्टी (casual leave) दे। जिसे कार्य करते हुए ४० वर्ष हो जाय उसे आधा वेतन आजन्म दे।

ग्राम या ग्रधिपति ब्राह्मण, लेखक कायस्थ, शुल्क (कर ग्रादि) का ग्रधिपति वैश्य और प्रतिहार शूद्र को बनावे। इस प्रकार शुक्राचार्य ने विस्तार पूर्वक राजा के कार्यों का वर्णन शुक्रनीति में किया है।

२ मंत्री—राजा की दस प्रकृतियों में ऊपर दस प्रकार के मन्त्रियों का वर्णन किया जा चुका है।

३. मित्र—जिस कार्य को मन्त्री, भृत्य, सम्बन्धी, स्त्री आदि कोई नहीं कर सकता है उसे मित्र कर सकता है इसलिये (राजा को) मित्र की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि प्रत्येक मनुष्य को मित्र की प्राप्ति अत्यन्त आवश्यक व श्रेष्ठ है।[1] शुक्रनीति में मित्र २ मित्र के लक्षण इस प्रकार वर्णन किये हैं "जो सदैव सहायता करता है, कभी प्रतिकूल नहीं कहता, सत्य और हित की वार्ता कहता है और मानता है वही मित्र होता है। मित्र वही होता है जिसका चित्त दूसरे के दुख को देख कर सदैव द्रवित हो, तथा बिना प्रेरणा के अन्य के हितार्थ प्रयत्न करे"।[2] राजा को ऐसे मित्र बनाने चाहिये। "माता, पिता, चाचा, पत्नी, और कन्या और इनका कुल तथा पिता, माता और अपनी भगिनी कन्या की सन्तति, प्रजा-पालक, गुरु, विद्या, शूरवीर, चतुराई, बल (सेना), और धीरता य सब स्वाभाविक मित्र होते हैं।"[3] "एकसा स्वभाव, एकसी आयु एकसी विद्या, एक जाति, व्यसन अथवा जीविका और एक काम यदि य समस्त अथवा इनमें एक एक भी बातें समानतायुक्त हो तो मित्रता हो जाती है।'[4] मित्र के लिये साम और

१. विश्वासयति च मित्राणि तत्कार्यमतिशक्तिम्।
अतोयतेतत स्प्राप्त्यै मित्र लब्धिवरांनृणाम् ॥ अ० ३ श्लो० ७६

२. य साहाय्यसदाकुर्यान्नप्रतिपन्नवदेत्क्वचित्।
सत्यं हितं वक्तियानिष्टस्तेगृह्णाति मित्रताम् ॥ अ० ३ श्लो० २४५
यस्य मुद्रवतो चित्त परदुःखेन सर्वदा।
इष्टार्थयततेन्यस्य प्रेरित सत्करोतिय ॥ अ० ४ श्लो० ३,

३. माता मातृकुल चैव पितानपितरौतथा।
पितृ पितृव्यान्म कन्या पत्नीतत्कुलमेवच ॥ अ० ४ श्लो० ११
पितृमाद्राम भगिनी कन्यका सततिश्चया।
प्रजापालो गुरुश्चैव मित्राणि सहजानिहि।
विद्याशौर्यं च दाक्ष्यं च बलं धैर्यं च पचमम्।
मित्राणि सहजान्याहुर्वर्तयं तिहि तैर्बुधा ॥ अ० ४ श्लो० १२, १३

४. एक शील वयोविद्या जाति व्यसन वृत्तत।
सहचर्यान्भवेन्मित्रमेभिर्यदि तु सार्जवै ॥ श्लो० २४

दान होने है, भेद और दण्ड मित्र के लिये नही होते। ये शत्रु और प्रचार के साथ अपनी जय के लिये व्यवहार मे लाये जाते हैं।[1]

४. कोश—शुक्राचार्य का मत है कि राजा सब प्रकार का एकत्रित किया हुआ धन देश सेना की रक्षा और यज्ञादि कर्म में प्रयोग करे। सेना तथा प्रजा की रक्षा के लिये कोश सग्रह किया जाता है, ऐसा कोश रखना इस लोक और परलोक मे सुखदाई होता है। अन्य कोश दुखदाई है। जो कोश अपने स्वार्थ के लिये तथा अपने कुटुम्ब के हित के लिये होता है वह राजा को नर्क मे ले जाता है। अन्याय मे सग्रहण किये हुए धन का भी यही परिणाम होता है। असाधारण समय में अर्थात् युद्धादि सकट के समय राजा शत्रु के नाश करने तथा सेना आदि की रक्षा के लिये शुल्क (taxes) आदि द्वारा प्रजा से धन ग्रहण करे और धनियो से ब्याज पर धन (loans) ले और आपत्ति का समय निकल जाने पर इस धन को ब्याज सहित लौटा दे। जिस प्रकार राजा अपनी रक्षा करता है उसी प्रकार उसे कोश की रक्षा करनी चाहिये क्योकि कोश का मूल बल और बल का मूल कोश है। क्षमाशीलता से युक्त राजा नीति निपुणता पूर्वक वुद्धि और बल द्वारा कोश की वृद्धि करने का यत्न करें।[2] राजा को किस प्रकार का कोशाध्यक्ष नियुक्त करना चाहिये?

---

१. मित्रे च साम दानेस्तो न कदा भेद दंडने।
रिपोः प्रजानां संभेदः पीडनं स्व जयायवै॥ श्लो० ३६

२. येन केन प्रकारेण धनं संचिनुयान्नृपः।
तेन संरक्षयेद्राष्ट्रं बलं यज्ञादिकाः क्रियाः॥
बल प्रजा रक्षणार्थं यज्ञार्थं कोश संग्रहः।
पर ग्रेह च सुखदो नृपस्यान्यश्चदुःखदः॥
स्त्री पुत्रार्थं कृतोयश्चसोप भोगाय केवलः।
नरकायैव सज्ञेयो न परत्रसुखप्रदः॥ अ० ४—श्लो० ११७—११६
यदाशत्रु विनाशार्थं बल संरक्षणोद्यतः।
विशिष्ट दंडशुल्कादि धनं लोकात्तदाहरेत्॥ अ० ४—श्लो० १२५
धनिकेभ्योभृतिंदत्वा स्वापत्तौतद्धनंहरेत्।
राजा स्वापत्समुत्तीर्णस्तत्संपया सवृद्धिकम्। श्लो० १२६
तथा कोशास्तु संधायः स्वप्रजारक्षणक्षमः।
बलमूलो भवेत्कोशः कोश मूलं बलं स्मृतम्॥ १२६
तद्वृद्धिर्नीतिनैपुण्या क्षमाशील नृपस्यच।
जायतेतो यतेतैवयावद् बुद्धि बलोदयम्॥ १३२

शुक्राचार्य ने कोषाध्यक्ष का लक्षण इस प्रकार वर्णन किया है 'कोषाध्यक्ष को जितेन्द्रिय धनी, व्यवहार में चतुर धारण कुशल और ऐसा होना चाहिये जिसके मन में ग्रहण हो'।[1]

५. देश—आधुनिक राजनीतिज्ञों ने भी राज्य का एक अङ्ग देश को बतलाया है। अन्य तीन अङ्ग जन संख्या, सुव्यवस्थित शासन और सर्वोच्च सत्तात्मक स्वतन्त्रता है। इसी प्रकार शुक्राचार्य ने भी देश को राज्य का एक अभिन्न अङ्ग माना है।

६. दुर्ग—प्राचीन काल में राज्य की सुरक्षा के लिये दुर्ग एक महत्वपूर्ण वस्तु थी। मध्यकालीन यूरोप और एशिया के राज्यों में दुर्गों का महत्वपूर्ण स्थान है। शुक्राचार्य ने शुक्रनीति में श्रेष्ठ दुर्ग के लक्षण तथा उसका निर्माण क्रमा का बड़े सुन्दर रूप से वर्णन किया है।

"जो दुर्ग खाई, कांटे पत्थर, ऊसर भूमि, तथा दुर्गममार्ग युक्त हो उसे "ऐरिण" दुर्ग कहते हैं। जिस दुर्ग का परकोटा, ईंट, पत्थर, मिट्टी, आदि की दीवार हो उसे "पारिघ" दुर्ग कहते हैं। जो बड़े बड़े घने वृक्षों और कांटों से सुरक्षित हो उसे "वन" दुर्ग कहते हैं। जिस दुर्ग के चारों ओर जल का अभाव हो उसे "धन्व" दुर्ग कहते हैं, और जो दुर्ग जल से घिरा हो उसे "जल" दुर्ग कहते हैं। जो बड़े ऊँचे स्थान पर एकान्त में बनाया जाय उसे "गिरि" दुर्ग कहते हैं। जिस दुर्ग में कवायद के विशेषज्ञ, शूरवीर हो और जो अजेय हो उसे "सैन्य" दुर्ग कहते हैं।[2] इस प्रकार सात दुर्गों का वर्णन है।

७. सेना—शुक्राचार्य ने पैदल, सवार (घोड़ा हाथी) और रथ यान आदि तीन प्रकार की सेना का वर्णन किया है, चौथी धूम्रास्त्र अर्थात् तोप,

---

१. दांतस्तुसधनोयस्तु व्यवहार विशारदः।
धन आप्नोति कृपया॰ कोशाध्यक्ष सएवहि ॥ अ० २ श्लो० १२१

२. खात कंटक पाषाणैर्दुष्पथंदुर्गं मैरिणम्।
परितस्तु महा खातं पारिघं दुर्गमेवतत् ॥ अ० ४ श्लो० ८५०
इष्ट कोपल मृद्भित्तिप्राकारं पारिघस्मृतम्।
महाकंटक वृक्षौघैर्व्याप्तंतद्वनदुर्गमम् ॥
जलाभावस्तुपरितो धन्वदुर्गं प्रकीर्तितम्।
जल दुर्गं स्मृतंतज्ज्ञैरासमंतान्महाजलम् ॥ ८५२
सुवारि पृष्ठोच्चयरंविविक्ते गिरिदुर्गमम्।
अभेद्यंव्यूहविद्वीर व्याप्तंतत्सैन्यदुर्गमम् ॥ ८५३

बन्दूक गोला आदि बनाने का प्रयोग करने वाली सेना का भी वर्णन किया है। शुक्राचार्य का कथन है कि राजा को ऐसे सेनाधिपति बनाने चाहियें जो नीति, शास्त्र, अस्त्र, व्यूह निर्माण नम्रता म चतुर हो, बालक न हो, शूरवीर, दृढाग, अपने धर्म मे स्थित, स्वामी के भक्त, शत्रुओ के द्वेषी, और राजा की जय के इच्छुक हो। वे किसी भी जाति के हो सकते हैं विशेषकर उन्होने सेना के लिये शूद्र, क्षत्रिय, वैश्य, म्लेच्छ, वर्ण सकर आदि को अधिक अच्छा समझा है। पाच अथवा छै सिपाहियो का एक सरदार (अधिप) बनाना चाहिए।[1] इस सरदार को 'पत्तिपाल" कहते हैं।

तीस सिपाहियो के ऊपर एक "गौल्मिक," सौ के ऊपर एक "शतानीक" और सहस्त्र को ऊपर एक "अधिपति" नियुक्त करना चाहिए। सेना को जो व्यूह का अभ्यास (कवायद) कराता है और जो युद्ध भूमि मे युद्ध करने जाता है उसे "शतानीक" कहते हैं। शतानीक का उच्च अफसर अथवा शिक्षक "अनुशतानीक" होना हैं। जो अधिकारी सिपाहियो से काम लेता है उसे "सेनानी' और जो उनकी वदली करता है उसे ,'पत्तिप" कहते हैं। जो यह जानता है कि सैनिक कितन है, कहा कहा कार्य कर रहे हैं उसे 'लेखक' कहते है। बीस-बीस हाथी अथवा अश्वो के अफसर को "नायक" कहते हैं। इन सब लोगो को अपने अपने चिन्हो से चिन्हित करना चाहिए। सेना का अधिपति क्षत्रिय, क्षत्रिय के अभाव म ब्राह्मण, वैश्य, शूद्रादि न बनावे क्योकि समस्त जातियों म सेनापति शूर ही नियुक्त करना चाहिये।[2]

---

१. नीतिशस्त्रास्त्रव्यूहादिनति विद्याविशारदा।
अबालामध्यवयस शूरादातादढागकाः॥
स्वधर्म निरतानित्य स्वामिभक्ता रिपुद्विष.।
शूद्राक्षत्रिया वैश्याम्लेच्छा सकर सम्भवा॥
सेनाधिपा सैनिकारचकार्या राज्ञाजयार्थिना।
पंचानामथवाषण्णामधिप पदगामिनाम्॥ अ० २ श्लो० १२७-१३६

२. योज्य स पत्तिपाल स्यात्त्रिंशता गौल्मिक स्मृत।
शतानातुशतानीकस्तथानुशतिकोपर॥ अ० २ श्लो० १४०
सेनानीर्लेखकश्चैतेशतमप्यधिपाइमे।
साहस्त्रिकस्तुसयोज्यस्तथाचायुतिको महान्॥ १४१
व्यूहाभ्यासशिक्षयेद्य सायप्रातस्तुसैनिकान्।
जानाति स शतानीक सुयोद्धं युद्धभूमिकाम्॥ १४२
तथाविधोनुशतिक शतानीकस्य साधक।

शुक्राचार्य ने युद्ध सम्बन्धी अस्त्र-शस्त्रों का बड़ा विस्तृत वर्णन किया है। लड़ाई में काम आने वाले हथियार दो प्रकार के होते हैं। एक अस्त्र दूसरा शस्त्र। जो हथियार मंत्र, यंत्र, और अग्नि से चलाये जाते हैं और दूर तक प्रहार करते हैं, उनको अस्त्र कहते हैं, और जो हाथ में लेकर निकट के युद्ध में जो तलवार भाले आदि हैं उन्हें शस्त्र कहते हैं। अस्त्र दो प्रकार के होते हैं। एक नालिक दूसरे मांत्रिक। नालिक दो प्रकार का होता है, एक बड़े छेद वाला दूसरा छोटे छेद वाला। टेढ़ा ऊपर को छेद और जंघे के भेद से पांच वालिश्त का नाल होता है। मूल और अग्र भाग के लक्ष्य (निशाने) से यह यंत्र तिल के बिन्दु के समान चिन्ह को वेध सकता है। इसमें यंत्र के दबाने से अग्नि लग जाती है, इसमें बारूद का प्रयोग होता है। ऐसी छोटी नाल वाली बन्दूक को सवार धारण करें और मोटी नाल वाली तोप होती है और जितनी मोटी नली होगी उतना ही मोटा गोला फेंका जायगा और अधिक दूर तक जायगा।[1]

जानाति युद्धसम्भारं कार्य योग्यं च सैनिकम् ॥ १४३
नि देशयतिकार्याणिसेनानीर्यामिकांश्चसः ।
परि धृत्तिं यामिकानां करोति स च पत्तिपः ॥ १४४
मोरधालंयामिकानां त्रिजातीयाच्चगुल्मपः ।
सैनिकाः काकेपसंख्येतैः कतिप्राप्तं तु वेतनम् ॥ १४५
प्राचीनाः के कुत्रगताश्चैतान्वेत्तिसलेखकः ।
गजाश्वानांत्रिंशतेश्चधिपोनायकसंज्ञक : ॥ १४६
उक्त संज्ञान्स्वचिह्नै र्लांछितांश्चनियोजयेत् १४७
सेनाधिप क्षत्रियस्तु ब्राह्मणस्तदभावतः ।
न वैश्यो न चैव शूद्रः कातरश्च कदाचन ॥ अ० २ श्लो० ४२१
सेनापतिः शूर एव योज्य. सर्वासुजातिषु ।
ससंकरचतुर्वर्ण्यं धर्मोऽयंनैवयावन. ॥ ४२२

1. अस्यते क्षिप्यते यत्तुमंत्रयंत्राग्निभिश्चतत् ॥ अ० ४ श्लो० १०२४
अस्त्रं तदन्यत शस्त्रमसि कुंतादिकंचयत् ।
अस्त्रं तु द्विविधं ज्ञेयंनालिकंमांत्रिकं तथा ॥ श्लो० १०२५
नालिकं द्विविधंज्ञेयं बृहत्क्षु द्रविभेदतः ।
तिर्यगूर्ध्वच्छिद्रमूलं नालं पंचवितस्तिकम् ॥ १०२८
मूलाग्रयोर्लक्ष्य भेदितिलबिन्दु युत सदा ।
यंत्राघाताग्निकृद्ग्रावचूर्णमूलककर्णकम् ॥ १०२९

विदुर प्रजागर—महाभारत के उद्योग पर्व में अनेक राजनैतिक आदेश विद्यमान हैं। वैशम्पायन कहते हैं कि "पृथ्वी के स्वामी धृतराष्ट्र ने द्वारपाल को आज्ञा दी कि मैं विदुर जी से मिलना चाहता हूँ उन्हें शीघ्र यहाँ लाओ।" जब विदुर जी धृतराष्ट्र के पास आये तो उन्होंने विदुर जी से कहा कि आपके धर्म युक्त कल्याणकारी वचनों को मैं सुनना चाहता हूँ क्योंकि आप विद्वान पंडित हैं। तब विदुर जी ने कहा कि "हे धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर जो तीनों लोक के स्वामी होने योग्य हैं और तुम्हारे सेवक हैं उन्हें तुमने वन को भेज दिया है। तुम धर्मात्मा और धर्म के पंडित होते हुए भी नेत्रहीन होने के कारण राजाओं के लक्षणों से रहित हो। जीवात्मा, परमात्मा का ज्ञानी होना, सहन शील होना, धर्म करना, धन के लोभ में न आना, प्रशस्त कार्य करना, आस्तिकता, श्रद्धालु होना, क्रोध, हर्ष, अहंकार का त्याग जिनके विचारों को कोई नहीं जानता, जिनका मान, अपमान, सुख, दुःख, सर्दी, गर्मी का कुछ प्रभाव नहीं होता, जिसकी व्यावहारिक बुद्धि धर्म, अर्थ के पीछे चलने वाली हो, जो अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करे, किसी का अपमान न करे, देर तक सुनता, जल्दी मान लेता, बिना पूछे नहीं बोलता, अप्राप्य की इच्छा नहीं करता, नष्ट हुए का शोक नहीं करता, विपत्ति में नहीं घबराता, निश्चय करके कार्य को आरम्भ करता, विघ्न होने पर भी कार्य को बीच में नहीं छोडता, समय को व्यर्थ नहीं खोता, मन को बस में रखता, समस्त प्राणियों के तत्व को जानने वाला, तर्कवान, आविष्कार कर्त्ता, शास्त्रों का अनुयायी, मर्यादा को न तोड़ने वाला, ऐसा पुरुष पंडित (विद्वान) कहाता है।"

"जो बिना पढ़े अपने को पंडित मानता, दरिद्र होकर बड़े मनोरथ वाला, बिना कर्म किये अर्थ को चाहने वाला, अपने अर्थ को छोड़ दूसरों के अर्थ में अटकने वाला, मित्र के साथ मिथ्या आचरण करने वाला, श्रद्धारहितों की श्रद्धा चाहने वाला, श्रद्धा वालों को छोड़ने वाला, बलवानों से द्वेष करने वाला, अमित्र से मित्रता और मित्र से द्वेष करने वाला, दुष्ट कर्म करने वाला, कार्यों को बहुत फैलाने वाला, सदैव शंका करने वाला, शीघ्र करने वाले कार्यों को देर में करने वाला, बिना बुलाये कहीं जाने वाला, बिना पूछे बोलने वाला, दूसरे में दोष निकालने वाला, असमर्थ होकर क्रोध करने वाला, अशिष्य को शिक्षा देने वाला, शून्य की उपासना करने वाला, निन्दित स्वामी की सेवा करने वाला, अपने कुटुम्बियों को छोड़ सुस्वादु भोजन और अच्छे वस्त्रों को धारण करने वाला मूर्ख और निन्दित कहाता है"

"धनुष वाले से छोड़ा हुआ बाण किसी को मारे या न मारे परन्तु बुद्धिमान की छोड़ी हुई बुद्धि से राजा सहित देश नष्ट हो जाता है। इसलिये हे राजन् ! एक (बुद्धि) से (सत् असत्) दो को जान कर (साम, दान, दंड, भेद) चार से (उत्तम मध्यम वा निकृष्ट) तीनों को वश में करो और पाँच (इन्द्रियों) को जीत कर (सन्धि विग्रह आदि) छः बातों को जानकर (धर्मशास्त्र में कहे हुए) सात दोषों को छोड़ कर सुख से रहो। विष रस एक को मारता है और शस्त्र से भी एक ही मारा जाता है परन्तु मन्त्र (विचार) का विप्लव राजा को देश तथा प्रजा सहित नष्ट कर देता है। तुम यह नहीं जानते हो कि "सत्य" ही संसार रूपी समुद्र को पार करने के लिये नौका के तुल्य है। जैसे सर्प बिल में रहने वाले मूसे को खा जाता है वैसे ही पराक्रमहीन राजा और अप्रवासी की भूमि को दूसरे खा जाते हैं (छीन लेते हैं)। महाबलवान राजा को चार बातें वर्जित हैं, थोड़ी बुद्धिवाले के साथ, दीर्घसूत्री (आज का काम कल पर छोड़ने वाला) के साथ, जल्दबाज के साथ और भाटों (तारीफ करने वालों) के साथ परामर्श करना।[1] मनुष्य को इन ५ का सेवन करना चाहिये—पिता, माता अग्नि, आत्मा और गुरू। पुरुष को निम्नलिखित छः बातों को छोड़ देना चाहिये—न पढ़ाने

---

१. एकंहन्यान्नवा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता।
बुद्धिर्बुद्धिमतोसृष्टा हन्याद्राष्ट्रं सराजकम् ॥ उ० प० अ० ३ श्लो ४८
एक या द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशेकुरु।
पञ्च जित्वा विदित्वा षट् सप्तहित्वा सुखी भव।
एकं विष रसो हन्ति शस्त्रेणैकश्चवध्यते।
स राष्ट्रं सप्रजं हन्ति राजानं मन्त्र विप्लवः ॥
एक मेवा द्वितीयं तद्यद्राजन्नावबुध्यसे।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥ ५२
द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पोबिलशयानिव।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चा प्रवासिनम् ॥ ५८
चत्वादि राज्ञानुमहाबलेन वर्ज्यान्याहुः पण्डितस्तानिविद्यात्।
अल्पप्रज्ञैः सह मन्त्रं न कुर्यान्न दीर्घसूत्रै रभसैश्चारणैश्च ॥
पञ्चाग्नयोमनुष्येण परिचर्याः प्रयत्नतः।
पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ ! ॥ ७१

वाले आचार्य को, बिना पढ़े हुए ऋत्विज को, रक्षा न करने वाले राजा को, कटुबोलने वाली स्त्री को, ग्राम चाहने वाले गोपाल को, और वन में रहने वाले नाई को । मनुष्य को निम्नलिखित छः गुण कभी नही छोड़ने चाहिये—सत्य, दान, आलस्य का न होना, निन्दा न करना, क्षमा और धैर्य । हे राजा ! जीव लोक में अर्थ का आगमन, निरोग रहना, प्यारी स्त्री मृदु बोलने वाली, वश में रहने वाला पुत्र और काम में आने वाली विद्या, ये छः सुख हैं । हे राजा ! जीवलोक में आरोग्य होना, ऋणी न होना, परदेश में न रहना, सत्पुरुषों से मेल, अपने अनुकूल जीविका और अभय रहना ये छः सुख हैं । और ईर्षा करने वाला, दयालु, असन्तुष्ट, क्रोधी, नित्य शोक करने वाला और दूसरा के सहारे जीने वाला ये छः नित्य दुःखी हैं । जो राजा काम और क्रोध को त्याग देता है सुपात्र को देता है, विशेषज्ञ, पढा हुआ, और कार्य को शीघ्र करता है उसकी बात को संसार मानता है । अतः हे राजन् पाण्डवो को उचित राज्य देकर अपने पुत्रो के साथ सुख पूर्वक रहिये और ऐसी दशा में तुम्हारी बराबरी कोई न कर सकेगा ।[1]

धृतराष्ट्र ने यह सुनकर विदुर जी से कहा कि युधिष्ठिर का हमारे प्रति

---

१. षडिमान् पुरुषो जह्याद्भिन्ना नावमिवार्णवे ।
अप्रवक्तारमाचार्य मन धीयानमृत्विजम् ॥ ८४
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम् ।
ग्राम कामं गोपालं वन कामं न नापितम् ॥ ८५
षडेवतुगुणाः पुंसा न हातव्या कदाचन ।
सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः ॥ ८६
अर्थ गमोनित्यमरोगिता च, प्रिया च भार्या प्रियवादिनीच ।
वश्यस्य पुत्रोऽर्थकरी च विद्या, षड जीवलोकस्य सुखानिराजन् ॥ ८७
आरोग्य मानृण्यमविप्रवास सद्भिर्मनुष्यै सह सम्प्रयोग ।
स्वप्रत्यया वृत्तिर भीतवास षड जीवलोकस्य सुखानिराजन् ॥ ९४
ईर्षुर्घृणी न सन्तुष्ट क्रोधनोनित्यशङ्कित ।
परभाग्योप जीवी च षडेते नित्य दुःखिता ॥ ९५
य काममन्यू प्रजहाति राजा, पात्रे प्रतिष्ठा पयते धनं च ।
विशेष विच्छ्रु तवान क्षिप्रकारी, तं सर्वलोक कुरुते प्रमाणम् ॥ १०३
प्रदाय पाण्डुचितं तात राज्यं, सुखी सुत्रै सहितो मोद मान ।
न देवानापि च मानुषाणा भविष्यति त्वं तर्कणीयो नरेन्द्र ॥ १२८

क्या विचार है ? और आप ऐसा उपदेश कीजिये कि जिससे कौरवों का हित हो। विदुर जी ने कहा कि "जो राजा स्थान, वृद्धि तथा व्यय, कोष, राज्य और दण्ड के प्रमाण को नही जानता वह राज्य करने योग्य नहीं है। मैं राज्य को प्राप्त हुआ हू, ऐसा समझ कर अनुचित व्यवहार नही करना चाहिए क्योंकि अविनय लक्ष्मी का नाश करता है, जसे बुढापा सुन्दर रूप का। जो राजा धर्म को छोड कर अधर्म का सेवन करता है उसका राज्य इस प्रकार सकुचित होता है जैसे अग्नि में डाला हुआ चर्म। जो यत्न शत्रु के राज्य का नाश करने के लिये किया जाता है वही अपने राज्य के पालन करने मे करना चाहिये। गन्ध से गौवें देखती है, ब्राह्मण वेदो से, राजा गुप्त दूतो से और अन्य लोग नेत्रो से देखते हैं। पशुओ के सहायक बादल, राजाओ के सहायक मन्त्री, स्त्रियो के पति और ब्राह्मणो के वेद हैं। जो राजा मन को न जीत कर मन्त्री आदि को जीतना चाहता है, और मन्त्रियो को न जीत कर शत्रुओ को जीतना चाहता है वह अवश्य नाश को प्राप्त होता है। बुद्धि, कुलीनता, इन्द्रिय दमन, पढना, पराक्रम, समयानुसार थोडा बोलना, यथाशक्ति दान, किये हुए को मानना ये आठ गुण मनुष्य को प्रसिद्ध करते हैं।[1]

---

१. य. प्रमाणं न जानातिस्थाने वृद्धौ तथा क्षये ।
कोशे जनपदे दण्डे न स राज्येऽवतिष्ठते॥ उ० प० अध्याय २। श्लो. १०
नराज्यं प्राप्तमित्येव वर्तितव्यम साम्प्रतम् ।
श्रियं ह्यविनयो हन्ति जरा रूप मिवोत्तमम् ॥ १२
अथ संत्यजतो धर्ममधर्मं चानुतिष्ठत ।
प्रति सवेष्टते भूमिरग्नौ चर्माहित यथा ॥ २६
यएव यत्नं क्रियते परराष्ट्र विमर्दने ।
सएव यत्न कर्त्तव्य स्वराष्ट्र परिपालने ॥ ३०
गन्धेन गाव पश्यन्ति वेदै पश्यन्ति ब्राह्मणा ।
चारै. पश्यन्ति राजानश्चक्षु र्भ्यामितरे जना ॥ ३४
पर्जन्यनाथा पशवो राजानो मन्त्रिबान्धवा ।
पतयोबान्धवा स्त्रीणा ब्राह्मणा वेद बान्धवा ॥ ३८
अविजित्यय आत्मानम मात्यान्विजिगीषते ।
अभित्रान्वा ऽजितामात्य सोऽवश परिहीयते ॥ ५६
अष्टौ गुणा पुरुश ष्यदिंत, प्रज्ञा च कोल्य च दम श्रुत च ।
पराक्रमश्चाबहु भाषिताच दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च॥ उ. प अध्याय ३।
श्लो० ५३

यज्ञ, पढ़ना, दान, तप, सत्य, दया, लोभ न होना, ये आठ प्रकार का धर्म का मार्ग है। और सत्य, रूप, पढ़ना, विद्या, कुलीनता, शील, बल, धन, शौर्य, विचित्र कथन, ये दस स्वर्ग योनि (शरीर) हैं। हे राजन्! विद्वानों का आदर करने वाला, दान देने वाला, अपने कुटुम्ब के साथ अच्छा वर्ताव करने वाला, शीलवान क्षत्री बहुत काल तक राज्य करता है। हे धृतराष्ट्र! ये सब गुण पाण्डवों में हैं। वे तुम्हें पिता के तुल्य समझते हैं इसलिये तुम भी उनके साथ पुत्र तुल्य व्यवहार करो।[1]

धृतराष्ट्र ने विदुर जी से कहा कि आप कृपा करके महाकुल का लक्षण बतलाइये क्योंकि सब लोग महाकुल की इच्छा करते हैं। इस पर विदुर जी ने उत्तर दिया कि "तप, इन्द्रिय दमन, वेद, धन, वेदोक्त यज्ञ, पवित्र विवाह, निरन्तर अन्न-दान ये सात गुण हों और जिनके पवित्र आचरण से व कुल से किसी का चित्त न दुखे, जो प्रसन्न चित्त होकर धर्माचरण करते हैं और अपने कुल की विशेष कीर्ति चाहते हैं और झूँठ नहीं बोलते उनके महाकुल हैं। हे राजन्! हमारे कुल में कोई वैर करने वाला राजा व मन्त्री पराये धन को चुराने वाला, मित्र द्रोही, धरोहर मारने वाला, झूँठ बोलने वाला और पितरो, देवो और अतिथियों से पूर्व खाने वाला न हो।[2]

धृतराष्ट्र ने कहा कि मैंने राजा युधिष्ठर को झूठ कहलाया है इसलिये वह मेरे मूर्ख पुत्रों का युद्ध में नाश करेगा, यह विचार करके मेरा मन घबडाता इस लिये हे महा बुद्धे! आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिये कि मेरा मन शान्त

---

१. इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा।
अलोभइति मार्गोऽयं धर्मस्याष्ट विधःस्मृतः॥ ५७
सत्यं रूपं श्रुतं विद्या कौल्यं शीलं बलं धनम्।
शौर्यं च चित्रभाष्यं च दशमे स्वर्ग योनयः॥ ६०
द्विजाति पूजाभिरतो दाता ज्ञातिषुचार्जवी।
क्षत्रिय: शीलभाग्राजंश्चिरं पालयते महीम्॥ ७४
सर्वैर्गुणै रुपेतास्तु पाण्डवा भरतर्षभः।
पितृवत्त्वाय वर्त्तन्ते तेषु वर्तस्व पुत्रवत्॥ ७८

२. तपो दमो ब्रह्म वित्तं वितानाः पुण्या विवाहाः सततान्नदानम्।
येष्वेवैते सप्त गुणा वसन्ति, सम्यग्वृत्तास्तानि महाकुलानि॥ उ. प. ४
श्लो० २३
येषां न वृत्तं व्यथते न योनिश्चत्तप्रसादेन चरन्ति धर्मम्।
ये कीर्तिमिच्छन्ति कुले विशिष्टां, त्यक्तानृतास्तानिमहाकुलानि॥ २४

हो ? यह सुन कर विदुर ने कहा कि "हे राजन् बिना विद्या और तप, बिना इन्द्रियों को वश किये, बिना लोभ को त्यागे मैं तुम्हारी शान्ति नहीं देखता"।[1]

हे राजन् ! तुम पाण्डवों से मेल करलो जिससे तुम्हारे शत्रु अवसर न पा सकें। स्वायम्भुव मनु ने इन १७ मनुष्यों को आकाश में घूसा मारने वाला कहा है, शिक्षा न देने योग्य को शिष्य बनाने वाला, कुसमय प्रसन्न होने वाला, शत्रु का सेवन करने वाला, स्त्री की रक्षा न कर सुख भोगने वाला, न मांगने योग्य से मांगने वाला, अथवा उसकी प्रशंसा करने वाला, कुलीन होकर कुकर्म करने वाला, निर्बल होते हुए बलवान से वैर करने वाला, अश्रद्धालु को उपदेश करने वाला, न चाहने योग्य को चाहने वाला, पुत्र की स्त्री से हंसी करने वाला श्वसुर, पुत्र की स्त्री के साथ रह कर प्रतिष्ठा चाहने वाला, पराये खेत में बीज बोने वाला, कुसमय स्त्री का तिरस्कार करने वाला, लेकर यह कहने वाला कि मुझे याद नहीं है मांगने पर देकर बड़ाई चाहने वाला, न हुए को मानने वाला इन सबको हाथ में पाशी लिये हुए यमदूत नरक को ले जाते हैं।[2]

धृतराष्ट्र ने पूछा कि "वेदों में मनुष्य की आयु १०० वर्ष की लिखी है फिर क्या उस आयु को मनुष्य प्राप्त नहीं होता ?"। विदुर जी ने कहा कि "अति घमंड, अति बोलना, दान न देना, क्रोध, अपने ही पेट को भरने की इच्छा और मित्र द्रोह ये छः बातें प्राणियों की आयु का छेदन करती हैं"।[3]

---

१. नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ।
नान्यत्रलोभसं त्यागाच्छान्ति पश्यामिते ऽनघ ॥ ४१

२. यश्चाशिष्यं शास्ति वैयश्च तुष्येद्यश्चातिवेलं भजते द्विषन्तम् ।
स्त्रियश्च यो रक्षति भद्रमश्नुते य श्चायाच्यं याचते कत्थते वा ॥ उ० प० अध्याय ४, श्लो० ३

यश्चाभिजातः प्रकरोत्यकार्यं यश्चाबलो बलिना नित्य वैरी ।
अश्रद्दधानाय च योब्रवीति यश्चाकाम्यं कामयते नरेन्द्र ॥ ४
वध्वाऽवहास श्वशुरो मन्यते योवध्वा वसनन्नभयोमानकाम ।
परक्षेत्रे निर्वपति यश्च बीजं स्त्रियं च य परिवदते ऽतिवेलम् ॥ ५
यश्चापिलब्ध्वा न स्मरामीति वादी दत्वा च य कत्थति याच्यमानः ।
यश्चासतः स त्वमुपानयीत एतान्नयन्ति निरयं पाश हस्ता ॥ ६

३. शतायुरुक्तः पुरुष सर्ववेदेषु वैयदा ।
नाप्नोत्यथ च तत्सर्वमायुः केनेह हेतुना ॥ ६

आगे विदुर जी ने धृतराष्ट्र को और राजधर्म सम्बन्धी उपदेश दिया है। वे कहते हैं कि "कुल की भलाई के लिये एक पुरुष को त्याग देना चाहिये, ग्राम के कल्याण के लिये एक कुल को त्याग देना चाहिये और एक प्रान्त के लाभ के लिये ग्राम को त्याग देना चाहिये और आत्मोन्नति के लिये पृथ्वी को त्याग देना चाहिये। आपत्ति के समय के लिये धन की रक्षा करे, धन को त्याग कर स्त्री की रक्षा करे, और आत्मोन्नति अथवा आत्म रक्षा के लिये स्त्री तथा धन को त्याग दे"।[2]

स्नान करने से दस लाभ होते हैं—बल, रूप, स्वर और रंग की शुद्धि, स्पर्श, गन्ध, स्वच्छता, शोभा, सुकुमारता (नजाकत) श्रेष्ठ स्त्रियां। कम भोजन करने से छः लाभ होते हैं—आरोग्य, आयु, बल, सुख, सन्तान की निर्दोषिता और ऐसे मनुष्य को कोई पेटू नहीं कहता है। इनको घर में न बसावे—निकम्मे, बहुत भोजन करने वाले, संसार से शत्रुता करने वाले, अति छलिया, निर्दय, देशकाल के न जानने वाले और बुरे वेष वाले को। इतने लोगों से दुःखित हुआ भी न मांगे—कृपण, गाली देने वाले, कुपढ़, जंगली, धूर्त्त, अमान्य को मानने वाले, निर्दय और कृतघ्न। इन छः की सेवा न करे—मरखने, अति प्रमादी झूंठ, चंचल भक्ति वाले, प्रीति रहित और अपने को चतुर समझने वाले। हे राजन्। पाण्डवों से युद्ध करने में इतने दोष हैं—पुत्र वैर, नित्य घबराहट में रहना, यश का नाश और शत्रुओं को हर्ष। इनमें बुद्धिमान को विश्वास न करना चाहिये—स्त्री, राजा, सर्प, स्वाध्याय, स्वामी शत्रु, भोग और आयु।[1]

अतिमानोऽतिवादश्च तथाऽत्यागो नराधिप।
क्रोधश्चात्मविधित्सा च मित्रद्रोहश्च तानिषट्॥ १०
एतएवासयस्तीक्ष्णाः कृन्तन्त्यायूंषि देहिनाम्।
एतानि मानवान्घ्नन्ति न मृत्युर्भद्रमस्तुते॥ ११

२. त्यजेत्कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥ १७
आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि॥ १८

१. गुणा दश स्नान शीलं भजन्ते बल रूपं स्वर वर्ण प्रशुद्धिः।
स्पर्शश्च गन्धश्च विशुद्धता च श्री. सौकुमार्यं प्रवराश्च नार्यः॥
गुणाश्चपरिमितभुक्तं भजन्ते आरोग्यमायुश्च बलंसुखंच।
अनाविलं चास्य भवत्यपत्यं न चैन माद्य्, न इति क्षिपन्ति॥

सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध, आश्रय ये छः राजनीति के गुण हैं, जो इन गुणों से युक्त न हो ऐसे मन्त्री से कदापि मन्त्रणा न करे। जो शत्रु मार डालने योग्य हो और वश में आ गया हो तो उसे अवश्य मार डालना चाहिये। जो बाँटकर न खाये, दुरात्मा, कृतघ्न, निर्दयी, राजा को त्याग देना चाहिये। जहाँ स्त्री छलिया अथवा बालक राजा हो उनका ऐसे नाश होता है जैसे नदी में पत्थर की नौका का। चतुर पुरुष को इन छः से बचना चाहिये—नशा, निद्रा, बेसमझी, अपना दिखावा, दुष्ट मन्त्रियों पर विश्वास तथा मूढ़ दूत।² जिन दो का चित्त से चित्त, मन्त्र से मन्त्र और बुद्धि से बुद्धि मिलती है उन दो की मित्रता कभी कम नहीं होती। घमंडी, मूर्ख, रुलाने वाले, बलात्कार करते वाले तथा अधर्मी से चतुर पुरुष को

अकर्मशीलं च महाशनं च लोकद्विष्टं बहुमायं नृशंसम्।
अदेश कालज्ञमनिष्ट वेष मेतान्गृहे न प्रतिवासयेत ॥ ३५
कदर्यमाक्रोशकम श्रुतं च वनौकसं धूर्तममान्यमानिनम्।
निष्ठूरिणं कृतवैरं कृतघ्नमेतान्भृशार्तोऽपि नजातु याचेत् ॥ ३६
संक्लिष्ट कर्माणमति प्रमादं नित्यानृतं चादृढ भक्तिकं च।
विसृष्ट रागं पटुमानिनं चाप्येतान्नसेवेत नराधमान्षट् ॥ ३७
पश्यपोषान्पाण्डवैर्विग्रहेस्त्वंयत्र व्यथेयुरपि देवा सशक्राः।
पुत्रैर्वैरं नित्यमुद्विग्नवासो यशः प्रणाशोद्विषतां च हर्षः ॥ ४२
स्त्रीषु राजसु सर्पेषु स्वाध्यायप्रभुशत्रुषु।
भोगेष्वा युषिविश्वासं कः प्राज्ञः कर्तुमर्हति ॥ ४७
२. अनधीय यथा वेदान्न विप्रः श्राद्धमर्हति।
एवमश्रुत षाड्गुण्यो न मंत्रं श्रोतुमर्हति ॥ उ० प० ६, श्लो २४
न शत्रुर्नशमापन्नो मोक्तव्यो वध्यतां गतः।
न्यग्भूत्वा पर्युपासीत वध्यं हन्याद्बलेसति।
अहताद्धिभयं तस्माज्जायते न चिरादिव ॥ २६
असंविभागी दुष्टात्मा कृतघ्नो निरपत्रपः।
तादृग्राधियो लोके वर्जनीयोनराधिप ॥ ३६
यत्र स्त्री यत्र कितवो बालो यत्रानुशासिता।
मज्जन्ति तेऽवशा राजन्नद्यामश्मप्लवाइव ॥ ४३
मंत्रभेदस्यषट् प्राज्ञोद्वाराणीमानिलक्षयेत्।
अर्थ संतति कामश्च रक्षेदेतानि नित्यशः ॥ उ० प० ७, श्लो० ३६
मदं स्वप्नमविज्ञान माकारं चात्मसम्भवम्।
दुष्टा मात्येषु विश्रम्भं दूताच्चा कुशलादपि ॥

मित्रता नहीं करनी चाहिये। मित्र के ये लक्षण हैं—कृतज्ञ, धर्मात्मा, सत्य-वादी, गम्भीर, दृढ़ भक्ति वाला, जितेन्द्रिय और अपनी दशा में स्थित और न छोड़ने वाला। कोमलता, किसी का बुरा न चाहना, क्षमा, धैर्य, मित्रों का अपमान न करना, इन बातों से आयु बढ़ती है। शुभ कर्म, योग साधना, शास्त्र पढ़ना, निरालस, नम्रता, सत्पुरुषों का दर्शन, इनसे ऐश्वर्य की वृद्धि होती है। वृद्धों की सेवा और सत्कार करने से कीर्ति, आयु, यश और बल की वृद्धि होती है। गुणों को दोष लगाना मृत्यु के समान है। बड़ा बोलना लक्ष्मी को नाश करता है। शुश्रूषा न करना, जल्दबाजी और निपटना ये विद्या के शत्रु हैं, आलस्य, मद, मोह, चंचलता, गोष्ठी, नम्रता न होना, अभिमान, त्यागीपना ये सात विद्यार्थियों के दोष हैं। सुख चाहने वाले को विद्या प्राप्त नहीं हो सकती और विद्यार्थी को सुख नहीं मिल सकता। हे राजन्! काम, भय, लोभ और जीवन के लिये कभी धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि धर्म नित्य है, सुख दुःख अनित्य हैं जीव नित्य है उसका हेतु अनित्य है। इसलिये तू अनित्य को त्याग कर नित्य का अनुसरण कर और सन्तोष कर। तू बड़े प्रभावशाली राजाओं को देख जो बड़े बड़े राज्यों को भोग कर मृत्यु को प्राप्त हुए। इसलिये तू युधिष्ठिर को राज्य दे।" इसके उत्तर में धृतराष्ट्र ने केवल इतना ही कहा कि "जब मैं दुर्योधन के समीप जाता हूँ तो मेरी बुद्धि उलट जाती है। कोई प्राणी प्रारब्ध का उल्लंघन नहीं कर सकता।"[1]

---

1. यस्योश्चित्तेन वाचित्तं निभृतं निभृतेन वा।
समेति प्रज्ञया प्रज्ञा तयोर्मैत्री न जीर्यति ॥ ४७
अवलिप्तेषु मूर्खेषु रौद्रसाहसिकेषु च।
तथैवापेतधर्मेषु न मैत्रीमाचरेद् बुधः ॥ ४९
कृतज्ञं धार्मिकं सत्यमक्षुद्रं दृढभक्तिकम्।
जितेन्द्रियं स्थितं स्थित्यां मित्रमत्यागि चेष्यते ॥ ५०
मार्दवं सर्वभूतानामनसूया क्षमा धृतिः।
आयुष्याणि बुधाः प्राहुर्मित्राणां चाभिमानना ॥ ५२
मंगलालम्भनं योगः श्रुतमुत्थानमार्जवम्।
भूतिमेतानि कुर्वन्ति सतां चाभीक्ष्णदर्शनम् ॥ ५६
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि सम्प्रवर्धन्ते कीर्तिरायुर्यशोबलम् ॥ ७४
असूयैकपदं मृत्युरतिवादः श्रियो वधः।
अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा विद्यायाः शत्रवस्त्रयः ॥ उ. प. म. श्लो. ४

महाभारत शांति पर्व—महाभारत के अन्तर्गत शान्ति पर्व में राजनैतिक सम्बन्धी विविध प्रकार के विषयों का वर्णन है। युधिष्ठिर ने राजधर्म को सब धर्मों से श्रेष्ठ तथा सब धर्मों का आधार बतलाया है। युधिष्ठिर का कथन है कि राजधर्म में सब धर्मों की दीक्षा है और समस्त विद्याओं का समावेश राजधर्म में है। [१]

प्राकृतिक दशा—शान्ति पर्व में युधिष्ठिर के प्रश्न करने पर भीष्म ने उत्तर दिया कि जब राजा नहीं था उस समय अराजकता की अवस्था में प्रजा नष्ट होती थी। जैसे जल में बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है वैसे ही बली निर्बल को दुःख देता था। [२] ऐसी अवस्था में समस्त लोगों ने मिलकर यह निश्चय किया कि जो हम लोगों में [३] कुवचन बोलने

आलस्यं मदमोहौच चापलंगोष्ठिरेव च।
स्तब्धा चाभिमानित्वं तथा त्यागित्व मेव च ॥५
एतेवैसप्त दोषाः स्यः सदा विद्यार्थिनांमताः।
सुखार्थिन कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम ॥ ६
इदं चग्वां सर्वपरं ब्रवीमि पुण्यं पदं तात ! महाविशिष्टम्।
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः ॥१२
नित्योधर्मं सुखदुःखे त्वनि ये जीवोनित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः।
त्यक्त्वाऽनि यं प्रतितिष्ठस्वनित्यं सन्तुष्य त्वं तोषपरोहि लाभः ॥ १३
महाबलान्पश्य महानुभावान्प्रशास्य भूमि धन धान्य पूर्णम्।
राज्यानि हित्वा विपुलाश्च भोगान् गतान्नरेद्रान्वशमन्तकस्य ॥१४
मातु बुद्धिः कृताप्येव पाण्डवान्प्रति मे सदा।
दुर्योधनं समासाद्य पुनर्विपरिवर्तते ॥ ३१
न दिष्टमभ्यतिक्रान्तुं शक्यं भूतेन केनचित।
दिष्टमेव ध्रुवंमन्ये पौरषं तु निरर्थकम् ॥ ३२

१. सर्वे धर्मा राजधर्म प्रधाना सर्वे वर्णाः पाल्यमाना भवन्ति।
सर्वस्त्यागो राजधर्मेषु राजस्त्यागं धर्मं चाहुरग्रयं पुराणम् ॥ २७
सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टा सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु चोक्ता:।
सर्वा विद्या राजधर्मेषु युक्ताः सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्ठा. ॥२९
शा० अ० ६३

२. अराजकाः प्रजा पूर्वं विनेशुरिति न श्रुतम्।
परस्परं भक्षयन्तो मत्स्याइव जले कृशान् ॥ ४७
समेत्य तास्ततश्चक्रुः समयानिति न श्रुतम्।
वाक्शूरो दण्डपरषो यश्च स्यात् पार जायिकः ॥ १८ शा० प० अ० ६७

काला, दुष्ट, पर स्त्री गामी होगा वह त्याज्य समझा जायगा। इस प्रकार सब लोगों में ऐसी बातें हुईं और ऐसी प्रतिज्ञा करके ब्रह्मा के पास जाकर वे लोग बोले कि राजा न होने से हमको बड़ा कष्ट है इस लिए आप हमें राजा दीजिये जिसकी हम पूजा करें और जो हमारा पालन करे। इसपर ब्रह्मा ने मनु को आज्ञा दी और सब लोगों ने उनको प्रणाम किया और उनका स्वागत किया। मनु ने कहा कि मैं पाप से डरता हूँ। राज्य कार्य कठिन है। भीष्म बोले कि अन्त में प्रजा ने उनसे प्रार्थना की कि आप न डरें। पापी अपने किये का फल भोगेगा। हम लोग आप की कोषवृद्धि के लिये पशु और सुवर्ण का ५० वा भाग और धन-धान्य का १० वा भाग देंगे। सबसे सुन्दर कन्या से आप का विवाह होगा और हम सब आपके पीछे ऐसे चलेंगे जैसे इन्द्र के पीछे सब देवता चलते हैं। आप हमारी रक्षा कीजिये। आप की सदा जय हो।[1]

---

[1] य परस्वम यादद्यायाज्या नस्तादशा इति।
विश्वासार्थञ्च सर्वेषां वर्णानाम विशेषत ॥ १६
तास्तथा समय कृत्वा समये नावतस्थिरे।
सहितास्तास्तदा जग्मुरसुखार्त्ता पितामहम् ॥ २०
अनीश्वरा विनश्यामो भगवन्नीश्वर दिश।
यं पूजयेम सम्भूय यश्च न प्रतिपालयेत् ॥ २१
ततो मनुं व्यादिदेश मनुर्नाभिननन्दता।
मनुरुवाच। बिभेमि कर्मण पापाद्राज्यं हि भृशदुस्तरम्।
विशेषतो मनुष्येषु मिथ्यावृत्तेषु नित्यदा ॥ २२
भीष्म उवाच। तमब्रुवन् प्रजा मा भै कर्तृनेनो गमिष्यति।
पशूनामधि पञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च ॥ २३
धान्यस्य दशमं भाग दास्याम कोशवर्द्धनम्।
कन्यां शुल्के चारुरूपां विवाहेषूद्यतासु च ॥ २४
मुखेन शस्त्र पत्रेण ये मनुष्या प्रधानत।
भवन्त ते ऽनुयास्यन्ति महेन्द्रमिव देवता ॥ २५
सत्व जातबलो राजा दुष्प्रधर्ष प्रतापवान्।
सुखे धास्यसि न सर्वान् कुबेर इवनैर्ऋतान् ॥ २६
पञ्च धर्मं चरिष्यन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिता।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य त्वत्संस्थं वै भविष्यति ॥ २७
तेन धर्मेण महता सुखलब्धेन भावित।

राजा—महाभारत मे राजा को अग्नि, सूर्य, यम और कुबेर के समान बतलाया है। जब राजा दुष्टो को दण्ड देता और गुप्तचरो द्वारा लोगो के आचरण को जान कर प्रजा के हित के लिये घूमता है तो वह सूर्य के समान है। जब वह पापी जनो को परिवार सहित नष्ट करता है तो यम के समान है, जब दुष्टो को भस्म करता है तब अग्नि है, और जब धर्मात्मा लोगो का पालन करता है और उनपर कृपा करता है तब कुबेर का कार्य करता है।[1]

राज्य के अंग—महाभारत मे राज्य के सात अ गो का वर्णन आया है। राजा, मत्री, कोष, दण्ड, मित्र, प्रजा और राज्य ये ७ अ ग राज्य के महाभारत में बतलाये गये है। महाभारत के पढने से पता चलता है कि मनु, तथा शुक्राचार्य के आधार पर राज्य के सप्तागो का वर्णन किया गया है। आगे चलकर कौटिल्य ने भी इन्ही ऋषि मुनियो के आधार राज्यो के अंगो का वर्णन किया है।[2]

पाह्य स्मान् सर्वतो राजन् देवानिव शतक्रतुः ॥ २८
विजयाय हिनिर्याहि प्रतपन् रश्मिवानिव ।
मानं विधम शत्रूणांजयोऽस्तुतव सर्वदा ॥२९ शा.प.अ.६७

१ कुरुते पञ्च रूपाणि कालयुक्तानियः सदा ।
भवत्यग्निस्तथादित्यो मृत्यु वैश्रवणो यमः ॥ ४१ शा. प. अ. ६८
यदा ह्यासीदत. पापान् दहत्युग्रेण तेजसा ।
मिथ्योपचरितो राजा तदा भवति पावकः ॥४२
यदा पश्यति चारेण सर्वभूतानि भूमिपः ।
क्षेमञ्च कृत्वा व्रजति तदा भवति भास्करः ॥४३
अशुचींश्च यदा क्रुद्धः क्षिणोति शतशो नरान् ।
सपुत्रपौत्रान् सामात्यास्तदा भवति सोऽन्तकः ॥ ४४
यदा स्वधर्मिकान् सर्वांस्तीक्ष्ण दण्डैर्निगच्छति ।
धर्मिकांश्चानु गृह्णाति भवत्यथ यमस्तदा ॥ ४५
यदा तु धन धाराभिस्तर्पयत्यु पकारिणः ।
आच्छिनत्ति च रत्नानि विविधान्यपकारिणाम् ॥ ४६
श्रियम् ददाति कस्मैचित् कस्माच्चिदपकर्षति ।
तथा वै श्रवणो राजा लोके भवति भूमिपः ॥ ४७
२ आत्मामात्याश्च कोशाश्च दण्डोमित्राणि चैवहि । ६४ शा.प.अ.६९
तथा जनपदाश्चैव पुरंच कुरुनन्दन ।
एतत्सप्तात्मकं राज्यम् परिपाल्यम् प्रयत्नतः ॥ ६५

राजा के लक्षण—महाभारत में लिखा है कि राजा को अपने मन को वश में करना चाहिए। जो राजा अपने मन को वश में नहीं कर सकता वह शत्रु को भी नहीं जीत सकता। राजा धार्मिक होना चाहिए। राजा का कर्तव्य रक्षा करना है। जो राजा धर्म में तत्पर नहीं रहता वह नर्क में जाता है; राजा की नियुक्ति प्रजा के हित के लिये की जाती है। जिस प्रकार गर्भिणी स्त्री सदैव अपने गर्भ के हित का ध्यान रखती हुई प्रत्येक कार्य करती है और अपनी इच्छा को मारती है उसी प्रकार राजा को भी सदा लोकहित का ध्यान रखना चाहिये। राजा का कर्तव्य प्रजा का रंजन करना है। उसको सत्यवादी होना चाहिये और सद्व्यवहार करना चाहिये। राजा को पराक्रमी, सत्यवादी, और क्षमावान् होना चाहिये। उसे दूसरों के धन का अपहरण नहीं करना चाहिये। वह शास्त्र का ज्ञाता और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का ध्यान रखने वाला होना चाहिये। राजा ही समस्त प्राणियों का रक्षक अथवा नाश करने वाला होता है। जो राजा धर्मानुसार कार्य करता हो तो प्राणीमात्र का पालन होता है, यदि वह अधार्मिक होता है तो प्राणीमात्र का नाश होता है।[1] राजा का कर्तव्य दुर्ग

1. आत्मा जेयः सदा राजा ततो जेयाश्च शत्रवः।
अजितात्मा नरपतिर्विजयेत कथं रिपुम्॥ ४ शा.प.अ.६९
धर्माय राजा भवति न कामकरणाय तु।
मान्धातरिति जानीहि राजा लोकस्य रक्षिता॥ २
राजा चरति चेद्धर्मम् देवत्वायैव कल्पते।
सचेदधर्मं चरति नरकायैव गच्छति॥ ३
यस्मिन् धर्मो विराजते तं राजानं प्रचक्षते॥ १४ शा.प.अ.९०
यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम्।
गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्यसंशयम्॥ ४५
वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्तिना।
स्वं प्रियं च परित्यज्य यद्यल्लोकहितं भवेत्॥ ४६ शा.प.अ.५६
लोकरंजनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः।
सत्यं च रक्षणं चैव व्यवहारस्य चार्जवम्॥ [illegible]
न हिंस्यात् परवित्तानि देयं काले च दापयेत्।
विक्रान्तः सत्यवाक् क्षान्तो नृपो न चलते पथः।
आत्मवांश्च जितक्रोधः शास्त्रार्थकृतनिश्चयः।
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च सततं रतः॥ १२

की रक्षा करना, धर्मानुसार शासन करना, मन्त्रचिन्तन करना युद्ध करना और प्रजा को सुख देना है। राजा को कभी कोई कार्य मर्यादा के विरुद्ध नही करना चाहिय। यदि राजा अपनी मर्यादा को छोडकर धर्म के विरुद्ध कार्य करता है तो प्रजा में अराजकता फैल जाती है और मनुष्य एव दूसरे को भेडिय के समान खान लगते हैं। जिस राजा की प्रजा सन्तुष्ट तथा राज भक्त होती है जिसके मत्री पुष्ठ और सतुष्ट होते हैं वह राजा बहुत काल तक राज्य करता है। जिस राजा के सैनिक सन्तुष्ट, आज्ञाकारी और भक्त होते हैं वह छोटी सना से भी देश विजय कर लेता है। जिसकी प्रजा परस्पर प्रेम पूर्वक दया भाव से रहती है वह सब प्रकार से सुखी रहती है और राष्ट्र दृड रहता है।[1] राजा को अत्यन्त दयालु तथा क्षमावान् समझकर लोग उसकी आज्ञा का उल्लघन करते हैं और उसका भय जाता रहता है इस लिय राजा को न तो अधिक कोमल और न अधिक तीक्ष्ण होना चाहिय। उसे अपना आवरण वसत ऋतु के सूर्य के समान करना चाहिय अर्थात् उसे वसत के सूर्य के समान तीक्ष्ण होना चाहिय (वसत के सूर्य की धूप म न तो अधिक पसीना आता है और न अधिक ठडक होती है)। राजा को कभी लालच नही करना चाहिय। उचित कर लगाना चाहिये। लालची राजा अपना तथा राष्ट्र का, दोनो का नाश करता है। लालच को छोड कर

त्रय्या सवृतमत्रश्च राजा च भवितुमर्हति।
वृजिन च नरेन्द्राणा नान्यच्चरक्षणा परम् ॥ १४
चातुर्वर्ण्यश्च धर्मश्च रक्षितव्या समीक्षिता।
धर्म सकररक्षा च राज्ञा धर्म सनातन ॥ १५ शा प अ २७

1 रक्षाधिकरण युद्ध तथा धर्मानुशासनम्।
मंत्रचिन्ता सुख काले पञ्चभिर्वर्द्धते मही ॥२४ शा० प० अ० १३
यस्व वध्यवधे दोष स बध्यस्यावधेस्मृत।
सा चैव खलु मर्यादा यामय परिवर्जयेत ॥२७
तस्मात्तीक्ष्ण प्रजा राजा स्वधर्मे स्थापयेत्तत।
अन्योन्य भक्षयन्तोहि प्रचरे पुवृकाइव ॥२८ शा० प० अ० १४२
यस्य स्फीतो जनपद सम्पन्न प्रियराजक।
सन्तुष्ट पुष्ट सचिवो दृढमूल स पार्थिव ॥३
यस्य योधा सुसन्तुष्टा सान्त्विता सूपधास्थिता।
अल्पेनापि स दण्डेन महीं जयति पार्थिव ॥४
पौर जान पदा यस्य भूतेपु च दयालव।
सधना धान्यवन्तश्च दृढ मूल स पार्थिव ॥५ शा० प० अ० ६४

राजा को प्रेम का बर्ताव करना चाहिये। जो राजा अधिक कर लेते हैं और आलसी होते हैं उनसे प्रजा द्वेष करने लगती है। राजा को बुद्धिमानी से बछड़े के समान राष्ट्र को दुहना चाहिये। जैसे दूध पीकर हृष्ट-पुष्ट होकर बछड़ा खूब मेहनत करता है और भारी बोझ ढो सकता है और दुर्बल बछड़ा कुछ काम नहीं कर सकता उसी प्रकार राजा उचित कर लगा कर स्वयं को शक्तिशाली बनाये और राष्ट्र का पालन करे।[1] जो राजा इसके विपरीत करता है और शास्त्र विरुद्ध अधिक कर लेकर प्रजा को कष्ट देता है वह आत्मघात करता है। जो राजा ऐसा करता है वह दूध पीने वाले आलसी के समान है जो दूध पीने की आशा से गाय का थन काट लेता है। जो दुधारू गाय की सेवा करता है वही नित्य दूध पीता है। इसी प्रकार जो राजा राष्ट्र की सेवा करता है वही अपने कोष की वृद्धि करके सुख को प्राप्त हो सकता है। कर लेते समय राजा को माली के समान आचरण करना चाहिये। संकट के समय राजा राष्ट्र से धन ले सकता है परन्तु संकट के टल जाने पर उसे प्रजा का ऋण ब्याज सहित चुका देना चाहिये। राजा को संकट के समय इस प्रकार प्रजा को समझा बुझा कर लेना चाहिये कि "इस समय मेरे ऊपर (राष्ट्र पर)

---

1. क्षममाणं नृपं नित्यं नीच परिभवेज्जन ।
हस्तियन्तागजस्येव शिर एवारुरक्षति ॥३९
तस्मान्नैव मृदुर्नित्य तीक्ष्णो नैव भवेन्नृप ।
वसन्तार्क इव श्रीमान्न शीतो न च घर्मद. ॥४० शा० प० अ० ५६
संवेक्ष्य तुतया राजा प्रयेशा सतत करा ।
नोच्छिन्द्यादात्मानो मूलं परेषाञ्चापितृष्णया ॥
ईहाद्वाराणिसरुध्य राजा सम्प्रीत दर्शन ।
प्रद्विषन्ति परिख्यातं राजानमतिखादिनम् ॥
प्रद्विष्टस्य कुत. श्रेयो नाप्रियो लभते फलम् ।
वत्सौपम्येन दोग्धव्यं राष्ट्रमक्षीण बुद्धिना ॥
भृतो वत्सो जातबल पीडा सहति भारत ।
न कर्म कुरुते वत्सो भृशं दुग्धो युधिष्ठिर ॥
राष्ट्रमप्यतिदुग्धंहि न कर्म कुरुते महत् ।
यो राष्ट्रमनु गृह्णाति परिरक्षन् स्वयं नृप ॥
संजातमुपजीवन मलभते सुमहत्फलम् ।
आपदर्थं च निर्यातं धनं त्विहविवर्द्धयेत्त ॥१८–२३ शा० प० अ०

घोर संकट आ उपस्थित हुआ है इसलिये आपकी रक्षा के लिये मैं आपसे धन की सहायता चाहता हूँ। संकट दूर होने पर मैं आपका सब धन लौटा दूँगा"। इस प्रकार महाभारत में अधिक कर लेने की व्यवस्था की गई है। इस प्रकार कर लगाने से प्रजा सन्तुष्ट रहती है।[1]

मंत्री—महाभारत में मन्त्रियों का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि चार वेदों के ज्ञाता पवित्र स्पष्टवक्ता ब्राह्मण (विद्वान), आठ शस्त्रास्त्र युक्त बलवान क्षत्री, इक्कीस धनवान वैश्य, तीन विनीत और अपने कार्य में चतुर पवित्र शूद्र और आठ गुणों से युक्त सूत राजा की सभा में मन्त्रि आदि होने चाहिये। ये सब लोग पचास वर्ष की आयु वाले अनुभवी, स्पष्टवक्ता, द्वेष रहित, कार्याकर्म सम्बन्धी, विवादों का निर्णय करने में समर्थ, लोभ रहित और व्यसनों से शून्य होने चाहिये। राजा को आठ मन्त्रियों के बीच में बैठ कर मन्त्रणा करनी चाहिये। राजा को अपना निर्णय लोगों को भेज कर प्रजा को प्रदर्शित कराना चाहिये। इस प्रकार महाभारत में आठ मन्त्रियों की मन्त्रि-परिषद का वर्णन आया है। जिस मन्त्रि पर राज्य की प्रजा का विश्वास हो राजा को उसी मन्त्रि को मन्त्र तथा दण्ड अधिकार देना चाहिये। अर्थात् ऐसे ही मन्त्री के साथ मन्त्रणा करे और ऐसे ही मन्त्री को दण्ड विभाग का

---

१. अर्थ मूलोऽपि हिंसा च कुरुते स्वयमात्मन ।
करैरशास्त्र दृष्टैर्हि मोहात्संपीडयन प्रजा ॥
ऊधश्छिन्द्यात्तु यो धेन्वा क्षीरार्थी न लभेत पयः ।
एवं राष्ट्रमयोगेन पीडितं न विवर्द्धते ॥
योहि दोग्ध्रीमु पास्ते च स नित्यं विन्दते पयः ।
एवं राष्ट्रमुपायेन भुञ्जानो लभते फलम् ॥
अथ राष्ट्र मुपायेन भुज्यमानं सुरक्षितं ।
जनयत्यतुलां नित्यं कोश वृद्धिं युधिष्ठिर ॥ १९-१८ शा. प. अ. ७१
माला करोपमो राजन् भव माङ्गारिकोपम ।
तथा दुक्तश्चिरं राज्यं भोक्तुं शक्यसि पालयन् ॥ २०
पर चक्राभियानेन यदि ते स्याद्धनक्षयः ।
अथ साम्नैव लिप्सेथा धनमब्राह्मणेषु यत् ॥ २१ शा. प्र. अ० ७१
अस्मापद्दि घोरायां सम्प्राप्ते दारुणे भये ।
परित्राणाय भवतः प्रार्थयिष्ये धनानि वः ।
प्रतिदास्ये च नर्वतां सर्वं चाहं भयक्षये ॥ २६ शा० प० अ० ८७

अधिकार सौंपे । आठों मन्त्रियों में बैठकर निर्णय करके निर्णय की राजा घोषणा कराये ।[1]

मित्र—महाभारत में भीष्म पितामह ने सहार्थ, भजमान, सहज और कृत्रिम, इन चार प्रकार के मित्रों का वर्णन किया है। जब एक राजा किसी दूसरे राजा को इसलिये मित्र बनाता है कि किसी तीसरे राजा के राज्य पर आक्रमण करके उसे आपस में बाँट लिया जाय तो वह एक दूसरे के "सहार्थ" मित्र कहलाते हैं। सहार्थ का अर्थ है समान स्वार्थ वाले। जो राजा एक दूसरे के पीढ़ी दर पीढ़ी मित्र चले आते हों तो वे 'भजमान' मित्र कहलाते हैं। जो सम्बन्धी होने के कारण मित्र हों उन्हें "सहज" मित्र कहते हैं और जो लोभ के कारण मित्रता करते हैं वे 'कृत्रिम" मित्र कहलाते हैं। इनमें बीच के दो मित्र श्रेष्ठ बतलाये गये हैं। भीष्म का कथन है कि राजा को मित्रों की सदा रक्षा करनी चाहिये। मनुष्य का चित्त चचल होता है, इसलिये राजा को कभी किसी का पूर्ण विश्वास नहीं करना चाहिये और अत्यावश्यक कार्य उसे स्वयं करने चाहिये। परन्तु राजनीति में "मित्र" का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। इसलिये मित्र को बनाने और उसके साथ व्यवहार करने में शान्ति पर्व में स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है।[2]

---

१. चतुरो ब्राह्मणान् वैद्यान् प्रगल्भान् स्नातकान् शुचीन ।
क्षत्रियांश्च तथा चाष्टौ बलिन शस्त्रपाणिन ॥
वैश्यान् वित्तेन सम्पन्नानेक विंशतिसंख्यया ।
त्रींश्चशूद्रान् विनीतांश्च शुचीन् कर्मणि पूर्वके ॥
अष्टाभिश्च गुणैर्युक्त सूत पौराणिक तथा ।
पञ्चाशद्वर्ष वयस प्रगल्भमनसूयकम् ॥
श्रुतिस्मृति समायुक्त विनीत समदर्शिनम् ।
कार्यं विवदमानानां शक्तमर्थेष्वलोलुपम् ॥
वर्जित चैव व्यसनै सुघोरै सप्तभिर्भृशम् ।
अष्टाना मन्त्रिणा मध्येमन्त्र राजोपधारयेत् ॥
तत सम्प्रेषयेद्राष्ट्रे राष्ट्रीयाय च दर्शयेत् ।
अनेन व्यवहारेण द्रष्टव्यास्तिवते प्रजा सदा ॥ ७–१२, शा प अ० ८५
तस्मै मन्त्र प्रयोक्तव्योदण्डनाधित्सतानृप ॥
पौर जानपदा यस्मिन विश्वासो धर्मतो गता ॥ ४५ शा. प. अ० ८३
२. चतुर्विधानि मित्राणि राज्ञा राजन् भवन्त्युत ।
सहार्थो भजमानश्च सहज कृत्रिमस्तथा ॥ ३

कोष—महाभारत में लिखा है कि प्रजा ने मनु के कोष के लिये पशु और हिरण्य का पचासवां भाग देना स्वीकार किया था। अत्यन्त प्राचीन काल में यही कर था। इसी को राजस्व अथवा वेतन कहते थे। कोष वास्तव में राज्य का मुख्य अंग है, बिना कोष के राजा कुछ नहीं कर सकता है। महाभारत में स्पष्ट लिखा हुआ है कि शास्त्रानुसार एकत्र किया हुआ बलिका छठवां भाग, कर तथा अपराधियों से दण्ड में प्राप्त हुआ धन राजा की आय अथवा राजा का निजी धन समझा जायगा। महाभारत में राज्य की आय के भिन्न भिन्न विभागों का वर्णन किया गया है। लवण, खान, जलमार्गों के पार करने का कर, शुल्क आदि सब राज्य की आय के विभाग थे। ये सब राज्य कोष में जमा होते थे। महाभारत में यह भी स्पष्ट लिखा है कि कर प्राप्त करने में राजा कदापि लालच न करे और प्रजा पर उचित कर लगाये जायँ।[1]

दण्ड—महाभारत में भीष्म ने कहा है कि "सब कुछ दण्ड के ही

सम्बन्धः पूर्वजानां यस्तेन योऽन्य समाययौ।
मित्रत्वं कथितं तच्च सहजं मित्रमेव हि ॥ ७
वृत्तिग्रहणतियः स्नेहं नरस्य कुरुते नरः।
तन्मित्रं कृत्रिमं प्राहुर्नीति शास्त्रविदोजनाः ॥ ८
चतुर्णां मध्यमौ श्रेष्ठौनित्यं शँङ्क्यौ तथाऽपरौ।
सर्वे नित्यं शङ्कितव्यः प्रत्यक्षं कार्यमात्मनः ॥ ९
नहि राजा प्रमादो वै कर्तव्यं मित्र रक्षणे।
प्रमादिनं हि राजानं लोकाः परिभवन्त्युत ॥ १७
असाधुः साधुतामेति साधुर्भवति दारुणः।
अरिश्च मित्रं भवति मित्रञ्चापि प्रदुष्यति ॥ १८
अनित्यचित्तः पुरुष स्तस्मिन् को जातु विश्वसेत्।
तस्मात्प्रधानं यत्कार्यं प्रत्यक्षं तत्समाचरेत ॥ १६ शा. प. अ. ८०

1. पशूनामधिपञ्चाशद्धिरण्यस्यतथैवच ॥
धान्यस्य दशमं भागं दास्यामः कोशवर्द्धनम।
कन्याशुल्के चारुरूपां विवाहेषूद्यतासुम् ॥ २३, २४ शा. प. अ. ६७
बलिषष्ठेन शुल्केन दण्डेनापराधिनाम।
शास्त्रनीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम् ॥ १० शा. प. अ. ७१
आकरे लवणे शुल्के तरे नागबले तथा।
न्यसेदमात्यान्नृपति. स्वाप्तान् वा पुरुषान् हितान् ॥२६ शा. प. अ. ६६

अधीन है"। दण्ड के दो रूप बतलाये गये हैं एक अप्रत्यक्ष और दूसरा प्रत्यक्ष। अप्रत्यक्ष रूप में दण्ड को परमेश्वर और अग्नि से उपमा दी गई है क्योंकि वह दुष्टों के लिये यम के समान मारने वाला और अग्नि के समान जलाने वाला है। प्रत्यक्ष रूप में दण्ड की एक ऐसे भयंकर राक्षस से उपमा दी है जिसका शरीर काला, चार दाढे, चार भुजाएँ, आठ पैर, अनेक नेत्र, शंकु नाक और शरीर पर खड़े रोम हैं। दण्ड इस प्रकार का उग्र रूप धारण किये रहता है और सब प्रकार के अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित रहता है।[1] महाभारत में इन्द्र मान्धाता से कहते हैं कि निर्बल की रक्षा करने के लिये ब्रह्मा ने बल (दण्ड) की रचना की है क्यों कि निर्बल की रक्षा करना बडा भारी सत्कर्म है। रथ, अश्व, गज, पैदल, नौका, विष्टि,[2] दैशिक,[3] और चर मिल कर अष्टांग बल कहाते हैं।[4] अत दण्ड के तीन रूप हैं—सेना, राजदण्ड, और दुष्टों का नियमण।

सैन्यबल के विषय में महाभारत में बडा विस्तृत विवरण दिया हुआ है। भीष्म ने कौरवों की सेना का आधिपत्य स्वीकार करते समय सेनापति के समस्त गुणों का वर्णन कर दिया है। भीष्म बोले कि 'मैं युद्ध तथा व्यूह रचना जानता हूँ। भृतकों और अभृतकों से काम लेना जानता हूँ। आगे पीछे युद्ध में हटना जानता हूँ। हे राजन्! मैं बृहस्पति के समान हूँ, देवताओं गन्धर्वों और मनुष्यों की व्यूह रचना जानता हूँ। इस से मैं पाण्डवों को

यस्मिन् हि सर्वमायत्तं स दण्ड इह केवल. ।।८ शा. प. अ. १२१
दैवं हि परमो दण्डो रूपतोऽग्निरिवोत्थित ।।१४ शा.प. अ. १२१

1. नीलोत्पल दलश्यामश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुज
   अष्ट पान्नैकनयनं शङ्कुकर्णोर्ध्वरोमवान ।। १५
   जटी द्विजिह्वस्ताम्रास्यो मृगराज तनुच्छद ।
   एतद्रूपं बिभर्त्युग्रं दण्डो नित्यो दुराधर ।। १६
   दण्डो हि भगवान् विष्णुर्दण्डो नारायणः प्रभु. ।
   शश्वद्रूपं महद्बिभ्रन्महान् पुरुष उच्यते ।। २३ शा० प० अ० १२१
2. विष्टि=माल ढोने वाले, बारबरदार
3. दैशिक=सैनिकों में उत्तेजना उत्पन्न करने का उपदेश देने वाले।
4. रथा नागा हयाश्चैव पादाश्चैव पाण्डव ।
   विष्टिर्नाविचराश्चैव दैशिका इतिचाष्टमम् ।। ४१ शा० प० अ० ६१

चकित कर दूंगा। तुम मत घबडाओ। तुम्हारी सेना की रक्षा करता हुआ मैं युद्ध विद्या के अनुसार शत्रुओं से युद्ध करूंगा।[1]

देश अथवा राज्य (पुर)—देश अथवा राज्य भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। महाभारत में भिन्न भिन्न देश के राजाओं के लिये भिन्न भिन्न संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है। राजा की महिमा में एक श्लोक शान्ति पर्व में आया है जिस का अर्थ है कि "राजा, भोज, विराट्, सम्राट् क्षत्रिय, भूपति, और नृप शब्दों से जिस की स्तुति की जाती है उस की कौन पूजा नहीं करेगा"।[2] इन सब शब्दों का एक ही अर्थ नहीं है। महाभारत में लिखा है कि जब युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया तब उन को सम्राट की पदवी मिली थी। मध्य देश के राजा विराट् कहलाते थे। विदर्भ के राजा भोज कहलाते थे। इस प्रकार महाभारत में भिन्न भिन्न विस्तार वाले राज्यों के राजाओं की भिन्न भिन्न पदवियां लिखी हुई हैं। महाभारत के उद्योगपर्व में भिन्न भिन्न प्रकार की पौर जानपद संस्थाओं का वर्णन है। शान्ति पर्व में दुर्गयुक्त पुर के विषय में यह उपदेश दिया गया है कि उसका दृढ़ परकोटा और खाई हो, उसमें धान्य शस्त्रास्त्र हाथी घोड़े और रथ आदि हो।[3]

प्रजा—प्रजा की रक्षा करना राजा का परम धर्म बतलाया गया है, यदि राजा प्रजा को कष्ट दे तो राजा को कठोर दण्ड देना चाहिये। भीष्म

---

१ नमस्कृत्य कुमाराय सेनान्ये शक्तिपाणये।
अहं सेनापतिस्तेऽद्य भविष्यामि न संशय ॥ ७
सेना कर्मण्य भिज्ञोऽस्मि व्यूहेषु विविधेषु च।
कर्मकारयितुञ्चैव भृतानाप्यभृतास्तथा ॥ ८
यात्रायाने च युद्धे च तथा प्रशमनेषुच।
भृशं वेद महाराज यथा वेद बृहस्पति ॥ ६
व्यूहानान्चसमारम्भान् दैव गान्धर्व मानुषान्।
तैरहं मोहयिष्यामि पाण्डवान् व्येतु ते ज्वर ॥ १०
सोऽहं योत्स्यामि तत्वेन पालय स्तव वाहिनीम्
यथावच्छास्त्रतो राजन् व्येतु ते मानसो ज्वर ॥ ११

महाभारत—उद्योगपर्व, अध्याय, १६४

२. राजाभोजो विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृप।
य एभि स्तूयते शब्दै कस्त नार्चितुमर्हति ॥ ५४ शा० प०,अ० ६८

३. यत्पुरं दुर्ग सम्पन्नं धान्यायुधसमन्वितम्।
दृढ़प्राकारपरिखं हस्त्यश्वरथ सङ्कुलम् ॥ शा० प० अ० ८६

का कथन है कि ऐसे दुःख देने वाले राजा को प्रजा मार डाले। जो राजा प्रजा की रक्षा न करे तो प्रजा एकत्र होकर उसे पागल कुत्ते की भांति मार डाले।[1] प्रजातन्त्र राज्य का वर्णन ऊपर किया जा चुका है कि राजा प्रजा द्वारा निर्वाचित होना है। महाभारत में लिखा है कि प्रतीप ने अपने ज्येष्ठ कुमार देवापिका का राज्याभिषेक करना चाहा परन्तु पौर-जानपद ने उस का इसी लिये विरोध किया कि वह कोढ़ी था। उसका अभिषेक न हो सका।

कौटिल्य—कौटिल्य का नाम विष्णुगुप्त था। इन्हे चाणक्य भी कहते हैं। सिकन्दर के भारतवर्ष पर आक्रमण के समय यह तक्षशिला विश्वविद्यालय में अध्यापक थे। यह नीतिशास्त्र के विद्वान पण्डित थे। सिकन्दर के आक्रमण के समय उन्होंने यह भलीभांति समझ लिया था कि भारतवर्ष में ऐक्य का अभाव है। उसी समय में इस विश्वविद्यालय में चन्द्रगुप्त शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। कौटिल्य ने इनको होनहार कुलीन तथा योग्य विद्यार्थी जान कर इनके ऊपर उन्होंने विशेष ध्यान दिया और अन्त में उन्होंने इनको नन्द वंश का अन्त करके सम्राट बनवा दिया। ये चन्द्रगुप्त मौर्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। कौटिल्य ने इनके शासन काल में प्रधान मन्त्री का कार्य किया और इनकी शासन व्यवस्था को ठीक करके इनके साम्राज्य को शक्तिशाली बनाया।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र नाम का एक ग्रन्थ लिखा जिसमें उन्होंने राजनैतिक सम्बन्धी समस्त विषयों का वर्णन किया। संसार में आज तक कोई एक ग्रन्थ ऐसा नही जिसमें राजशास्त्र सम्बन्धी सब विषयों का वर्णन हो। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजनैतिक सम्बन्धी समस्त विषयों का वर्णन है। भारतवर्ष में सृष्टि के आरम्भ से कौटिल्य के समय तक जितने ग्रन्थ राजनीति पर लिखे गये हैं उन सब का तत्व निकाल कर कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में रख दिया है। अपने ग्रन्थ को वे इन शब्दों से आरम्भ करते हैं। "प्राचीन काल में नीतिशास्त्र के आचार्यों ने पृथ्वी को विजय करने और पृथ्वी का पालन करने के सम्बन्ध में जितने विषयों का वर्णन किया है प्रायः उन सब का तत्व निकाल कर, अर्थशास्त्र का निर्माण किया है"।[2] ऐसा वर्णन करके

१. अरक्षितारं हर्तारं विलोप्तारमनायकम्।
तं वै राजकलिं हन्युः प्रजाः सन्नह्य निर्घृणम्॥ ३२
अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः।
स संहत्य निहन्तव्यः श्वेव सोन्माद आतुरः॥ ३३ अनुशासनपर्व, अ० ६१

२. पृथिव्यालाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्तावितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम्॥१ अधि० १

प्रथम अधिकरण के प्रथम अध्याय में कौटिल्य ने सम्पूर्ण ग्रन्थ में जिन-जिन विषयों का वर्णन किया है उन सब का उल्लेख किया है।[1]

अर्थशास्त्र—कौटिल्य ने अर्थशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार की है "मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार को अर्थ कहते हैं और मनुष्यों द्वारा निवास की हुई भूमि को भी अर्थ कहते हैं इसलिये भूमि की प्राप्ति उस भूमि पर रहने वाले मनुष्यों का पालन-पोषण तथा उन मनुष्यों के पारस्परिक व्यवहार सम्बन्धी उपायों को अर्थशास्त्र कहते हैं।"[2]

कौटिल्य ने चार प्रकार की विद्याएं मानी हैं—[3] आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति।

(१) आन्वीक्षकी (विज्ञानशास्त्र) समस्त ज्ञान-विज्ञान का दीपक तथा समस्त कार्यों का साधन और समस्त धर्मों का आधार है।[4]

(२) त्रयी— ऋक्, यजुर, साम, वेद, वेदांग, उपनिषद् शास्त्रादि इस विद्या के अन्तर्गत हैं।[5]

(३) वार्ता—कृषि, व्यापार पशुपालन तथा धान्य, पशु, सोना, चाँदी आदि को प्राप्त करना तथा पारस्परिक व्यवहारों का संचालन करना इस विद्या का कार्य है।[6]

(४) दण्ड नीति—इसके अन्तर्गत् राजनीति और दुर्नीति का वर्णन है, आन्वीक्षकी, त्रयी और वार्ता आदि का सुचारु रूप से संचालन करने के

---

१. शास्त्रसमुद्देश' पञ्च दशाधिकरणानि स पञ्चाशदध्यायशतंसाशीति प्रकरणशतं षट श्लोक सहस्त्राणीति ॥१६४ अधि० १

२. मनुष्याणावृत्तिरर्थ ॥ १ मनुष्यवती भूमिरित्यर्थ' ॥ २ तस्या. पृथिव्या लाभ पालनोपाय. शास्त्रमर्थशास्त्रमिति ॥ ३ ॥ अधि० १५ अ० १

३. आन्वीक्षकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्या' ॥ १ ॥ अधि० १ अ० २

४. प्रदीप सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्। आश्रय सर्वधर्माणाँ शाश्वदान्वीक्षकीमता ॥ २ ॥ अधि० १ अध्याय० २

५. सामर्ग्यजु वेदास्त्रयी ॥ १ ॥ अथर्व वेदेतिहास वेदौ च वेदा ॥ २ शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तम छन्दो विचिति ज्योतिषमिति चाङ्गानि ॥३ अधि० १ अध्याय० ३

६. कृषिपाशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता ॥ १ धान्य पशु हिरण्य कुप्य विशिष्ठ प्रदानादौपकारिकी ॥ २ ॥ तया स्वपक्षं परपक्षं वशीकरोति कोशदण्डाभ्याम ॥ ३ अधि० १ अध्याय ४

लिये दण्ड ही समर्थ है। दण्ड देने की नीति विवादि का निर्णय करना, धन प्राप्त करना आदि सब कार्य इस विद्या के अन्तर्गत हैं। परन्तु इस नीति का प्रयोग बड़ी बुद्धिमानी से करना चाहिये क्योंकि तीक्ष्ण दण्ड देने से प्रजा विरुद्ध हो जाती है। और न्यून दण्ड देने से लोग राजा का तिरस्कार करते हैं, इसलिये राजा को दण्ड का प्रयोग ठीक प्रकार से करना चाहिये। यदि ठीक प्रकार से दण्ड का प्रयोग किया जायगा तो राजा तथा प्रजा की धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि होगी।[1]

राजा—कौटिल्य का कथन है कि "राजा को काम क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष ये छः बातें जीतनी चाहिये। इस प्रकार जितेन्द्रिय रहकर परायी स्त्री, पराये धन, और व्यर्थ हिंसा से सदा बचा रहे। अधिक आराम, लालच, मिथ्या व्यवहार आदि राजा को त्याग देना चाहिये और उसे अधर्म तथा अनर्थ नहीं करना चाहिये। राजा को मर्यादा, आचार्य, और अमात्य की स्थापना ठीक प्रकार से समझ सोच कर करनी चाहिये। आचार्य और अमात्य ही उसे विपत्ति से बचाते हैं। राज्य रूप रथ एक पहिये से नहीं चलता। इस में अमात्यादि रूपी दूसरे पहिये की भी आवश्यकता है। यह जान कर राजा को अमात्यादि नियुक्त करने चाहिये। और उनके परामर्श से कार्य करना चाहिये।[2] साथ पढ़ने वालों में से जिस ने राजा की विपत्ति में सहायता की हो, अथवा बुद्धिमान, अनुभवी कुशल, नीति के जानने वाले कुलीन पवित्र, शूरवीर आदि लोगों में से आमात्यपद पर लोग नियुक्त करने चाहिये। अपने देश और उत्तम कुल में उत्पन्न,

1. आन्वीक्षकी त्रयी वार्तानां योग क्षेम साधनो दण्ड ॥ ४ तस्य नीति र्दण्डनीति ॥ ५ तीक्ष्ण दण्डो हि भूतानामुद्वेजनीय ॥ ११ मृदु-दण्ड परिभूयते ॥ १२ यथार्थदण्ड पूज्य ॥ १३ सुविज्ञात प्रणी तो हि दण्डः प्रजा धर्मार्थ कामैर्योजयति ॥ १४ अधि० १ अध्या० ४

२. तस्मादरि षड्वर्गत्यागेनेन्द्रियजयम कुर्वीत ॥ १ एव वश्येन्द्रिय पर-स्त्री द्रव्य हिंसाश्च वर्जयेत् ॥ ३ ॥ स्वप्न लौल्यमनृतमुद्ध तवेष व मनर्थ संयोग च ॥ ४
अधर्म संयुक्त चानर्थ संयुक्तं च व्यवहारम ॥ ५
मर्यादा स्थापयेदाचार्यानामात्यान्वा ॥ १२
य एनमपाय स्थानेभ्योवारयेयु ॥ १३
सहाय साध्यं राजत्व चक्रमेक न वर्तते।
कुर्वीत सचिवास्तस्मात्तेषा च शृणुयान्मतम् ॥ १५ अधि० १, अध्या० ७

समयानुकूल कार्य करने वाले, उतम कुटुम्बियों से युक्त, शिल्प विद्या का ज्ञाता, गम्भीर, विद्वान, अच्छी स्मृति वाला, कार्य तथा वार्ता में कुशल, तीव्र भाषण देने वाला, शीघ्र प्रबन्ध करने वाला, उत्साह पूर्ण, प्रभावशाली सहनशील, सच्चरित्र, प्रेमी, भक्ति करने वाला, बलवान, मानसिकशक्ति युक्त, द्वेष न करने वाला मन्त्री राजा को बनाना चाहिये।[1]

जो राजा सदाचारी होगा तो उसके अधीन पदाधिकारी भी सदाचारी होंगे। जो राजा प्रमादी होगा तो उसके अनुचर भी वैसे ही होंगे और राजा का नाश कर देंगे, इसलिये राजा को अपने कार्य के लिये एक समय विभाग बना लेना चाहिये। छायाघडी के अनुसार रात और दिन को आठ-आठ घडियों मे बाँट कर इसके आधार पर राज्य-कार्य सबन्धी समय विभाग बना लेना चाहिये।[2] कौटिल्य ने मनु के आधार पर यह समय विभाग बनाने को लिखा है। कार्य की आवश्यकतानुसार अपने कार्यक्रम मे वह परिवर्तन कर सकता है। जो समय विशेष पर करने के कार्य हो उन्हे पहले करना चाहिये क्योंकि उन कार्यो का समय निकल जाने पर सम्भव है फिर वह कार्य न हो सकें। राजा के निम्नलिखित विशेष कर्तव्य माने गये हैं— अपनी उन्नति, यज्ञ, प्रजा सम्बन्धी निर्देश, व्यवहार (मुकद्दमे) निर्णय करना, दान देना, समस्त प्रजा पर समान दृष्टि रखना, उनका पालन करना, शत्रु, मित्र तथा उदासीन पर दृष्टि रखना, उसके अनुसार कार्य करना, धर्मानुसार तथा शास्त्रानुसार कर्तव्य करना,[3] प्रजा के सुख मे अपना सुख

1. जनपदोऽभिजात. स्ववग्रहः कृतशिल्पश्चक्षुष्मान्प्राज्ञो
धारयिष्णुर्दक्षो वाग्मी प्रगल्भः प्रतिपत्तिमानुत्साह
प्रभावयुक्त. क्लेशसहः शुचिर्मैत्री दृढभक्तिः
शीलबलारोग्य सत्व संयुक्तः स्तम्भ चापलवर्जितः
संप्रियो वैराणाम कर्तेत्यमात्य संपत । १ । अधि० १, अध्या ६

2. राजानामुत्तिष्ठमान मनूत्तिष्ठन्ते भृत्याः ॥ १ प्रमाद्यन्तमनुप्रमाद्यन्ति ॥ २
द्विषद्भिश्चाति संधीयते ॥ ४ तस्मदुत्थानमात्मनः कुर्वीत ॥ ५
नाडिकाभिरहरष्टधारात्रि च विभजेत ॥ छायाप्रमाणेन वा ॥ ७

3. कार्य गौरवात्ययिकवशेनर ॥ ३४
सर्वमात्ययिकं कार्यं श्रृणुयान्नातिपातयेत ।
कृच्छ्रसाध्यमति क्रान्तमसाध्यं वाभिजायते ॥ ३५
राज्ञो हि व्रतमुत्थानं यज्ञ. कायानुशासनम् ।
दक्षिणावृत्तिसाम्यं च दीक्षितस्याभिषेचनम् ॥ ३८

और प्रजा के हित में ही में अपना हित राजा को सदैव समझना चाहिये। राजा का अपना स्वयं का कोई पृथक् हितकारी और प्रिय कार्य नहीं है। प्रजा का प्रिय तथा हित सम्बन्धी कार्य ही राजा को अपना कार्य समझना चाहिये।[1]

जो नीतिशास्त्र के अनुसार व्यवहार करता है वही वास्तव में राजा है। बलवान राजा को दुर्बल राजा से युद्ध करना चाहिये। अपने से अधिक बलवान अथवा अपनी बराबर शक्ति वाले से कभी युद्ध नहीं करना चाहिये। बलवान के साथ युद्ध करना ऐसा है जैसे पैदल का हाथी के साथ युद्ध करना। जिस प्रकार कच्चा बर्तन कच्चे बर्तन से टकराकर फूट जाता है उसी प्रकार दो दुर्बल राजा आपस में लड़कर नष्ट हो जाते हैं। शत्रु के विरोध से राजा को अपने कार्यों की रक्षा करनी चाहिये। जो राजा निर्बल होकर बलवान का आश्रय लेता है अथवा जो दुर्बल का आश्रय लेता है वह दुःख को प्राप्त होता है। जिस प्रकार लोग अग्नि के पास अपने वस्त्रों को समेट कर बचाते हुए बैठते हैं वैसे ही राजा के समीप मनुष्य को वर्तना चाहिये। जो राजा इन्द्रियों के अधीन है वह सब प्रकार की सेना रखते हुए भी नष्ट हो जाता है। कामातुर राजा के कार्य कभी सफल नहीं होते हैं। दण्ड की कठोरता के कारण सब लोग राजा से द्वेष करने लगते हैं। जो राजा लक्ष्मी की वृद्धि से सन्तुष्ट हो जाते हैं उनको राज्य लक्ष्मी छोड़ देती है।[2]

नीति में चतुर राजा को उचित है कि देश और काल को देखकर कार्य करे। जो ऐसा करता है उसके पास लक्ष्मी बहुत काल तक रहती है और प्रत्येक वस्तु की परीक्षा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष (अनुमान) साधनों द्वारा

---

१. प्रजा सुखेन सुख राज्ञ प्रजानां च हिते हितम् ?
नात्मप्रियं हित राज्ञ॰ प्रजाना तु प्रियं हितम् ॥ ३६ अधि० १, अध्या० १६

२. नीतिशास्त्रानुगोराजा ॥४७॥ बलवान हीनेन विगृह्णीयात् ॥५४॥ न-ज्यायसासमेनवा ॥५५॥ गजपादयुद्धमिव बलवद्भिर्ग्रह ॥५६॥ आमपात्र-मामेन सह विनश्यति ॥५७॥ अमित्र विरोधादात्मरक्षामावसेत् ॥६०॥ शक्तिहीनो बलवन्तमाश्रयेत् ॥६१॥ दुर्बलाश्रयो दुःखमावहति ॥६२॥ अग्निवद्राजानमाश्रयेत् ॥६३॥ इन्द्रियवशवर्ती चतुरङ्गवानपि विनश्यति ॥६६॥ न कामासक्तस्य कार्यानुष्ठानम् ॥७३॥ दण्डपारुष्यात्सर्वं जन द्वेष्यो भवति ॥७५॥ अर्थ तोषिणं श्री परित्यजति ॥७६॥

करनी चाहिये।[1] जो राजा विद्वान और शास्त्रों का ज्ञाता है परन्तु निर्बल है ऐसे राजा का संसार में आदर नहीं होता है। राजा का विशेष धर्म पराक्रम दिखाना है।[2] जो राजा प्रजा को बहुत कम दर्शन देते हैं उनकी प्रजा नष्ट हो जाती है और जो राजा प्रजा को अधिक दर्शन देता है उसकी प्रजा सदा सुखी रहती है। न्यायशील राजा को प्रजा उसे अपनी माता के समान पालक समझती है। ऐसा राजा इस लोक में सुख और अन्त में स्वर्ग को प्राप्त होता है।[3]

कौटिल्य वंशागत राजतन्त्र के पक्ष में है। परन्तु उसने स्वेच्छाचारी राजतन्त्र का विरोध किया है। उसका मत है कि राजा श्रेष्ठ, सदाचारी और विद्वान होना चाहिये और मन्त्री पुरोहित और अन्य शासनाधिकारियों द्वारा शासन प्रबन्ध करना चाहिये। कौटिल्य का शासन प्रबन्ध सम्बन्धी सिद्धान्त बड़ी उच्च कोटि का है। मन्त्री, पुरोहित, न्यायाधीश आदि अधिकारियों का वर्णन उचित स्थान पर आगे किया जायगा।

मन्त्री—ऊपर राजा के विषय में वर्णन करते समय यह बतलाया जा चुका है कि मन्त्री किन किन गुणों से युक्त होना चाहिये। कौटिल्य का मत है कि राजा को तीन चार मन्त्रियों के साथ अवश्य मन्त्रणा करनी चाहिये। क्योंकि जो राजा एक ही मन्त्री के साथ मन्त्रणा करता है वह ठीक ठीक निश्चय नहीं कर सकता। दो मन्त्रियों के साथ भी मन्त्रणा करना ठीक नहीं क्योंकि दो भी आपस में मिल सकते हैं और राजा को उचित परामर्श नहीं मिल सकता। परन्तु देश और काल को देखते हुए एक या दो मन्त्रियों से भी काम चल सकता है।[4]

---

१. नीतिज्ञो देश कालौ परीक्षेत ॥१११॥ परीक्षा कारिणी श्रीश्चिरं तिष्ठति ॥११२॥ सर्वाश्चसम्पदः सर्वोपायेन परिग्रहेत ॥११३॥ भाग्यवन्तमपरीक्ष्य कारिणं श्री परित्यजति ॥११४॥ ज्ञानानुमानैश्च परीक्षा कर्त्तव्या ॥११५॥

२. अल्पसारंश्रुतिवन्तमपिन बहुमन्यते लोक. ॥१४४॥ विक्रम धनाः राजानाः ॥१८२॥

३. दुर्दर्शना हि' राजान' प्रजा नाशयन्ति ॥२२६॥ सुदर्शनाहिराजान' प्रजारञ्जयति ॥२२७॥ न्याययुक्त राजानं मातरं मन्यन्ते प्रजा. ॥२२८॥ तादृशास्स राजा इह सुख सतस्स्वर्गं प्राप्नोति ॥२२९॥ चाणक्यं प्रणीत सूत्र ॥

४. मन्त्रिभिस्त्रिभिश्चतुर्भिर्वा सह मन्त्रयेत् ॥३७॥ अधि०, अध्या० १५ मन्त्रयमाणोह्येकेनार्थकृच्छ्रेषुनिश्चयं नाधिगच्छेत् ॥ ३८ एकश्च मन्त्री यथेष्टमनवग्रहश्चरति ॥ ३९

कौटिल्य ने मन्त्रणा के पाँच प्रकार बतलाये हैं—

१. कार्यों को प्रारम्भ करने की विधि, दुर्गादि की रचना, शत्रुओं में कलह करना।
२. योग्य सेनापति, दूत, योग्य पुरुष और द्रव्यादि एकत्र करना।
३. आगे आने वाले संकटों से बचने के उपाय करना।
४ देश और काल का विचार करना, और
५ अपने देश के अभीष्ट की सिद्धि के लिये विचार करना।[1]

इस प्रकार सबके साथ सम्मिलित सभा में सबके साथ एकदम परामर्श किया जा सकता है।

कौटिल्य का मत है कि मंत्री ऐसा होना चाहिये जो अपने देश में उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ हो, समयानुकूल कार्य करने वाला, शिल्प विद्या में कुशल, गम्भीर, विद्वान तीव्र भागी, शीघ्र प्रबन्ध करने वाला, उत्साही प्रभावशाली, क्लेश सहने वाला, सदाचारी, स्नेह रखने वाला, दृढ़ भक्ति वाला, बलवान, शील स्वभाव, मानसिक शक्ति वाला हो और चंचल, चपल, व्यर्थ बकवास न करने वाला और न व्यर्थ द्वेष करने वाला हो। ऐसा मंत्री राजा के महत्व का सूचक होता है। जब राजा ऐसा मंत्री नियुक्त करले तो वह उससे मन्त्रणा योग्य कार्यों म परामर्श ले। और मंत्री कल्याणकारी, और धर्म अर्थ तथा सम्बन्धी कार्यों में चतुर पुरुषों की भाँति सभा म निडर होकर बातें करे। राजा के संकेतों पर चले, सदा राज्य के हित में संलग्न रहे। राज सभा म मंत्री कभी झगड कर बातें न करे, असभ्यता का व्यवहार न करे, अविश्वसनीय कुवचन अथवा मिथ्या वचन न बोले, उपहास के समय खिलखिलाकर न हँसे अधोवायु और डकार आदि को शब्द करके न छोड़े, पाखण्डियों के समान वस्त्र न धारण करे, अच्छे अच्छे रत्न राजा से सबके सन्मुख न माँगे। राजसभा म आपस में एक दूसरे से बातें न करे, आँखें, होंठ, और भौंह न चलाये, राजा के वाक्य म आक्षेप न करे, स्त्रियों

द्वाभ्यां मन्त्रयमाणो द्वाभ्यां संहताभ्यामवगृह्येत ॥ ४०
त्रिषु चतुर्षु वा नैकान्तं कृच्छ्रेणोपहद्यते महादोषम् ॥४२
उपपन्नं तु भवति ॥४३॥
देशकालकार्यवशेन त्वेकेन सह द्वाभ्यामेको वा यथा सामर्थ्यं मन्त्रयेत ॥४६

1. कर्मणामारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसंपद्देशकालविभागो विनिपात प्रतीकारः कार्यसिद्धिरिति पञ्चाङ्गो मन्त्रः ॥४७॥
तानेकैकशः पृच्छेत् समस्तांश्च ॥४८॥

के सेवक, सामन्तों के दूत, राजा के द्वेषी से बातें न करे। तिरस्कृत या अनर्गल बातें बनाने वालों का संसर्ग न करे। हठ न करे और दलबन्दी न करे। इतने गुण मन्त्रियों में होने आवश्यक हैं।[1]

शासन प्रबन्ध—कौटिल्य का शासन प्रबन्ध पूर्णरूप से परिपूर्ण है। उसके शासन प्रबन्ध में आधुनिक शासन प्रबन्ध की सब बातें पाई जाती हैं अथवा हम कह सकते हैं कि आधुनिक शासन के शासन प्रबन्ध का आधार कौटिल्य का अर्थ शास्त्र ही है। ब्रिटिश शासन पद्धति कौटिल्य की शासन-पद्धति से बहुत कुछ मिलती है। ब्रिटिश कूटनीति का आधार भी कौटिल्य का अर्थशास्त्र ही प्रतीत होता है। ब्रिटिश राज्यतन्त्र मध्यकाल में कौटिल्य के अर्थशास्त्र के ही आधार पर थी। कौटिल्य जनतन्त्रीय राजतन्त्र के पक्ष में है। उसका मत है कि राजा को प्रजा की इच्छाओं को नहीं ठुकराना चाहिये। उसे लोकमत का ध्यान रखकर कार्य करना चाहिये। राजा वैधानिक, कार्यपालिका और न्याय का स्रोत है। राजा ही विधान अथवा आदेश प्रचलित करता है, शासन करता है और न्याय करता है। इन तीनों शक्तियों का प्रयोग वह अपने अधीनस्थ अस्थायी तथा स्थायी कर्मचारियों द्वारा करता है। अस्थायी कर्मचारियों में मन्त्री और पुरोहित हैं, अन्य कर्मचारी स्थायी होते हैं और अपने विभागों का प्रबन्ध करते हैं। मन्त्रियों के गुणों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। पुरोहित का पद बड़ा ऊँचा होता है। पुरोहित के गुणों के विषय में कौटिल्य का मत है कि "पुरोहित ऐसा व्यक्ति होना चाहिये जो अत्यन्त उन्नत कुल में उत्पन्न हुआ हो, शील स्वभाव, सच्चरित्र, वेद व्याकरण आदि धर्म-शास्त्रों का ज्ञाता, दैवी आपत्ति और शकुन शास्त्र का ज्ञाता दण्डनीति (न्याय) में कुशल, तथा मानुषी विपत्तियों को अथर्व वेद में लिखे मन्त्रों द्वारा दूर करने वाला हो। जिस प्रकार आचार्य को शिष्य पिता को पुत्र, स्वामी को

---

1. अनि संवासाद्धि स्थान स्थैर्यमवाप्नोति ॥७॥ मति कर्मसु पृष्टः तदात्वे चायत्यां च धर्मार्थ संयुक्तं समर्थं प्रवीणवद् परिषद्भीरु भीरुः कथयेत् ॥८॥ विगृह्य कथनम सभ्यमप्रत्यक्षमश्रद्धेयमनृतं च वाक्यमुच्चैरनर्मणि हासं वात-ष्ठीवने च शब्दवती न कुर्यात् ॥१५॥
मिथः कथनमन्येन जनवादे द्वन्द्व कथनं राज्ञो वेषमुद्धतकुहकानां च रत्नाति-शयप्रकाशाभ्यार्थनमेकाक्ष्योष्ठनिर्भोगं भ्रुकुटीकर्मवाक्याक्षेपणं च ब्रुवति बलवत्संयुक्त विरोधं स्त्रीभिः स्त्रीदर्शिभिः सामन्त दूतैर्द्वेष्य पक्षावक्षिप्तानर्थ्यैश्च प्रति संसर्गमेकार्थचर्यासंघातं च वर्जयेत ॥१६ अ० ९ अध्या० ४

सेवक मानता है उसी प्रकार राजा पुरोहित को पूज्य माने।[1]

व्यवस्थापिका—कौटिल्य ने व्यवस्थापिका के विषय में कोई पृथक् व्यवस्था नहीं की है। मंत्रियों की सहायता से तथा प्रजा की आवश्यकतानुसार विधानों को निर्माण करने का आदेश दिया है। उस समय अधिकतर परम्परागत रीति रिवाजों के आधार पर ही शासन करने की व्यवस्था थी। राजनीति को राजधर्म समझा जाता था और धर्म का एक अंग होने के कारण व्यवस्थापिका का आधार वेद-शास्त्र तथा मनु थे। कौटिल्य की विधान व्यवस्था मनुस्मृति के आधार पर है और मनु की वेदों के आधार पर। अन्य नवीन देश कालानुसार विधानों का निर्माण मंत्री और पुरोहितों के परामर्श से होता था। और राज्य के प्रत्येक कर्मचारी का यह कर्तव्य था कि वेद शास्त्रोक्त अथवा मनुस्मृति में बतलाये हुए नियमों द्वारा शासन करें। जो जो बातें धर्म के विरुद्ध थीं उनको करना अपराध समझा जाता था और उन्हीं धर्माचरणों को प्रचलित करना कार्य-पालिका का मुख्य उद्देश्य था। जो व्यक्ति अथवा संस्था शास्त्रोक्त आदेशों के विरुद्ध आचरण करती थी उनको न्याय-विधान द्वारा मनुस्मृति के अनुसार अपराधानुसार दण्ड दिया जाता था।

राजा के पुरोहित, मंत्री, अमात्यादि मिलकर देश कालानुसार लोक हित का ध्यान करते हुए कभी कभी नवीन विधान बनाते थे परन्तु ऐसा अवसर बहुत कम होता था कि जब किसी ऐसे विधान का निर्माण करना पड़े जिसके विषय में मनुस्मृति में आदेश नहीं है। कौटिल्य ने कूटनीति सम्बन्धी समस्त नियमों को वेद शास्त्रों तथा मनुस्मृति से लेकर अपने विचारानुसार कुछ और उनमें बढ़ा कर अर्थशास्त्र में उनका संग्रह किया है। उस समय में व्यवस्थापिका की पृथक् व्यवस्था न होने के कारण यह नहीं समझना चाहिये कि व्यवस्थापिका सम्बन्धी कार्यों में किसी बात की त्रुटि थी। तत्कालीन व्यवस्थापिका व्यवस्था पूर्ण रूप में परिपूर्ण थी और उस में किसी बात की त्रुटि न थी।

कार्यपालिका—कौटिल्य की कार्यपालिका में राजा, पुरोहित और मंत्री सम्मिलित थे। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है सर्वोच्च सत्ता राजा के

---

१. पुरोहित मुदितोदित कुलशील षडङ्गे वेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्यां चाभिविनीतमापदां दैव मानुषीणामथर्वभिरुपायैश्च प्रति कर्तारं कुर्वीत ॥१५॥
तमाचार्यं शिष्यः पितरं पुत्रो भृत्यः स्वामिनमिव चानुवर्तेत ॥१६॥
अधि० १, अध्याय ९

हाथ मे थी और कार्यपालिका की सबमे उच्च शक्ति राजा था। राजा कार्यपालिका की शक्ति को मत्री तथा अन्य स्थायी अधिकारियो द्वारा प्रयोग करता था। कौटिल्य की कार्य पालिका किसी बात में भी आधुनिक कार्य पालिका से कम न थी। उस समय भी कार्यपालिका वह समस्त कार्य करती थी जो वर्तमान समय में उन्नत से उन्नत देशमें करती है।

शासन की सुविधा के लिये देश को जनपदो मे विभाजित करने की व्यवस्था थी। जनपद नगरो में विभाजित थे और नगर ग्रामों मे। देश के शासक को समाहर्त्ता कहते थे। कौटिल्य ने लिखा है कि "समाहर्त्ता अपने देश को चार भागो में विभाजित करके फिर उसके ज्येष्ठ, मध्यम और लघु, तीन भाग करे। ये विभाग वहा की स्थानीय उपज तथा मनुष्य गणना के आधार पर होने चाहिये। जिन ग्रामो की आय अधिक हो उन्हे तथा दान मे दिये ग्रामो को समाहर्ता पृथक्-पृथक् लिखे, सेना और शस्त्र के व्यय में लगाये हुए ग्रामा को भी पृथक् लिखा जाय। इन समस्त ग्रामो के धान्य, पशु आदि और बेगार का ब्यौरा लिखना चाहिये। प्रत्येक मे कितना कर रूप मे लिया जाता है, यह भी लिखना चाहिये। समाहर्त्ता द्वारा नियुक्त किया हुआ पाच अथवा दस ग्रामो का एक गोप (चौधरी या पेटल) इन ग्रामो की देख भाल करे।"[1] अच्छी आय वाले ग्रामों की सीमा, जोतने योग्य खेत, बजर-भूमि, टीले आदि, धान के खेत, बाटिकाए, केले के खेत, ईख के खेत, जगल तालाब, देवालय, सदावर्त स्थान, प्याऊ, तीर्थस्थान, चरागाह, आदि के विचार से खेतो की सीमा, लगान, मुआफी तथा उनके क्रयविक्रय का वर्णन रजिस्टरो मे लिखवाय। गृह-कर देने वाले और न देन वालो के नाम भी लिखे जाये। घरो में कितने ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र है, यह भी लिखा जाय। किसान, ग्वाले, शिल्पी व्यापारी, श्रमिक, तथा सेवा वृत्ति से निर्वाह करन वाला के नाम भी समाहर्त्ता को रजिस्टर म दर्ज कराने चाहिये। इसी प्रकार जो कुछ भिन्न भिन्न प्रकार अपराधो के दण्डरूप प्राप्त होने वाले धन का विवरण भी रजिस्टर में लिखा जाना चाहिय। प्रत्येक कुल के स्त्री पुरुष, वृद्ध और बालका के कार्य, चरित्र, आजीविका तथा आय व्यय का भी लेखा रखना चाहिये। इसीप्रकार जनपद के चतुर्थांश भागो का प्रबन्ध

१. समाहर्त्ता चतुर्धा जनपदंविभज्य ज्येष्ठमध्य कनिष्ठ विभागेन
ग्रामाग्रं परिहारकमायुधीयं धान्य पशु हिरण्य
कुप्यविष्टि कर प्रतिकर मिदमेतावदिति निबन्धयेत् ॥१॥
तत्प्रदिष्ट पञ्चग्रामीं दशग्रामीं वा गोपश्चिन्तयेत् ॥२॥ अधि०२, अ०६५

स्थानिक (sub divisional officer) करे। गोप और स्थानिक अधिकारियों को प्रदेष्टा अधिकारी अपना कार्य करते हुए भी सहायता करते रहें। समाहर्ता के आदेशानुसार गृहस्थ के रूप में रहने वाले गुप्तचर ग्रामों में नियुक्त रहें। और वह ग्रामों की गुप्त बातों की सूचना उसको देते रहें। यह गुप्तचर ग्राम निवासियों की समस्त निजी बातों, रहन, सहन, चरित्र आदि को जानें। बाहर से आने जाने वालों का भी ब्यौरा रखें।[1] व्यापारियों के वेश में रहने वाले गुप्तचर अपने देश में उत्पन्न हुई राजकीय वस्तुओं और खान, सेतु, वन, कारखानों तथा खेत में उत्पन्न होने वाली सरकारी वस्तुओं का नाप, तोल, मूल्य आदि का पता रखें। अन्य देशों से आने वाली इसी प्रकार की वस्तुओं का भी पूरा ब्यौरा रखें। शुल्क, वाह्य शुल्क, मार्गरक्षक शुल्क, सीमा शुल्क, पशुओं के भोजन तथा हाट-बाजार शुल्क (Tax) दे दिया गया है या नहीं इसका भी ब्यौरा रखें। गुप्तचरों को इन समस्त बातों का पता रखना चाहिये। समाहर्ता की आज्ञा से और उसके अधीन गुप्तचर तपस्वी, कृषक, ग्वाले, व्यापारी आदि का वेश बनाकर सरकारी नौकरों की ईमानदारी का पता लगायें। पुराने चोरों के वेश में रहने वाले इन गुप्तचरों के घटक (Agents) वाटिकाओं, चौराहों, निर्जन स्थानों, सत्रों, पोखर, तालाबों, तीर्थ स्थानों वनों आश्रमों और पर्वतों में रहकर मित्र, शत्रुओं के आने जाने और ठहरने का पूरा पता रखें। इसी प्रकार समाहर्ता बड़ी सावधानी से कार्य करता हुआ राष्ट्र के हित के लिये सदैव कार्य करता

---

1. सीमावरोधेन ग्रामाग्रं कृष्टाकृष्ट स्थल केदारारामषण्डवाट वन वास्तु चैत्य-देव गृह सेतुबन्धश्मशान सत्रप्रपापुण्यस्थान विवीत पथि संख्यानेन क्षेत्राग्रं, तेन सीम्नां क्षेत्राणाम च मर्यादारण्य पथि प्रमाण संप्रदानविक्रयानुग्रह परिहार निबन्धान्कारयेत् ॥३॥ गृहाणाञ्च करदाकरद संख्यानेन ॥४॥ तेषु चैतावच्चातुर्वर्ण्यमेतावन्त कर्षक गो रक्षक वैदेहक कारुकर्मकरदासा-श्चैतावच्च द्विपद चतुष्पदमिदं च हिरण्य विष्टिशुल्क दण्डं समुत्तिष्ठतीति ॥५॥ कुलीनां च स्त्री पुरुषाणां बालवृद्ध कर्म चरित्रा जीव व्यय परिमाणं विद्यात् ॥६॥ एवं च जनपद चतुर्भागं स्थानिकश्चिन्तयेत ॥७॥ गोपस्थानिकस्थानेषु प्रदेष्टार कार्यं करणं बलिप्रग्रहं च कुर्युः ॥८॥ समाहर्तृप्रदिष्टा-श्च गृहपतिक व्यञ्जना येषु ग्रामेषु प्रणिहितास्तेषां ग्रामाणां क्षेत्र गृह-कुलाग्रं विद्युः ॥९॥ मानसंजाताभ्यां क्षेत्राणि भोग परिहाराभ्यां गृहाणि वर्णकर्मभ्यां कुलानि च ॥१०॥ तेषां जंघाग्रमायव्ययौ च विद्युः ॥११॥ प्रस्थितागतानां च प्रवास कारणमनर्थ्यानां च विद्युः ॥१२॥ अ० २ अध्या ३५

रहे। और समाहर्त्ता के सहायक गोप और अन्य अधिकारी तथा अन्य सब भी राष्ट्र के हित के लिये कार्य करते रहे।[1]

नागरिक—नगर के प्रबन्धकर्त्ता का नाम अर्थशास्त्र में नागरिक प्रयोग किया है। जिस प्रकार समाहर्त्ता समस्त राष्ट्र का प्रबन्ध करता है उसी प्रकार नागरिक नगर का प्रबन्ध करें।[2] नागरिक भी गोप नामक अधिकारी नियुक्त करे जो दस, बीस अथवा चालीस कुल का प्रबन्ध करे। गोप इन कुलों में स्त्री पुरुषों के जाति गोत्र, नाम तथा कार्यों का ज्ञान रखे, उनकी आय व्यय तथा पशु आदि का भी ज्ञान रखे। इसी प्रकार दुर्ग का प्रबन्ध करने के लिये चार स्थानिक नियुक्त किये जाय जो दुर्ग के प्रत्येक चतुर्थ भाग का प्रबन्ध करें। स्थानिकों के सहायक निरीक्षक नियुक्त किये जाय जो धर्मशालाओं का निरीक्षण करें और वहा ठहरने वाले धूर्त लोगों की सूचना स्थानिकों को दें और स्थानिक की आज्ञा पाने पर धर्मशाला का अध्यक्ष उनको वहाँ से निकाल दे। जिन लोगों को धर्माध्यक्ष (धर्मशाला का अध्यक्ष) जानता है और जो श्रेष्ठ पुरुष हैं उनको वह बिना स्थानिक की आज्ञा के भी धर्मशाला में ठहरा सकता है। शिल्पी लोग अपने कारखानों में आने वाले लोगों को वहीं ठहरा सकते हैं। विदेशी व्यापारियों को व्यापारी लोग अपनी दुकानों पर ठहरा सकते हैं। व्यापारियों को उचित है कि वे अनुचित व्यापार की सूचना नागरिक को दे दें। मद्य बेचने वाले, भोजन भंडार वाले, वेश्यायें अपने जान पहचान वाले लोगों को अपने पास ठहरा सकते हैं। जो मनुष्य धन का दुरुपयोग करे, फिजूल खर्ची करे अथवा अनुचित कर्म करे उसकी सूचना नागरिक को देनी चाहिये। जो वैद्य गुप्त रीति से लगे हुए घाव की चिकित्सा करे उसकी सूचना भी दी जाय। जो

---

१. एवं वैदेहक व्यंजना. स्वभूमिजानां राज पण्यानां खनिसेतुवनकर्मान्तक्षेत्र-जानांपरिणामर्घं च विद्युः ॥१३॥ परभूमिजातानां वारिस्थलपथोपयातानां सारफल्गुपण्यानां कर्मसु च शुल्कवर्तन्यातिवाकिगुल्मतरदेयभाग भक्त पण्यागार प्रमाणं विद्युः ॥१४॥ एवं समाहर्तृप्रदिष्टास्तापस व्यंजनां कर्षक गोरक्षक वैदेहकानाध्यक्षाणां च शौचाशौचं विद्युः ॥१५॥ पुराण चोर व्यंजनाश्चान्तेवासिनश्चैत्य चतुष्पथशून्यपदोदपाननदीनिपान तीर्थायतना-श्रमारण्य शैलवनगहनेषु स्तेनामित्रप्रवीर पुरुषाणां च प्रवेशन स्थानगमन प्रयोजनान्युपलभेरन् ॥१६॥ समाहर्ता जनपदं चिन्तयेदेवमुत्थितः चिन्तये श्चसंस्थास्ता संस्थाश्चान्या' स्वयोनयः ॥१७॥ अधि० २ अध्या० ३५

२. समाहर्तृवन्नागरिको नगरं चिन्तयेत् ॥१॥ अधि० २, अध्या० ३६

लोग इस बात की सूचना नागरिक को न देंगे तो वे अपराधी समझे जायेंगे। घर का स्वामी घर पर आने जाने वाले प्रतिथियों की सूचना दे, यदि न देगा तो अपराधी समझा जायेगा। यदि कोई अपराध भी प्रतिथि ने नहीं किया है और सूचना भी नहीं दी गई है तो सूचना न देने का दण्ड तीन पण होगा।[1]

अधिकारी वर्ग—कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में शासन व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिये कुछ अधिकारियों का वर्णन किया है। कुछ का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। शेष अधिकारी वर्ग निम्न प्रकार से हैं—

उपयुक्त—छोटे छोटे कर्मचारियों पर जो अध्यक्ष होता है उसे उपयुक्त कहते हैं। "उपयुक्त में समस्त गुण अमात्यों के से होने चाहिए और इनमें से प्रत्येक को शक्ति और योग्यतानुसार कार्य-भार सौंपना चाहिये। राजा को इनके कार्य-काल में समय समय पर इनकी परीक्षा लेनी चाहिये क्योंकि मनुष्यों की चित्तवृत्ति सदैव समान नहीं रहती है, पद के मद में चूर होकर भ्रष्टाचार में पड़ सकते हैं। मनुष्य का स्वभाव अश्व का सा होता है। उसे काम में लगाने से उछल कूद मचाता है। इसलिये राजा प्रधान अध्यक्ष, कर्मचारी, देश, काल, कार्य, नौकर, वेतन, धनप्राप्ति आदि के विषय में

---

1. दश कुलीं गोपो विंशति कुलीं चत्वारिंश कुलींवा ॥२
   स्वतस्यां स्त्री पुरुषाणां जातिगोत्र नाम कर्मभिः जंघाग्रमायव्ययौच विद्यात् ॥३

   एवं दुर्गं चतुर्भागं स्थानिकश्चिन्तयेत् ॥४
   धर्मावसथिनः पाषण्डिपथिकानावेद्य वासयेयुः ॥५
   स्वप्रत्ययांश्च तपस्विन श्रोत्रियांश्च ॥६
   कारुशिल्पिन स्वधर्मस्थानेषु स्वजन वासये युः ॥७
   वैदेहकाश्चान्योन्यं स्वकर्मस्थानेषु पण्यानाम देषकालविक्रेतारमस्वकरणंच निवेदयेयुः ॥८
   शौण्डिक पाक्वमांसिकौद निकरूपाजीवा परितज्ञ मावासयेयुः ॥९
   अतिव्यय कर्तारमत्या हितकर्माणं च निवेदयेयेयुः ॥१०
   चिकित्सक प्रच्छन्नव्रणप्रतीकारकारयितारम पथ्य कारिणं च गृहस्वामी च निवेद्य गोप स्थानिक योमुच्येतान्यथा तुल्य दोषः स्यात् ॥११
   प्रस्थितागतौ च निवेदयेत् ॥१२
   अन्यथा रात्रिदोषं भजेत ॥१३
   क्षेमरात्रिषुत्रिपणंदद्यात् ॥१४ अधि० २ अध्या० ३६

जानकारी रखे। छोटे छोटे अधिकारी परस्पर गुट्ट न बनालें, झगडा न करें और अपने अपने कार्य में सलग्न रहें क्योंकि यदि वे गुट्ट बनालेंगे तो राजा और प्रजा दोनों के धन को हड़प कर जायगे और यदि परस्पर झगडा कर लेंगे तो भी प्रजा अथवा राजा की हानि होगी। अत छोटे अध्यक्ष अपने अफसर को बिना सूचना दिये कोई कार्य न करें। परन्तु राजा को सकट से बचाने के कार्य में बडे अफसर की स्वीकृति लेने की आवश्यकता नही है। यदि छोटे अफसर अपने कार्य में लापरवाही करें तो उन्हें दण्ड दिया जाय जो इनके एक दिन के वेतन से दूना हो। और जो अफसर ठीक ठीक कार्य करें तो उनकी पद वृद्धि की जाय। जो अफसर राज्य को लाभ दिलाये और राज्य की आय की वृद्धि करे उसकी भी पद वृद्धि करनी चाहिये।[1]

कोशाध्यक्ष—कोशाध्यक्ष कोश में रखने योग्य रत्न, चन्दन, वस्त्र, धातु आदि वस्तुओं के सग्रह कर्त्ता भिन्न भिन्न वस्तुओं को सग्रह करें।[2]

सुवर्णाध्यक्ष—सुवर्णाध्यक्ष एक ऐसी अक्षशाला (सुवर्ण को साफ करने का स्थान) बनवाये जिसमें एक द्वार हो और चार कक्ष हो और उन चारों कक्षों का एक दूसरे म आने जाने का मार्ग न हो। विशिखा (सर्राफे) मे सुवर्ण बेचने वाला (सर्राफ) शिल्पी, कुलीन और विश्वास पात्र रखे जाय। बिना आज्ञा के किसी को अक्षशाला में न जाने दिया जाय, जो बिना आज्ञा के घुसे तो

---

१. अमात्य संपदोपेता सर्वाध्यक्षा शक्तित कर्मसुनियोज्या ॥१
कर्मसुचैषानित्य परीक्षा कारयेत ॥२
चित्तानित्यत्वान्मनुष्याणाम् ॥३
अश्व सधर्माणो हि मनुष्या नियुक्ता कर्मसु विकुर्वते ॥४
तस्मात्कर्तारं कारणं देश काल कार्यं प्रक्षेपमुदयं चैषु विद्यात् ॥५
ते यथा सदेशम सहता अविगृहीता कर्माणि कुर्युः ॥६
संहता भक्षयेयु विगृहीता विनाशयेयु ॥८
नचानिवेद्यभर्तु किंचिदारम्भं कुर्युरन्यत्रापत्प्रतीकारेभ्य ॥९
प्रमादस्थनेषुचैषामत्ययं स्थापयेद्दिवसवेतन व्ययद्विगुणम् ॥१०
यश्चैषा यथादिष्टमर्थं सविशेष वा करोति स स्थान मानौ लभेत ॥११
अधि० २ अध्या० ६

२. कोशाध्यक्ष कोशप्रवेश्यं रत्नं सारं फल्गु कुप्यंवातज्जात करणाधिष्ठित प्रति गृह्णीयात् ॥१ अधि० २ अध्या० ११

उसका सर्वस्व अपहरण करके उसे देश से निकाल दिया जाय। सुवर्ण की लिखाई को रजिस्टर में लिखा जाय और उस देश के समय सरकारी मुहर तथा अंगूठे आदि के चिह्नों का प्रयोग किया जाय। सुवर्ण शाला में तीन कार्य होते हैं क्षेपण, गुण और क्षुद्रक। मणि जड़ना क्षेपण कहलाता है। सुवर्ण सूत्रों को गूंथने के कार्य को गुण कहते हैं और सुवर्ण के पोले जेवर बनाने को क्षुद्रक कहते हैं।[1] इसके अतिरिक्त इस में सब प्रकार के सोने चांदी के आभूषण बनाने की रीति का वर्णन किया गया है। इसके साथ साथ इस प्रकरण में सुवर्ण और चांदी की व्यापार की रीति का भी वर्णन किया गया है।

कोष्ठगाराध्यक्ष—धान्य का संग्रह करने के स्थान को कोष्ठगार कहते हैं। कोष्ठगाराध्यक्ष इन दस प्रकार के कार्यों को ध्यान पूर्वक करे।

१. सीताध्यक्ष (सरकारी धान्य एकत्र करने वाले) द्वारा कर में आया हुआ धान्य का हिसाब।
२. ग्रामनिवासियों से प्राप्त किये हुए कर का हिसाब।
३. अन्य वस्तुओं पर लगाया हुआ उत्पत्ति का छठा भाग कर में आया है उसका हिसाब।
४. सेना सम्बन्धी कर का हिसाब।[2]
५. राज्य भेंट (बलिकर)
६. उत्सव आदि पर राज्यपितिधन।
७. समय पड़ने पर अधिक लगाया हुआ कर।
८. पशुओं पर लगाया हुआ कर।
९. राजदर्बार के समय भेंट में आया हुआ धन और।
१०. तालाब तथा वाटिकाओं पर लगाया हुआ कर। इसके अतिरिक्त उसे निम्न प्रकार से प्राप्त हुए धन का भी हिसाब करना चाहिए—

१. धान्य के विक्रय से प्राप्त धन।
२. सरकारी रुपये से मोल लिया हुआ धान्यादि।

---

1. सुवर्णाध्यक्ष सुवर्ण रजत कर्मान्तानाम सम्बन्धावेशनचतु शाला मेकद्वारा मक्षशाला कारयेत् विशिखामध्ये सौवर्णिक शिल्प वन्तमभिजातं प्रात्ययिक च स्थापयेत् ॥१, २ अधि० २ अध्या० १३
2. कोष्ठगाराध्यक्ष सीता राष्ट्र कृयिमपरिवर्तक प्रामित्यकापमित्यकसिंह निकान्यजातव्यय प्रत्यायोपस्थानान्युपलभेत् ॥१ अधि० २ अध्या० १५

३. व्याज के रूप में आया हुआ धन।

४. मजदूरों से लिया हुआ कर।

५. सेना, औषधालय, दुर्गनिर्माण आदि के खर्च के बाद बचा हुआ धन।[1]

पण्याध्यक्ष—सरकारी बेचे जाने वाली वस्तुओं को पण्य और इन वस्तुओं के बेचने वाले अधिकारी को पण्याध्यक्ष कहते हैं। पण्याध्यक्ष जल थल में उत्पन्न अनेक प्रकार की वस्तुओं तथा जलथल मार्गों से आने वाली वस्तुओं का और उनके मूल्य का ठीक ठीक ब्यौरा अपने रजिस्टर में रखता है। लोक में उनकी प्रियता तथा अप्रियता (Supply and demand) का ध्यान रखता है।[2] इसे इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि किस पदार्थ का अधिक और किस का स्वल्प संग्रह करना चाहिये। कौन सा पदार्थ कब और किसको बचना उचित है। जो विक्रेय वस्तु अधिक हो उसे खरीद कर व्यापार कौशल से उसका दाम बढादे और उसे बेचकर फिर भाव गिरा दे। अपनी भूमि में उत्पन्न राजकीय वस्तुओं को एक ही स्थान पर बिकवाये। अन्य देशों से आई हुई वस्तुओं को पृथक् स्थानों पर बिकवाये। दोनों प्रकार की वस्तुओं का विक्रय करते समय राज्य के लाभ का ध्यान रखे। यदि राज को अधिक लाभ और प्रजा को कष्ट हो तो राजा इसको रोके। शीघ्र बेचने वाली वस्तुओं (शाक, फल, आदि) के बेचने में देर नहीं करनी चाहिये।

---

१. सीताध्यक्षो पनीत सस्यवर्णक सीता ॥२
पिण्ड कर षड भाग सेना भक्त बलि कर उत्सङ्ग पार्श्व पारिहीणिक मौपायनिक कोष्ठेयकं च राष्ट्रम् ॥३॥ धान्य मूल्यंकोशनिर्हार प्रयोग प्रत्यादान च क्रयिमम् ॥४
सस्य वर्णानामर्धान्त रेण विनिमय परिवर्तक ॥५
सस्य याचान मन्यत प्रामित्यकम् ॥६॥ तदेव प्रति दानार्थमाप मित्यकम् ॥७
क्षुद्दकरोच कसक्तुशुक्तपिष्टकर्म तज्जीवनेषु तैलमीडनमौर अचाक्रि केष्विक्षूणां च क्षारकर्म सिंहनिका ॥८
नष्ट प्रस्मृतादिरन्यज्ञात ॥९
विक्षेपव्याधितान्तरारम्भशेषं च व्यय प्रत्याय ॥१०
तुलामानान्तर हस्तपूरणमुत्करो व्याजी पर्युषित प्रार्जित चो पस्थानमिति ॥११॥ अधि २, अध्या ० १५

२. पण्याध्यक्ष स्थल जलजाना नानाविधाना पण्याना स्थलपथ वारि पथोपयाताना सार फल्ग्वर्धान्तरं प्रियाप्रियता च विद्यात् ॥१ अधि० २, अध्या०१६

अनेक स्थानों पर बिकने वाली राजकीय वस्तुओं को नियत भाव पर बिकवाना चाहिये । भेद से बेचने पर यदि राज्य को हानि हो तो उस व्यापारी से हानि को पूरा कराना चाहिये ।

व्यापारियों से सोलहवां भाग कर, तोलने योग्य वस्तुओं का बीसवां भाग कर, लेना चाहिये । ये दोनों कर मान व्याजी और तुलामान कहलाते हैं, जो वस्तुएँ गिनी जाती हैं उनका ११ वां भाग कर लेना चाहिये । विदेशी सामान को कुछ नर्मी से साथ मंगाना चाहिये । मल्लाहों, काफिले वालों और व्यापारियों से कर लेने में नर्मी बर्तनी चाहिये । विदेशी व्यापारियों से लेन देन बिना सरकारी मुहर के हो सकता है परन्तु यदि उनके साथी वहीं के हों तो 'स्टाम्प' का प्रयोग किया जाय । बेचे जाने वाली वस्तुओं के मूल्य को बेचने वाला राजकीय वस्तुओं के मूल्य को एक ऊपर छेद वाली काठ की तालाबन्द सन्दूक में *डालता जाय और सायंकाल को सन्दूक सम्हलवादे ।*[1]

---

1. तथा विक्षेप संक्षेप क्रय विक्रय प्रयोग कालान ॥२॥
   यच्च पण्यं प्रचुरं स्यात्तदेकीकृत्यार्घमारोपयेत् ॥३॥
   प्राप्तेऽर्घे वार्घान्तरं कारयेत् ॥४॥
   स्वभूमि जानां राजपण्यानामेकमुखंव्यवहारं स्थापयेत ॥५॥
   पर भूमि जानामनेक मुखम् ॥६॥
   उभयं च प्रजानामनु ग्रहेण विक्रापयेत् ॥७॥
   स्थूलमपि च लाभंप्रजानामौपघातिकंवारयेत् ॥८॥
   अजस्र पण्यानामकालोपरोधं संकुलदोषं वानोत्पादयेत् ॥९॥
   बहुमुखं वा राजपण्यं वैदेहकाः कृतार्घं विक्रीणीरन् ॥१०॥
   भेदानुरूपं च वैधरणं दद्युः ॥११॥
   षोडषभागो मानव्याजी ॥१२॥
   विंशतिभागस्तुला मानम् ॥१३॥
   गण्यपण्यानामेकादशभाग ॥१४॥
   परभूमिजं पण्यमनुग्रहेणानाहयेत् ॥१५॥
   नाविक सार्थवाहेभ्यश्च परिहारमायतिक्षमं दद्यात ॥१६॥
   अनभियोगश्चार्थेष्वागन्तूनामन्यत्र सभ्योपकारिभ्यः ॥१७॥
   पण्याधिष्ठातारः पण्यमूल्यमेकमुखं काष्ठद्रोण्यामेकच्छिद्रापि
   धानायांनिदध्यु ॥१८॥
   अहन चाष्टमे भागे पण्याध्यक्षस्यार्पयेयु, इदंविक्रीतमिदं शेषमिति ॥१९॥
   : अधि० २, अध्या० १६

कुप्याध्यक्ष—चन्द्र, सागदत्त आदि की अच्छी लकड़ी और उनकी छाल आदि का प्रबन्ध करने वाला कुप्याध्यक्ष कहलाता है। कुप्याध्यक्ष वन के अफसरों द्वारा अच्छी-अच्छी लकड़ी मंगवाये। उनसे अच्छा सामान मेज कुर्सी, अल्मारी आदि बनवाये। वन में ऐसी लकड़ी की रक्षा की जाय, जो उसे काटे उनसे जुर्माना लिया जाय। कुप्याध्यक्ष सब प्रकार की कत्था, आदि की लकड़ी, औषधीय जड़ी बूटी आदि पर प्रतिबन्ध लगाये और उनके क्रय-विक्रय का संचालन करे और हिसाब रखे। देश-विदेश में उत्पन्न वस्तु, काष्ठादि से बनाये हुए भिन्न भिन्न बर्तन, तथा, अन्य वस्तुएं कुप्याध्यक्ष अपने अधीन कर्मचारियों से इकट्ठी कराये।[1]

आयुधागाराध्यक्ष—शस्त्रों के रखने के स्थान को आयुधागार कहते हैं शस्त्रों के भंडारी को आयुधागाराध्यक्ष कहते हैं। युद्ध में काम आने वाले, दुर्ग की रक्षा में काम आने वाले, शत्रु के नगर का नाश करने में काम आने वाले भिन्न-भिन्न प्रकार के यंत्र, यन्त्र, अस्त्र, शस्त्र कवच तथा अन्य युद्ध सम्बन्धी सामग्री आदि का प्रबन्ध करना इस अफसर का कार्य है। उसे इस विषय का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। वह इन यन्त्रों तथा वस्तुओं को बनवाने के लिये अच्छे अच्छे कारीगर नियुक्त करे और उनके वेतन तथा कार्य का प्रबन्ध करे। इन सब वस्तुओं को सुरक्षित स्थान में रखे समय समय पर उनकी सफाई कराये और धूप में रखे। बेकार अस्त्रों की मरम्मत करवाये। और उनके विषय में सब प्रकार की जानकारी रखे।[2] सर्वतोभद्र अर्थात् एक स्थान पर रखा हुआ चारों ओर बाण या गोली फेंकने वाला जामदग्न्य, बीच में छेद वाला बड़े बड़े गोले फेंकने वाला, बहुमुख-सब ओर गोले फेंकने वाला, विश्वघाती—कुछ भी न

---

1. कुप्याध्यक्षो द्रव्यवनपालैः कुप्यमानाययेत् ॥१॥द्रव्यवनकर्मान्तांश्चप्रयोजयेत्॥२
द्रव्यवनच्छिदां च देयमत्ययं चस्थापयेदन्यत्रापद्भ्यः ॥३॥
बहिरन्तरश्चकर्मान्ताविभक्ताः सर्व भाण्डिकाः ।
आजीवपुनरक्षार्थाः कार्याः कुप्योपजीविना ॥१८
२. आयुधागाराध्यक्षः सांग्रामिकं दौर्गकर्मिकं परपुराभिघा ॥अधि० २, अ० १७
तिकं चस्यन्त्रमायुधमावरणमुपकरणं च तज्जातकारशिल्पिभि
कृतकर्म प्रमाण कालवेतन फलनिष्पत्तिभि कारयेत् ॥१॥
स्वभूमिषु च स्थापयेत् ॥२
स्थानपरिवर्तनमातपप्रवातप्रदानं च बहुशः कुर्यात् ॥३॥
ऊष्मोपस्नेह क्रिमिभिरुपहन्य मान मन्यथा स्थापयेत् ॥४॥
जाति रूप लक्षण प्रमाणागममूल्यनिक्षेपैश्चोपलभेत् ॥५॥
अधि० २ अध्या० १०८

मालूम हो और शत्रु का छोटे ही नाश करे, आग लगाने वाला, सवारी पर चलने वाला यन्त्र, आग बुझाने वाला, ऊपर को उठा हुआ, छोटा, मध्य प्रकार का ये दस स्थित यन्त्र हैं। जल में तैरने वाला और शत्रु का नाश करने वाला सूत और चमड़े से बना हुआ बम, मूसल में लगा हुआ भाला, हाथी मार यन्त्र घूमने वाला यन्त्र, भिन्न-भिन्न प्रकार के गदा तथा फेंकने वाले यन्त्र, ये चल यन्त्र कहे जाते हैं।[1]

शक्ति, प्रास, कुन्त, हाटक भिण्डिपाल, वराह कर्ण, कणाय, कर्पण, त्रासिका, कार्मुक, कोदण्ड, द्रूण, आदि अनेक प्रकार के अस्त्र शस्त्रों तथा कवचों का वर्णन अर्थशास्त्र में दिया हुआ है। (इस विषय पर अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिये अर्थशास्त्र अधि० २ अध्या० १८ देखिये)

जितने भी राज्य सम्बन्धी महकमे हैं उन सबका ज्ञान आयुधागाराध्यक्ष को रखना आवश्यक है।[2]

शुल्काध्यक्ष—राजकीय चुंगी का जमा करने वाला अधिकारी शुल्काध्यक्ष कहलाता था। शुल्काध्यक्ष के कर्तव्यों के विषय में कौटिल्य ने लिखा है कि "शुल्काध्यक्ष के लिये एक विशाल भवन होना चाहिये जिसमें उत्तर या पूर्व की ओर प्रधान द्वार हो और उस महाद्वार पर एक ऊँची ध्वजा लगाई जाय।

---

१. सर्वतोभद्रजामदग्न्य बहुमुखविश्वासघातिसङ्घाटीयानकपर्जन्यकबाहूर्ध्व
बाह्वर्धबाहूनि स्थितयन्त्राणि ॥६॥
पाञ्चालिकदेव दण्ड सूकरिकामुसलयष्टिहस्तिवारकतालवृन्तामुद्गर गदा
स्पृक्तलाकुद्दालास्फोटिमोद्घाटिमोत्पाटिमशतघ्नीत्रिशूल चक्राणि चलयन्त्राणि
॥७॥ शक्ति प्रासकुन्तहाटकभिण्डिपाल शूलतोमर वराहकर्ण कणय कर्पण
त्रासिकादीनि च हलमुखानि ॥८॥
तालचापदारवशार्ङ्गाणि कार्मुक कोदण्ड द्रूणा धनूंषि ॥९॥
मूर्वाशणगवेधुवेणुस्नायूनि ज्या ॥१०
वेणुशर शलाका दण्डासननाराचाश्च इषवः ॥११॥
तेषां मुखानि छेदन भेदनताडनान्यायसास्थिदारवाणि ॥१२॥
निस्त्रिंशमण्डलाग्रासियष्टयः खड्गाः ॥१३॥
खड्गमहिषवारणविषाणदारुवेणुमूलानि त्सरवः ॥१४॥
परशुकुठार पट्टसखनित्रकुद्दालक्रकचकाण्डच्छेदनाः क्षुरकल्पाः ॥१५॥
यन्त्रगोष्पणमुष्टिपाषाणरोचनी दृषदश्चायुधानि ॥१६॥ कर्मान्तांश्च ॥२१॥
इच्छामारम्भनिष्पत्तिं प्रयोगं व्याजमुद्दयम्।
क्षय व्ययौ च जानीयात्कुप्यानामायुधेश्वरः ॥२९॥ अधि० २ अध्या० १८

शुल्क (चुंगी) लेने वाले चार या पाँच कर्मचारी समुदाय में अथवा एक एक करके आने वाले व्यापारियों के नाम एक रजिस्टर में लिखें। उस रजिस्टर में यह भी लिखा जाय कि कौन व्यापारी है ? कहाँ से आया है ? कितनी विक्रय वस्तु लाया है ? उन वस्तुओं पर कहाँ कहाँ मुहर लगी है ? इत्यादि। यदि उन पर अन्तपाल की मुहर न हो तो उससे दुगुना शुल्क लिया जाय। नकली मुहर होने पर आठ गुना शुल्क दण्ड रूप में लिया जाय। निश्चित स्थान पर मुद्रा न लेकर यदि दूसरे स्थान की मुद्रा ले तो उसे कुछ देर रोका जाय और फिर जाने दे। राज की मुद्रा को बदल देने अथवा विक्रेय वस्तु का नाम बदल देने वाले से एक पण (सुवर्ण मुद्रा) दण्ड रूप में लिया जाय।"

राजकीय शुल्क शाला की ध्वजा के पास व्यापारी लोग अपना माल तीन बोली बोलकर सब से ऊँची बोली बोलने वाले के नाम पर माल छोड़ दें। यदि मोल लेने वालों में संघर्ष (वहम) होगी तो वस्तु का मूल्य बढ़ जायगा। परन्तु यह बढ़ा हुआ मूल्य राज्य कोश में जमा होगा। जो व्यापारी चुंगी बचाने के लिये अपने माल का मूल्य अथवा भार कम बतावें और जाँच करने पर अधिक निकले तो यह अधिक शुल्क राजकीय कोश में जमा किया जाये।[1]

उस व्यापारी से उस माल का अठगुना शुल्क लिया जाय। यही दण्ड उसे दिया जाय जो नमूने के रूप में तो अच्छा माल दिखाये और अन्य माल वैसा

---

1. शुल्काध्यक्ष शुल्क शालां ध्वजं प्राङ्मुखमुदङ्मुखं वा महा द्वाराभ्याशेनिवेशयेत् ॥१

शुल्कादायिनश्च चार. पञ्च वासार्थोपयातान्वणिजोलिखेयुः ॥२॥

के कुतस्तया· कियत्पराया क्वचाभिज्ञानामुद्रा वा कृता इति ॥३॥

अमुद्राणामत्ययोदेयद्विगुण· ॥४

कूट मुद्राणा शुल्काष्टगुणो दण्ड ॥५॥

भिन्नमुद्राणाम यथो घटिकास्थानेस्थानम् ॥६

राजमुद्रापरिवर्तनेनाम कृतेसपादपणिकं वहनं दापयेत् ॥७॥

ध्वज मूलोपस्थितस्य प्रमाणमर्घंच वैदेहका पण्यस्य ब्रूयुः ॥८॥

एत प्रमाणेनार्घेण पण्यमिदं क· क्रेतेति ॥९॥

त्रिरुद्घोषितमर्थिभ्योदद्यात् ॥१०॥

क्रेतृसंघर्षे मूल्य वृद्धि सशुल्का कोश गच्छेत् ॥११॥

शुल्कभयात्पण्यप्रमाणं मूल्यं वा हीनं ब्रुवतस्तदतिरिक्तं राजाहरेत् ॥१२॥

अधि० २ अध्या० २१

न होकर घटिया हो। जो व्यापारी इसलिये मूल्य बढ़ावे कि अन्य मोल लेने वाला न मोल ले तो ऐसी मूल्य वृद्धि को भी राजकीय कोश में डाल दिया जाय और उससे दुगुना शुल्क लिया जाय। यदि चुंगी का अध्यक्ष किसी व्यापारी के माल को छिपादे तो उस अध्यक्ष से आठ गुना दण्ड लिया जाय। इस प्रकार की बातें करने का अभिप्राय यह है कि क्रय-विक्रय में किसी प्रकार का भ्रष्टाचार न हो। कोयला आदि को तोलने की आवश्यकता नहीं है। ऐसी वस्तुओं पर अनुमान से ही शुल्क लेना चाहिये। जो चुंगी से बचकर निकल जाय उससे आठ गुना दण्ड लिया जाय। ऐसे लोगों को पकड़ने के लिए चुंगी निरीक्षकों की नियुक्ति की जाय। विवाह, कन्यादान, भेंट, यज्ञ, प्रसव, देव पूजा, मुण्डन, उपनयन, गोदान, धार्मिक व्रत आदि सम्बन्धी वस्तुओं पर चुंगी न ली जाय। परन्तु जो व्यापारी अन्य प्रकार के माल को इस प्रकार का माल बतावें उसे चोरी का दण्ड दिया जाय। जिस वस्तु का शुल्क दे दिया गया है उसके साथ ऐसी वस्तु ले जाई जाय जिस पर शुल्क नहीं दिया गया है अथवा मुहर लगे हुए माल के साथ बिना मुहर लगा हुआ माल व्यापारी ले जाय तो उससे भी आठ गुना शुल्क लिया जाय। जो व्यापारी कण्डे, भुस और पराल में छिपाकर माल को चुंगी से बचा ले जाने का प्रयत्न करे उसे "उत्तम साहस" अर्थात् सबसे अधिक दण्ड दिया जाय।[1] शस्त्र, कवच,

---

1 शुल्कमष्टगुणं दद्यात् ॥१३॥
तदेव निविष्ट पण्यस्य भाण्डस्यहीन प्रतिवर्णकेनार्घापकर्षणं सार भाण्डस्य फल्गुभाण्डेन प्रतिच्छादने च कुर्यात् ॥१४॥
प्रतिक्रेतृभयाद्वापण्य मूल्यादुपरिमूल्यं वर्धयतोमूल्य वृद्धिराजाहरेत ॥१५॥
द्विगुणं वा शुल्कं कुर्यात् ॥१६॥
तदेवाष्टगुणमध्यक्षस्य च्छादयत ॥१७॥
तस्माद्विक्रयः पण्यानां धृतो मितोगणितो वा कार्यः ॥१८॥
तर्कं फल्गुभाण्डानामानुग्रहिकाणां च ॥१९॥
ध्वजमूलमतिक्रान्तानां चाकृतशुल्कानां शुल्कादष्टगुणो दण्डः ॥२०॥
पथिकोत्पथिकास्तद्विद्युः ॥२१॥
वैवाहिकमन्वायनमौपायनिकं यज्ञकृत्यप्रसवनैमित्तिकं देवेज्याचौलोपनयन गोदान व्रत दीक्षणादिषु क्रियाविशेषेषु भाण्डमुच्छुल्कं गच्छेत् ॥२२॥
अन्यथावादिनः स्तेयदण्डः ॥२३॥
कृतशुल्केनाकृतशुल्कं निर्वाहयतो द्वितीयमेकमुद्राभिन्नं पण्यपुटमपहरतो वैदेहकस्य तच्च तावच्च दण्डः ॥२४॥

लोह, रथ, रत्न, धान्य, पशु आदि वस्तुओं के यातायात पर यदि राजा ने रोक लगादी हो और यदि कोई इस आज्ञा का उल्लघन करे तो वह बाहर जाने वाली वस्तु जब्त कर ली जाय और बाहर से आने वाली वस्तु चुगी की सीमा के बाहर विना चुगी शुल्क के बेच दिया जाय। विक्रय के लिये माल ले जाने वाली सवारियो से सवा पण मार्ग शुल्क लिया जाय। यह शुल्क गाडिया आदि वाहनो से लिया जाय। बडे पशुओं पर ले जाने वाले से एक या आधा पण और बकरी आदि छोटे जानवरो पर ले जाने वाले से चौथाई पण और कन्धो पर माल ले जाने वाले से एक मापक (ताँबे का सिक्का) शुल्क लिया जाय। यदि किसी व्यापारी का माल खो जाय या चोरी हो जाय तो उसका पता लगाकर अन्तपाल दिलवाये। विदेश से आने वाले माल की जाच करके उस पर अन्तपाल मुहर लगादे और शुल्काध्यक्ष के पास ले जाने की सूचना दे। व्यापारी के वेष मे रहने वाले राजा के गुप्तचर इन व्यापारियो की चेष्टाओ की सूचना राजा को पहुँचाते रहें। इस सूचना के अनुसार राजा अपनी व्यापारियो के सम्बन्ध की जानकारी शुल्काध्यक्ष के पास लिखकर भेजदे। इससे राजा के प्रभाव का ज्ञान अध्यक्षो को होता है। यदि व्यापारी घटिया माल को छिपाय तो उससे आठ गुना अधिक शुल्क लिया जाय और यदि व्यापारी सार वस्तुओ को छिपाय तो उसे छीन ले। राष्ट्र को दुख देने वाले माल को राजा नष्ट करादे। जो माल प्रजा को उपकारी हो उसे बिना शुल्क लिये राज्य मे आने दे।[1]

शुल्कस्थानाद्गोमयपलाल प्रमाण कृत्वापहरत उत्तम साहस दण्ड ॥२५॥ अधि० २, अध्या० २१

1 शस्त्रवर्मकवचलोहरथरत्नधान्यपशूनामन्यतमनिर्वाह्यनिर्वाहयतोयथावघुषितो दण्ड पण्यनाशश्च ॥२६॥

तेषामन्यतमस्यानयने बहिरेवोच्छुल्को विक्रय ॥२७॥

अन्तपाल सपादपणिकावर्तनी गृह्णीयात्पण्यवहनस्य ॥२८॥

पणिकामेकखुरस्य पशूनामर्धपणिका क्षुद्रपशूना पादिकाम सभारस्य माषिकाम् ॥२९॥

नष्टापहृत च प्रतिविदध्यात् ॥३०॥

वैदेश्य सार्थ कृतसारफल्गुभाण्डविचयनमभिज्ञान मुद्रा च दत्त्वा प्रेषयेदध्यक्षस्य ॥३१॥

वैदेहक व्यञ्जन वा सार्थ प्रमाण राज्ञ प्रेषयेत् ॥३२॥

तेन प्रदेशेन राजा शुल्काध्यक्षस्य सार्थ प्रमाण मुपदिशेत्सर्वज्ञत्व ख्यापनार्थम् ॥३३

सूत्राध्यक्ष—सूत और ऊन के तागों (तागों) को सूत्र कहते हैं। इनसे सम्बन्ध रखने वाली समस्त वस्तुओं के अध्यक्ष को सूत्राध्यक्ष कहते हैं। सूत्राध्यक्ष सूत्र सम्बन्धी समस्त कार्यों को उस कार्य में कुशल पुरुषों से कराये। ऊन, छाल, कपास, सेमल, सन आदि को विधवा, अगहीन, कन्या, सन्यासिनी, अपराधिनी, वृद्ध वेश्याओं, वृद्ध देवदासियों आदि से कतवाये। सूत की सफाई मोटाई, गोलाई देखकर उनका वेतन निश्चित करे। सूत की लम्बाई, भार का भी ध्यान रखे। राजा इस कार्य के करने वालों को पारतोषिक आदि देकर भी इन्हें कार्य करने को उत्साहित करे। कार्य काल में भी कुछ अधिक देकर उनका मान करके उनसे काम लेता रहे। यदि सूत्र कम निकले तो उनका वेतन काट ले, अनुभवी और अधिक दिनों से कार्य करने वालों से कार्य ले, मोटे रेशमी वस्त्र, दुकूल, पतले रेशमी वस्त्र, चीनी रेशमी वस्त्र, हिरन के रोमों के वस्त्र, सूत आदि के वस्त्रों को बनवाता हुआ सूत्राध्यक्ष, भांति-भांति प्रकार से उनको सन्तुष्ट तथा प्रसन्न करता हुआ कार्य करे। जब वे प्रसन्न दीखें तब उनसे अधिक सुन्दर वस्त्र बनवाये। कवच आदि चतुर कारीगरों से बनवाये। घर से बाहर न जाने वाली, असहाय स्त्रियां तथा कन्याएँ जो स्वय अपना पेट पालन करना चाहें उनके यहां दासियां भेजकर सूत्राध्यक्ष काम कराये। जो सूत्र आय उसे शीघ्र बदलवादे। सूत्रशाला में सूत्र सम्बन्धी कार्य होने तक ही प्रकाश किया जाय। स्त्रियों के मुख की ओर देखने वाले को 'प्रथम साहस दण्ड' दिया जाय।[1] वेतन देने में देर करने

ततः सार्थमध्यक्षोऽभिगम्य ब्रूयात् ॥३४॥

इदम मुख्यामुख्य च सारभाण्डफल्गुभाण्ड च न निगूहितव्यम् ॥३५॥

एष राज्ञः प्रभाव इति ॥३६॥

निगूहतः फल्गुभाण्डशुल्काष्ट गुणो दण्डः ॥३७

सार भाण्डसर्वापहार ॥३८॥

राष्ट्रपीडाकरं भाण्डमुच्छिन्द्यादफलं च यत्।

महोपकार मुच्छुल्क कुर्याद्बीजं तु दुर्लभम् ॥३९॥ अधि० २, अध्या०

1. सूत्राध्यक्ष सूत्र वर्म वस्त्र रज्जु व्यवहार तज्जात पुरुषै कारयेत् ॥१॥
   ऊर्णावल्ककार्पास तूलशण क्षौमाणि च विधवान्यङ्गाकन्याप्रव्रजितादण्डप्रतिकारिणीभी रूपाजीवामातृकाभिर्वृद्धराजदासीभिर्व्युपरतोपस्थानदेवदासीभिश्च कर्तयेत् ॥२॥
   श्लक्ष्णस्थूलमध्यतांचसूत्रस्यविदित्वावेतनंकल्पयेत ॥३॥
   बहूल्पताच ॥४॥

या वेतन न देने पर अध्यक्ष को मध्यम दण्ड दिया जाय। वेतन लेकर कार्य न करने वाली स्त्रियों के अंगूठे कटवा देने चाहिये। जो सरकारी धन खा जाये, अपहरण करके अथवा लेकर भाग जाये अथवा जो कर्मचारी कोई अपराध करे तो सूत्राध्यक्ष उनके अपराध के अनुसार उनको दण्ड दे। रस्सी बाटने वालों और चर्मकारों से सूत्राध्यक्ष मिलता रहे और उनसे कार्य कराता रहे। सूत्र, सन की रस्सियाँ, तथा बेंत और बांसों के रस्से जो कवच बनाने के काम में आते हैं तथा ऐसा सामान जो घोड़ों में जीन आदि बनाने में काम आता है, ऐसे सामान भी सूत्राध्यक्ष तैयार कराता रहे।[1]

सूत्रप्रमाणं ज्ञात्वा तैलमलकोद्वर्तनैरेता अनुगृह्णीयात् ॥५॥
तिथिषु प्रतिपादनमानैश्च कर्मकारयितव्याः ॥६॥
सूत्रह्रासे वेतनह्रासः द्रव्यसारात् ॥७॥
कृतकर्म प्रमाणकालवेतनफलनिष्पत्तिभिः कारुभिश्च कर्मकारयेत्प्रतिसंसर्गं च गच्छेत् ॥८॥
क्षौमदुकूल क्रिमितानराङ्कवकार्पाससूत्रवान कर्मान्तांश्चप्रयुञ्जानो गन्धमाल्यदानैरन्यैश्चौपग्राहिकैराराधयेत् ॥९॥
वस्त्रास्तरणप्रावरणविकल्पानुत्थापयेत् ॥१०॥
कङ्कटकर्मान्तांश्चतज्जातकारुशिल्पिभिः कारयेत् ॥११
याश्चानिष्कासिन्यः प्रोषित विधवा न्यङ्गा कन्यका वात्मानंबिभृयुस्ताः स्वदासीभिरनुसार्य सोपग्रहं कर्मकारयितव्याः ॥१२॥
स्वयमागच्छन्तीनां वा सूत्रशालांप्रत्युषसि भाण्डवेतनविनिमयं कारयेत् ॥१३
सूत्रपरीक्षार्थमात्रः प्रदीपः ॥१४॥
स्त्रियमुखसंदर्शनेऽन्यकार्य संभाषायां वा पूर्वः साहस दण्डः ॥१५॥
अधि० २, अध्या० २३

1. वेतनकालातिपातने मध्यमः ॥१६॥
अकृतकर्मवेतनप्रदाने च ॥१७॥
गृहीत्वावेतनंकर्माकुर्वन्त्याः अङ्गुष्ठसंदंशं दापयेत् ॥१८॥
भक्षितापहृतावस्कन्दितानांच ॥१९॥
वेतनेषु च कर्मकराणामपराधतोदण्डः ॥२०॥
रज्जूवर्तकैश्चर्मकारैश्च स्वयंसंसृज्येत ॥२१॥
भाण्डानि च वरत्रादीनिवर्तयेत् ॥२२॥
सूत्रवल्कमयीरज्जूः वरत्रा वैत्रवैणवी ।
सांनाह्यावन्धनीयाश्चयानयुग्यस्यकारयेत् ॥२३॥ अधि० २, अध्या० २३

सीताध्यक्ष—हल की सहायता से उत्पन्न होने वाले पदार्थ सीता कहलाते हैं। अतः कृषि सम्बन्धी कार्यों के अध्यक्ष को सीताध्यक्ष कहते हैं। सीताध्यक्ष अर्थात् कृषि विभाग का अधिकारी कृषि शास्त्र, गुल्म शास्त्र, भूमि भेद जानने वाला शास्त्र, वनस्पति शास्त्र आदि का अच्छी प्रकार ज्ञान रखे। सीताध्यक्ष इन शास्त्रों का ज्ञाता होना चाहिये। वह अपने सहायक सरकारी कर्मचारियों (गणों) सहित समस्त धान्य, फल, शाक, कन्द मूल, बेल, सन, कपास आदि का संग्रह करे। बहुत बार जोती हुई भूमि में अपने सेवकों, मजदूरों अथवा अपराधियों से बुवायें। कृषि सम्बन्धी यन्त्रों तथा अन्य सामग्री बैल आदि से इनका कोई सम्बन्ध न रहने दें। कारीगरों, ढेले फोड़ने वालों, गड्ढे भरने वालों, रस्सी बटने वालों और सर्प पकड़ने वालों से भी अपने सेवकों को न मिलने दे। यदि इन कर्मचारियों से भूल हो या भ्रम से खेती करने में हानि हो तो इनसे दण्ड लिया जाय।[१]

सुराध्यक्ष—आबकारी विभाग के अध्यक्ष को सुराध्यक्ष कहते हैं। कौटिल्य के मतानुसार सुराध्यक्ष ऐसे पुरुष को बनाना चाहिये जिसे सुरा के मूल तत्त्व, सुरा बनाने, तथा उसके क्रय विक्रय व्यवहारादि का अनुभव हो। सुरा को एक अथवा अनेक व्यक्ति बना और बेच सकते हैं। इसे बेचने के लिये ठेका दिया जा सकता है। सुविधानुसार अनेक दुकानदारों द्वारा इसको बिकवाया जा सकता है। जिनको सुरा बनाने, बेचने और मोल लेने का अधिकार हो वही लोग इस कार्य को कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त इस कार्य को करने वालों से छः सौ रुपये दण्ड के रूप में लेने चाहिये। जो व्यक्ति सुरापान किये हुए हो उनको उत्सव आदि में नहीं आने देना चाहिये। इसे पीकर कर्मचारी अपने कार्य में त्रुटि कर सकते हैं। श्रेष्ठ पुरुष भी अपनी मर्यादा छोड़ देते हैं। क्रोधी पुरुष इसके प्रभाव में शस्त्रों का अनुचित प्रयोग कर लेते हैं। राजकीय मुहर लगी हुई पाव, आधपाव, छटांक भर अथवा सेर आध सेर सुरा योग्य पुरुष ले सकते हैं। सुरापान करने वाले भट्टियों (पानालयों) में जाकर सुरापान करें और जब तक नशा रहे तब तक वहाँ से बाहर

१. सीताध्यक्षः कृषितन्त्रशुल्बवृक्षायुर्वेदज्ञस्तज्ज्ञसखो वा सर्वधान्यपुष्पफलशाककन्द मूलवाल्लिक्यक्षौमकार्पासबीजानियथा काल गृह्णीयात् ॥१॥
बहु हलपरि कृष्टायां स्वभूमौ दास कर्मकर दण्ड प्रतिकर्तृभिर्वापयेत् ॥२॥
कर्षण यंत्रोपकरण बलीवर्दैश्चैषामसङ्गं कारयेत् ॥३॥
कारुभिश्च कर्मारकुट्टाकमेदकररज्जुवर्तकसर्प ग्राहादिभिश्च ॥४॥
तेषां कर्मफलविनिपाते तत्फलहानं दण्डः ॥५॥ अधि० २, अध्या० २४

न जायें। धरोहर, गिरवी धन, चोरी किया हुआ धन अथवा इसी प्रकार या अन्य अनुचित रीति से प्राप्त किया हुआ धन लोग सुरापान में व्यय करते हैं। उनका पता लगाने के लिये सुरागृह अच्छा स्थान है। नशे में आदमी सच बता देता है। चोरी का अस्त्र अथवा सुवर्ण सुरापान करने के स्थान के बाहर किसी बहाने से पकड़वा देना चाहिये। जो पुरुष अपनी आय से अधिक व्यय करता है उसका पता भी वहीं चल सकता है। थोड़े मूल्य पर, उधार अथवा ब्याज सहित प्राप्त हुए रुपये से उत्तम सुरा को न बेचना चाहिये। साधारण सुरा की बिक्री के लिये पृथक् दुकानें होनी चाहियें। सुरा बनाने वाले कर्मचारियों को वाहनों के पालन और सूअरों के पोषण में भी घटिया सुरा का प्रयोग करना चाहिये।[1]

सुरापानगृह में अनेक कमरे (कक्ष) होने चाहिये। उनमें सोने के लिये बिस्तर रहने चाहिये। इन स्थानों को सुगन्ध मय, माल्य, जलयुक्त बनाना चाहिये। वहाँ ऐसे गुप्तचर रखने चाहिये जो अपने देश और बाहर से आने वाली सुरा का पता लगाते रहें। बाहर से आने वाले पुरुषों का भी पता लगाते रहें। नशे में मस्त हुए लोगों के धन सामान आदि की भी उनको देख भाल करनी चाहिये। यदि सुरापान गृह में किसी के वस्त्र अथवा धन का अपहरण हो जाय तो सुरा बेचने वाला उसकी पूर्ति करे और राजकीय दण्ड

---

१. सुराध्यक्षः सुराकिण्वव्यवहारान्दुर्गेजनपदस्कन्धवारेवातज्जातसुराकिण्वव्यवहारिभिः कारयेत्एकमुखमनेकमुखंवा विक्रय क्रयवशेन वा ॥१॥
षट्छतमत्ययमन्यत्रकर्तृ क्रेत विक्रेतणां स्थापयेत् ॥२॥
ग्रामादनिर्णयनमसंपातं च सुरायाः, प्रमादभयात्कर्मसुनिर्दिष्टानां, मर्यादातिक्रमभयादार्याणामुत्साहभयाच्च तीक्ष्णानाम् ॥३॥
लक्षितमल्पं वा चतुर्भागमर्धकुडुबं कुडुब मर्धप्रस्थं प्रस्थवेतिज्ञातशौचानिर्हरेयुः ॥४
पानागारेषुवा पिबेयुरसंचारिणः ॥५॥
निक्षेपोपनिधिप्रयोगापहृतादीनामनिष्टोपगतानां च द्रव्याणां ज्ञानार्थमस्वामिकं कुप्यं हिरण्यं चोपलभ्यनिक्षेप्तारमन्यत्र व्यपदेशेन ग्राहयेत् ॥६॥
अतिव्यय कर्तारमनायतिव्ययंच ॥७॥
न चानर्धेण कालिकां वा सुरां दद्यादन्यत्र दुष्टसुरायाः ॥८॥
तामन्यत्र विक्रापयेत् ॥९॥
दास कर्मकरेभ्योवा वेतनं दद्यात् ॥१०॥
वाहनप्रतिपानं सूकरपोषणंवादद्यात् ॥११॥ अधि० २, अध्या० २५

दे। सुरा बेचने वाले अपने कमरे में छिपकर सुन्दर दासियों से रमण करने वाले नगर निवासियों तथा बाहर के लोगों के उन्मत्त स्वभावों और वेशभूषों का पता लगाते रहें।[1]

गृहस्थी लोग तथा जनसाधारण, मेले उत्सव आदि के समय श्वेत सुरा का पान करें। वसन्त आदि उत्सवों पर, सामाजिक सम्मेलनों, देव-यात्रा आदि के समय सुराध्यक्ष चार दिन की छुट्टी लोगों को सुरा पान करने के लिए दे। यदि राज्याज्ञा के बिना इन उत्सवों पर ये लोग सुरापान करने लगें तो उत्सवों के अन्त में इनसे दण्ड लिया जाय। सुरा अथवा सुराबीज का संग्रह बालक और स्त्रियों को करना चाहिये। जो राजकीय दुकान से सुरा मोल न ले और सुरवा, मेदक, अरिष्ट, मधु, फलाम्ल और अम्लसीध आदि सुराओं का प्रयोग स्वतन्त्रता पूर्वक करे उनको राजकोश में सौ रुपये शुल्क के रूप में देने चाहिये। प्रतिदिन के क्रय-विक्रय पर नियत कर वसूल किया जाय। शुल्क उचित होना चाहिये, प्रजा के साथ अनुचित व्यवहार न किया जाय।[2]

सूनाध्यक्ष—जिस स्थान पर वध करने योग्य पक्षियों का वध किया जाता है उस स्थान को सूना कहते हैं और इस कार्य के अधिकारी को सूनाध्यक्ष कहते हैं। राज्य की ओर से जिन पशु पक्षियों के मारने का निषेध

---

१. पानागाराण्यनेककक्ष्याणि विभक्तशयनासनवन्ति पानोद्देशानि गन्धमाल्योदकवन्त्यृतु सुखानि कारयेत् ॥१२॥
तत्रस्था प्रकृत्यौत्पत्तिकौ व्ययौ गूढा विद्युरागन्तूंश्च ॥१३॥
क्रेतॄणां मत्त सुप्तानामलंकाराच्छादनहिरण्यानि च विद्युः ॥१४॥
तन्नाशे वणिजस्तच्च दण्डं दद्युः ॥१५॥
वणिजस्तु संवृतेषुकक्ष्याविभागेषु स्वदासीभिः पेशलरूपाभिरागन्तूनांवास्तव्याना चार्यरूपाणां मत्तसुप्तानाभावं विद्युः ॥१६॥

२. कुटुम्बिन कृत्येषु श्वेतसुरामौषधार्थं वारिष्टमन्यद्वा कर्तुं लभेरन् ॥३५॥
उत्सवसमाजयात्रासुचतुरहः सौरिको देयः ॥३६॥
तेष्वननुज्ञातानां प्रहवणान्तं दैवसिकमत्ययंगृह्णीयात् ॥३७॥
सुराकिण्वविचयं स्त्रियो बालाश्चकुर्युः ॥३८॥
अराजपण्या शतं शुल्कंदद्युः सुरकामेदकारिष्टमधुफलाम्लाम्लशीधूनां च ॥३९॥
अह्नश्च विक्रयं ज्ञात्वा व्याजीं मानहिरण्ययो ।
तथा वैधरणं कुर्यादुचितं चानुवर्तयेत् ॥४०॥ अधि० २, अध्या० २५

किया गया है तथा तपोवन आदि में रहने वाले पशु पक्षियों अथवा मछलियों को जो मारता अथवा पकड़ता है उसको सूनाध्यक्ष उत्तम साहस दण्ड दे। जो गृहस्थियों के स्थानों पर पशु पक्षियों का वध करे अथवा पकड़े उन्हें मध्यम साहस दण्ड दे। जिनके वध की कदापि आज्ञा नहीं ऐसे जन्तुओं का वध करने पर पौने सत्ताइस मुद्रा दण्ड रूप में लेनी चाहिये। छोटों के वध पर इतना और बड़ों के वध पर साढ़े ५३ मुद्रा दण्ड ले। हिंसक (शेर आदि) जन्तुओं के मारने पर उनके मूल्य का छठा भाग सूनाध्यक्ष को ग्रहण करना चाहिये। मछली तथा पक्षियों का दसवां भाग, मृगों का भी दसवां अथवा कुछ अधिक भाग ले। जीवित पकड़े हुए पशु पक्षियों के छठे भाग को अभय वनों के ऊपर व्यय करे।[1]

मृग और पशुओं का बिना हड्डी का ताजा मांस बेचा जाय। हड्डी के साथ बेचा हुआ मांस हड्डी की बराबर और दिया जाय। बेचने वाला कम तोले तो कम तोले मांस का आठ गुना बेचने वाला दे। बछड़ा, वृष, गाय अवध्य हैं। इनको मारने वाला पचास मुद्रा दण्ड दे। जो पशुओं को क्लेश देकर मारे उससे भी ५० मुद्रा दण्ड लिया जाय। सूना-स्थान के बाहर वध किया हुआ, शिर पैर, अस्थिहीन मांस, दुर्गन्ध युक्त तथा स्वयं मरे पशु का मांस न बेचा जाय। यदि ऐसा करे तो इससे १२ पण दण्ड लिया जाय। राज्य द्वारा सुरक्षित वनों में शिकार न किया जाय।[2]

---

१. सूनाध्यक्षः प्रदिष्टाभयानामभयवनवासिनां च मृग पशुपक्षिमत्स्यानां बन्धवधहिंसायामुत्तमं दण्डं कारयेत् ॥१॥
कुटुम्बि नामभयवनपरिग्रहेषु मध्यमम् ॥२॥
अप्रवृत्तवधाना मत्स्यपक्षिणां बन्धवधहिंसायां पादोनसप्तविंशतिपणमत्ययं कुर्यात् ॥३॥
मृगपशूनाद्विगुणम् ॥४॥
प्रवृत्तहिंसानामपरिगृहीताना षड्भागं गृह्णीयात् ॥५॥
मत्स्यपक्षिणां दशभागं वाधिकं मृगपशूनां शुल्कं वाधिकम् ॥६॥
पक्षिमृगाणां जीवत् षड्भागमभयवनेषु प्रमुञ्चेत् ॥७॥

२ मृगपशूनामनस्थिमांसं सद्योहतं विक्रीणीरन् ॥१०॥
अस्थिमतः प्रतिपातं दद्युः ॥११॥
तुलाहीने हीनाष्टगुणम् ॥१२॥
वत्सो वृषो धेनुश्चैषामवध्याः ॥१३॥
घ्नतः पञ्चाशत्को दण्डः ॥१४॥
क्लिष्टघातं घातयतश्च ॥१५॥

नावाध्यक्ष—नौका सम्बन्धी कार्य तथा शुल्क आदि के अध्यक्ष को नावाध्यक्ष कहते हैं। नावाध्यक्ष का कर्तव्य है कि वह झीलों, नदियों तथा समुद्रों में चलने वाले यानों की देखभाल करता रहे। इन जलाशयों के किनारे के ग्राम तथा नगरों के निवासी आवश्यकतानुसार शुल्क राजा को देते रहें। मछली पकड़ने वाले नौका के किराये के रूप में अपनी आय का छठा भाग राजकोष में दें। व्यापारी लोग अपने-अपने ग्रामों के अनुसार शुल्क देते रहें। शंख मुक्तादि निकालने वाले भी अपनी आय का छठा भाग दें। सरकारी नौकाओं में पार करने वाले भी यह शुल्क देते रहें। इस अध्यक्ष का भी वैसा ही कार्य है जैसा खान के अध्यक्ष का। क्रय विक्रय वाले नगरों तथा बन्दरगाहों (दोनों) के नियमों का नावाध्यक्ष यथा योग्य पालन करे। तूफान में पड़े हुए नौका समूह की नावाध्यक्ष पिता की तरह सहायता करे। जो माल जल में भीग गया है उस पर शुल्क आधा ले अथवा बिल्कुल न ले। इनको निश्चित समय पर ही चलने के लिये रवाना कर दे। अनुचित बाधा इस कार्य में न डाले। जब नौका शुल्क स्थान पर पहुंच जाये तभी शुल्क लिया जाय। जल हिंसकों को नष्ट किया जाय। शत्रु देश को जाने वाली तथा बन्दरगाहों के नियमों का पालन न करने वाली नौकाओं को नष्ट कर दिया जाय। नौका चालक अधिकारी, नियामक, दाँती (दराँती) पकड़ने वाला, रस्सी पकड़ने वाला, भीतर से पानी उलीचने वाला, इन पाँच कर्मचारियों से युक्त नौकाओं को हेमन्त और ग्रीष्म ऋतुओं में, एक समान बहने वाली नदियों में आने जाने की आज्ञा दे।[1]

परिशूनमशिरः पादास्थि विगन्धं स्वयं मृतं च न विक्रीणीरन् ॥१६
अन्यथा द्वादशपणो दण्डः ॥१७॥
दुष्टाः पशुमृगव्याला मत्स्याश्चाभयचारिणः ।
अन्यत्र गुप्तिस्थानेभ्यो वधबन्धमवाप्नुयुः ॥१८॥ अधि० २, अध्या० २६

१. नावाध्यक्ष समुद्रसंयान नदीमुखतर प्रचारान्देवसरो विसरो नदी तरांश्च स्थानीयादिष्ववेक्षेत ॥ १
तद्वेलाकूल ग्रामाः क्लृप्तं दद्युः ॥ २
मत्स्यबन्धका नौका भाटकं षड्भागं दद्युः ॥ ३
पत्तनानुवृत्तं शुल्क भागं वणिजो दद्युः ॥ ४
यात्रा वेतनं राजनौभिः संपतन्तः ॥ ५
शंख मुक्ता ग्राहिणो नौभाटकं दद्युः ॥ ६
स्वनौभिर्वा तरेयुः ॥ ७

वर्षा ऋतु में छोटी नदियों में छोटी छोटी नौकाएँ चलाने की आज्ञा दी जाय। इनके बन्दरगाहों पर भी प्रतिबन्ध लगाया जाय। कोई राजा का शत्रु उनका प्रयोग न करे। जो असमय में अथवा अमार्ग से आये उसको साहस दण्ड दिया जाय। बिना आज्ञा किसी समय भी बन्दरगाह पर आने वाले से २७ पण दण्ड लिया जाय। परन्तु धीवर, लकड़हारे, घसियारे, माली, कुंजड़े, सेना के रक्षक वाले तथा ग्वाले से दण्ड न लिया जाय। समय कुसमय जो गुप्तचर वहां कार्य करें उनसे भी दण्ड न लिया जाय। अपनी नौकाओं पर यात्रा करने वाले भी इस दण्ड से मुक्त हैं। जलीय प्रदेशों के निवासी यदि ग्रामों में बीज, भोजनादि द्रव्य ले जाने वाले भी इस दण्ड से मुक्त हैं। ब्राह्मण, सन्यासी, वृद्ध, बालक, दूत, रोगी, और गर्भिणी नावाध्यक्ष की (मुहर लगी) आज्ञा से बिना शुल्क पार कर सकते हैं। इसी प्रकार अन्य देश के निवासी भी एक समूह में आने जाने की आज्ञा प्राप्त कर सकते हैं।[1]

अध्यक्षरचैषां गन्यध्यक्षेण व्याख्यातः ॥ ८
पत्तनाध्यक्ष निबन्धं पण्यपत्तनचारित्रं नावाध्यक्षः पालयेत् ॥ ९
मूढवाताहतानां पितेवानुगृह्णीयात् ॥ १०
उदकप्राप्तं पण्यमशुल्कमर्धशुल्कं वा कुर्यात् ॥ ११
यथानिर्दिष्टाश्चैताः पण्य पत्तन यात्रा कालेषु प्रेषयेत् ॥ १२
संयान्तीनावः क्षेत्रानुगता शुल्कं याचेत् ॥ १३
हिंस्रिका निर्घातयेत् ॥ १४
अमित्र विषयातिगाः पण्यपत्तन चारित्रोपघातिकाश्च ॥ १५
शासक नियामक दात्ररश्मिग्राह कोत्सेचकाधिष्ठिताश्च महानावो हेमन्त ग्रीष्म तार्यासु महानदीषु प्रयोजयेत् ॥ १६ अधि० २, अध्या० २८

1. क्षुद्रकाः क्षुद्रकासु वर्षास्राविणीषु ॥ १७
बद्धतीर्थाश्चैताः कार्याराज द्विष्टकारिणां तरणभयात् ॥ १८
अकालेऽतीर्थे च तरतः पूर्वः साहस दण्डः ॥ १९
कालेतीर्थे चानिसृष्ट तारणः पादोनसप्तविंशतिपणः तरात्ययः ॥ २०
कैवर्त काष्ठ तृणभार पुष्पफलवाटषण्ड गोपालकानामनत्ययः सम्भाव्य दूतानुपातिनां च सेनाभाण्डप्रचारप्रयोगाणां च ॥ २१
स्वतरणैस्तरताम् ॥ २२
बीज भक्तद्रव्योपस्करांश्चानूपग्रामाणां तारयताम् ॥ २३

दूसरे की स्त्री, कन्या अथवा धन को अपहरण करके भागने वाला, शंकित दिखाई देने वाला, मुहर बिना भार ले जाने वाला, तथा सन्यासी, बीमारी का बहाना करने वाला, भयंकर आकार तथा चेष्टाओं वाला, बहुमूल्य रत्न, अथवा गुप्त लेख छिपाकर ले जाने वाला, अग्नि का प्रयोग करने वाला, विष लेकर लम्बी यात्रा पर जानेवाला, जिसके पास अन्तपाल की मुहर तथा प्राज्ञापत्र न हो, ऐसों को पकड़ लेना चाहिये।[1]

अपनी अपनी सीमा से पार करने वाले लोगों से नियमित कर (शुल्क) वसूल करते रहें। बिना मुहर लगी हुई वस्तुओं को ले जाने वालों का सामान जब्त किया जाय। बहुत भार असमय में अनिश्चित स्थान में भार ले जाने वाले का माल भी जब्त किया जाय। बिना लाइसेंस के नौका चलाने वाले अथवा अयोग्य नौकाओं के प्रयोग करने वालों की नौकाओं में यदि माल नष्ट हो जाय तो उस हानि को नावाध्यक्ष अपने पास से पूरा करे। आषाढ़ की पूर्णमासी के एक सप्ताह से कार्तिक की पूर्णमासी के एक सप्ताह पश्चात् तक वर्षा ऋतु का शुल्क लिया जाय। नौका सचालकों का अफसर नौका सम्बन्धी समस्त बातों की सूचना नावाध्यक्ष को देता रहे।[2]

गोऽध्यक्ष—गौ आदि पशुओं का निरीक्षण करने वाला गोऽध्यक्ष कहलाता है।

गौ पालने वाले, भैंस पालने वाले, दुहने वाले, मथने वाले, गौरक्षक,

---

ब्राह्मणप्रव्रजित बाल वृद्धव्याधितशासनहरगर्भिण्यो नावाध्यक्षमुद्रा भिस्तरेयुः ॥ २४

कृत प्रवेशा पारविषयिका सार्थ प्रमाणा प्रविशेयुः ॥ २५

१. परस्य भार्यां कन्या वित्तं वापहरन्तं शङ्कितमाविग्नमुद्भाण्डी कृतं महाभाण्डेन मूर्ध्नि भारेणावच्छादयन्तं सद्योगृहीत लिङ्गिनमलिङ्गिनं वा प्रव्रजितमलक्ष्यव्याधित भयविकारिणं गूढसारभाण्डशासनशस्त्राग्नि योगं विषहस्तं दीर्घपथिकममुद्रं चोपग्राहयेत् ॥२६॥ अधि. २, अध्या. २८

२. प्रयन्तेषु तरा शुल्कमातिवाहिकं वर्तनीं च गृह्णीयुः ॥ ३७

निर्गच्छ तश्चामुद्रद्रव्यस्य भाण्डं हरेयुः ॥ ३८

अतिभारेणावेलायामतीर्थेतरश्च ॥ ३९

पुरुषोपकरणहीनायाम संस्कृतायां वातावि विपन्नायां नावध्यक्षो नष्टं विनष्टं वाभ्यावहेत् ॥ ४०

सप्ताह वृत्तामाषाढीं कार्तिकीं चान्तरा तरन्। कार्मिकप्रत्ययं दद्यान्नित्यं च निक्मानहेत् ॥ ४१ अधि० २, अ० २८

ये पाँच प्रकार के नौकर रखे जायें। इनको वेतन दिया जाय, दूध में भाग न दिया जाय नहीं तो बछड़ों को भूखा मार देंगे। बूढ़ी, दूध वाली, गर्भिणी, ठन्ल और बछिया, इनमें से बीस-बीस लेकर सौ पर एक गोपालक रखा जाय। एक या दो मास के बच्चों को दागकर उनपर चिन्ह डाल दिये जायें। जो गौए राजकीय गोशाला में प्रविष्ट हों उन्हें भी दाग दिया जाय। इनके चिन्ह, अंक, वर्ण, सींग आदि का विवरण गोध्यक्ष अपने रजिस्टर में लिखे। गौए तीन प्रकार से नष्ट होती हैं—चोरी से, अन्य झुण्ड में मिल जाने से, अथवा जंगल में भटक जाने से। गौओं का नाश कीचड़ में फसने, जल में डूबने, वृद्ध होने, ठीक भोजन न मिलने, वृक्ष, शिला, बिजली आदि गिरने, दावानल, जंगली हिंसक जीव आदि द्वारा होता है। यदि लापरवाही से ऐसा हो तो गोध्यक्ष उसे पूरा करे। जो गौ को मारे या मरवाये, चुराये या चुरवाये उसे मृत्यु दण्ड दिया जाय। जो राज्य कर्मचारी पशुओं के राजकीय चिन्हों को बदले उसे साहस दण्ड दिया जाय। चोर से छुड़ाने वाला पशु के स्वामी से एक रुपया ले। दूसरे देश से चोर से छुड़ाकर लाये तो पशु के स्वामी से पशु के मूल्य का आधा ले। बाल, वृद्ध तथा रोगी पशुओं की भली प्रकार देख भाल की जाय। चोर, शेर, सर्प, ग्राह आदि द्वारा पकड़े हुए अथवा बीमारी से मरे हुए पशु की सूचना गोध्यक्ष को गोपालक दे नहीं तो उसे पशु का मूल्य देना पड़ेगा। किसी भी प्रकार से मरे पशु का मुहर लगा भाग, भेड़ बकरियों का चिन्हित कान, अश्वादि की पूंछ गोध्यक्ष को दिखाई जाय।[1]

---

१ गोपालकपिण्डारकदोहकमन्थकलुब्धका शतंशतं धेनूना हिरण्य भृता पालयेयु ॥ २

क्षीरघृतभृता हि वत्सानुपहन्युरिति वेतनोपग्राहिकम् ॥ ३

जरद्गुधेनुगर्भिणी पृष्ठौही वत्सतरीणा समविभाग रूपशतमेकः पालयेत् ॥ ४

चोरहृतमन्ययूथ प्रविष्टम वलीन वा नष्टं ॥ ११

पङ्क विषम-व्याधि जरातोयाधारावसन्न वृक्षतटकाष्ठशिलाभिहतमीशानव्यालसर्पग्राहदावाग्नि विपन्नं विनष्टं प्रमादादभ्याहरेयु ॥ १२

एव रूपाग्र विद्यात् ॥१३

स्वयहन्ता घातयिता हर्ता हारयिता च वध्य ॥ १४

परपशूना राजाङ्केन परिवर्तयिता रूपस्य पूर्वं साहसदण्डं दद्यात् ॥१५

स्वदेशीयाना चोरहृत प्रत्यानीय पणिकं रूपं हरेत् ॥ १६

परदेशीयाना मोक्षयितार्धं हरेत् ॥ १७

पशु बेचने वाला सवा रुपया शुल्क दे । वर्षा, शरद और हेमन्त ऋतुओं में दोनों समय गाय दुही जाय । शिशिर वसन्त और ग्रीष्म काल में एक बार । यदि कोई दो बार दूध निकाले तो उसका अँगूठा काट दिया जाय । जो दुहने के समय गाय न दुहे उसका उस दिन का वेतन न दिया जाय । नाथने वाले, बछड़ों को सिखाने वाले, जुए में लगाने वाले, टहलाने वाले नौकर यदि समय पर अपना अपना कार्य न करें तो उनका उस दिन का वेतन न दिया जाय । एक झुण्ड के भैंसे को दूसरे में से लड़ाने वाले को प्रथम साहस दण्ड दिया जाय । जो साँड मार डाले उसे उत्तम साहस दण्ड मिले । एक एक रंग की दस दस गायों की टोलियाँ बनाकर उनकी चरने अथवा रक्षा करने की व्यवस्था की जाय । भेड़ बकरियों की ऊन छः महीने बाद उतारी जाय, इसी तरह अन्य पशुओं का पालन किया जाय ।[1]

अश्वाध्यक्ष—राजकीय अश्वों के अफसर को अश्वाध्यक्ष कहते हैं । मोल लिये हुए, अपने घर में उत्पन्न हुए, सहायता के बदले में मिले हुए, अपने यहाँ गिरवी रखे हुए, कुछ समय के लिये धरोहर रूप में रखे हुए घोड़ों का कुल,

---

वालवृद्ध व्याधितानां गोपालकाः प्रतिकुर्युः ॥ १८
स्तेन व्याल सर्पग्राहगृहीतं व्याधि जरावसन्नं चावेदयेयुरन्यथा रूपमूल्यं भजेरन् ॥ २२
कारणमृतस्याङ्कचर्म गोमहिषस्य कर्णलक्षणमजाविकानां पुच्छमङ्कचर्म चाश्वखरोष्ट्राणां वालचर्म वस्तिपित्तस्नायुदन्तखुरशृङ्गास्थीनि चाहरेयुः ॥ २३ अधि० २, अ० २९

1. पशुविक्रेतापादिकंरूपंदद्यात् ॥ २८
वर्षाशरद्धेमन्तानुभयतः कालंदुह्युः ॥ २९
शिशिरवसन्तग्रीष्मानेक कालम् ॥ ३०
द्वितीयकालदोग्धुरङ्गुष्ठच्छेदोदण्डः ॥ ३१
दोहकालमतिक्रामतस्तत्फलहानंदण्डः ॥ ३२
एतेन नस्यदम्ययुगपिङ्गनवर्तनकाला व्याख्याताः ॥ ३३
यूथवृषं वृषेणावपातयतः पूर्वः साहस दण्डः ॥ ३९
घातयत उत्तमः ॥ ४०
वर्णावरोधेन दशतीरक्षा ॥ ४१
उपनिवेशदिग्विभागो गोप्रचाराद्बलान्वयतो वा गवां रक्षासामर्थ्याच्च ॥४२॥
अजावीनांषाण्मासिकीमूर्णां ग्राहयेत् ॥ ४३
तेनाश्वखरोष्ट्रवराहव्रजा व्याख्याताः ॥ ४४ ॥ अधि० २, अ० २९

आयु, रंग, चिन्ह, वर्ग, जिस स्थान से आये, उनका नाम आदि अश्वाध्यक्ष अपने रजिस्टर में लिखे। अश्वों की चिकित्सा कराये। कोश तथा भंडार से प्रत्येक मास का व्यय तथा भोजन लेकर अश्ववाह अश्वों का पालन तथा रक्षण करे।[1]

अश्वों के भोजन तैयार करने वाले, सईस, तथा चिकित्सकों को अश्व सम्बन्धी व्यय विभाग से वेतन मिलना चाहिये। युद्ध, व्याधि, तथा बुड्ढा होने के कारण जो अश्व बेकार हो गये हों उनको उदर पूर्तिमात्र भोजन मिले। जो अरब के अश्व युद्ध में काम न आ सकें उनको सन्तानोत्पत्ति के लिये छोड दिया जाय, जो प्रजा के काम आयें। युद्ध के लिए काबुल, सिंध, पंजाब, अरब के सर्व-श्रेष्ठ और बलख, सीमा-प्रान्त, राजपूताना और तिनल देश के मध्यम श्रेष्ठ माने गये है। अन्य समस्त अश्व साधारण होते हैं।

रथ में जोते जाने वाले साधारण अश्वों को ६ योजन, मध्यम को ९ योजन और उत्तम अश्वों को १२ योजन तक ले जाया जाय, पीठ पर बोझ ले जाने वालों को पांच साढे सात और दस योजन तक। अश्व तीन प्रकार की मंद्र मध्यम और तीव्र चाल चलने वाले होते हैं। इनको भूषण तथा बन्धन पहनाने का कार्य इस कार्य का ज्ञाता करे। उनके रोगों की चिकित्सा की जाय और ऋतु के अनुसार भोजन व्यवस्था की जाय। सईस, घास लाने वाले, उनका भोजन तैयार करने वाले बाल साफ करने वाले, तबेला साफ करने वाले, जडी बूटियों का ज्ञान रखने वाले अपने अपने कार्यों से अश्वों की सेवा करें। इनमें से जो कार्य न करे उसका वेतन काटा जाय। निरोजना और चिकित्सा के लिये रोके हुए घोडों को जोतने वाले पर १२ पण दण्ड हो। चिकित्सा में लापरवाही होन पर जितना व्यय हो उससे दूना दण्ड अश्वाध्यक्ष पर हो। इसी प्रकार अन्य पशुओं की व्यवस्था समझनी चाहिये।[2]

---

१. अश्वाध्यक्षः पण्यागारिकं क्रयोपागतमाहवलब्धमाजातं साहाय्यकागतकं पणस्थितं यावत्कालिकं वाश्वपर्यग्रं कुलवयोवर्णचिन्हवर्गागमैर्लेखयेत् ॥१
अप्रशस्तन्यङ्गव्याधितांश्चावेदयेत् ॥ २
कोशकोष्ठागाराभ्यां च गृहीत्वा मासलाभमश्ववाहश्चिन्तयेत् ॥ ३
अधि० २, अ० ३०

२. विधापचक सूत्र ग्राहक चिकित्सका प्रतिस्वादभाज ॥२९॥
युद्धव्याधिजराकर्मक्षीणा पिण्डगोचरिका स्युः ॥३०॥
असमरप्रयोग्याः पौरजानपदानामर्थेन वृषा वडवास्वायोज्याः ॥३१॥
प्रयोग्यानामुत्तमाः काम्बोजकसैन्धवारट्टजवनायुजाः ॥३२॥

हस्त्याध्यक्ष—राजकीय हाथियों के अध्यक्ष को हस्त्याध्यक्ष कहते हैं। हाथियों के वनों की रक्षा करना, हाथियों की रक्षा, शिक्षा, उनके बच्चों के पालन पोषण की व्यवस्था, उनका निवासस्थान, भोजन स्थान, भोजन व्यवस्था, युद्ध शिक्षा, उनको अनुकूल करना, उनकी चिकित्सा आदि विषयों की व्यवस्था करना हस्त्याध्यक्ष का काम है। वह इन सब बातों में कुशल होता है। हाथी को किस प्रकार पकड़ा जाता है। किस किस आयु के हाथी को किस किस प्रकार का भोजन कब कब देना चाहिए, इन बातों को भी हस्त्याध्यक्ष भली प्रकार जानता है। किस किस अवस्था और किस किस गति वाले हाथी को किस किस प्रकार का व्यायाम करना चाहिए ये सब बातें उसे जाननी चाहिए। ऋतु के अनुसार उनकी शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए।[1]

मध्यमा बाह्लीकपापेयसौवीरकतैतला ॥४३॥
शेषा प्रत्यवरा ॥४४॥
पराण्यद्वादशेति योजनान्यध्वरथ्यानां, पञ्चयोजनान्यर्धाष्टमानिदशति पृष्ठ वाह्यानामश्वानामध्वा ॥४४॥
विक्रमो भद्राश्वासो भारवाह्य इति मार्गाः ॥४५॥
विक्रमो वल्गितमुपकण्ठमुपजवो नवश्च धारा ॥४६॥
तेषां बन्धनोपकरणं योग्याचार्याः प्रतिदिशेयु ॥४७॥
साग्रामिक रथाश्वालंकार च सूता ॥४८॥
अश्वानां चिकित्सकाः शरीरह्रासवृद्धिप्रतीकारमृतुविभक्त चाहारम् ॥४९॥
सूत्र ग्राहकाश्वबन्धकयावसिकविधापाचकस्थानपालकेशकारजाङ्गलीविदश्च स्वकर्मभिरश्वानाराधयेयु ॥५०॥
कर्मातिक्रमे चैषां दिवसवेतनच्छेदनं कुर्यात् ॥५१॥
नीराजनोपरुद्धं वाहयतश्चिकित्सकोपरुद्ध वाद्वादशपणो दण्डः ॥५२॥
क्रियाभैषज्य सङ्गेन व्याधिवृद्धौ प्रतीकार द्विगुणोदण्ड ॥५३॥
तदपराधेन वैलोम्ये पत्रमूल्य दण्ड ॥५४॥
तेन गोमण्डल खरोष्ट्रमहिषमजाविक च व्याख्यातम् ॥५५॥
अधि० २ अ० ३०

1 हस्त्यक्षो हस्तिवनरक्षां दम्यकर्मक्षान्तानां हस्तिहस्तिनीकलभानां शालास्थानशय्याकर्म विधायवसप्रमाण कर्मस्वायोगं बन्धनोपकरण साग्रामिक मलकार चिकित्सकानीकस्थौ पस्थयुवर्गंचानुतिष्ठेत् ॥ १
हस्त्यायामद्विगुण सेधविष्कम्भायामां हस्तिनीस्थानाधिकां सप्रग्रीवां कुमारीसंग्रहां प्राङ्मुखीमुदङ्मुखीं वा शालां निवेशयेत् ॥ २

मुद्राध्यक्ष—सरकारी मुहर लगाकर पत्र या देने वाला मुद्राध्यक्ष कहलाता है। एक मापक (सिक्का) लेकर मुद्राध्यक्ष विदेशी व्यापारी आदि को राजकीय मुहर लगाकर आज्ञा पत्र देकर अपने देश में घुसने दे। अपने देश का निवासी भी यदि मुहर लगाने योग्य पत्र पर मुहर न लगवाये अर्थात्, लाइसेंस लेकर करने वाले कारबार को बिना लाइसेंस लिये करे तो उस पर

हस्त्ययाम चतुरश्रलक्षणालानस्तम्भफलकान्तरकं मूत्रपुरीषोत्सर्गस्थानं निवेशयेत् ॥ ३

स्थानसमशय्यामर्धापाश्रयां दुर्गे सांनाह्योपवाह्यानां बहिर्दम्यव्यालानाम् ॥ ४

प्रथम सप्तमावष्टमभागावह्नः स्नानकालौ तदनन्तरं विधायाः पूर्वाह्णे व्यायामकालः पश्चाह्नः प्रतिपानकालः ॥ ५

रात्रिभागौ द्वौस्वप्नकालौत्रिभाग संवेशनोत्थानिकः ॥ ६

ग्रीष्मे ग्रहण कालः, विंशतिवर्षोग्राह्यः ॥ ७

विक्कोमूढो मत्कुणो व्याधितो गर्भिणी धेनुका हस्तिनी चाग्राह्याः ॥ ८

सप्तारत्निरुत्सेधो नवायामो दश परिणाहः प्रमाणतश्चत्वारिंशद्वर्षो भवत्युत्तमः ॥ ९

त्रिंशद्वर्षोमध्यमः ॥ १०

पञ्चविंशतिवर्षोऽवरः ॥ ११

तयोपादानरो विधाविधिः ॥ १२

अरत्नौ तण्डुलद्रोणोऽर्धाढकं तैलस्य सर्पिषस्त्रयः प्रस्था दशपलं लवणस्यमांसं पञ्चाशत्पलिकं रसस्याढकं द्विगुणं वा दध्नः पिण्डक्लेदनार्थं-क्षारं दशपलिकं मद्यस्य आढकं द्विगुणं वा पयसः प्रतिपानं गात्रावसेकस्तैलप्रस्थःशिरसोऽष्टभाग प्रादीपिकश्चयवसस्य द्वौ भारौ सपादौ शष्पस्य शुष्कस्यार्धतृतीयो भारः कडङ्करस्यानियम ॥ १३

सप्तारत्निना तुल्यभोजनोऽष्टरत्निरत्यरालः ॥ १४

यथाहस्तमवशेष षडरत्निः पञ्चारत्निश्च ॥ १५

क्षीरयावसिको विक्क क्रीडार्थं ग्राह्यः ॥ १६

संजातलोहिता प्रतिच्छन्ना संलिप्तपक्षा समकक्ष्याव्यतिकीर्णमांसा समतल्पतला जातद्रोणिकेति शोभाः ॥ १७

शोभावशेन व्यायामं भद्रं मन्दं कारयेत् ।
मृग संकीर्ण लिङ्गं च कर्मस्वृतु,वशेन वा ॥१८॥

अधि० २, अ० ३१

बारह पण दण्ड हो। नकली मुहर लगाने वाले को उत्तम साहस दण्ड दिया जाय।[1]

विवीताध्यक्ष—चरागाह सम्बन्धी जगहों के अध्यक्ष को विवीताध्यक्ष कहते हैं। विवीताध्यक्ष को प्रत्येक व्यक्ति की मुहर देखकर जगहों में घुसने दे। जो स्थान भयानक हों उन्हीं स्थानों पर विवीताध्यक्ष को अपनी चौकी स्थापित करनी चाहिए। विवीताध्यक्ष को चाहिए कि वह चोर तथा हिंसक जीवों की खोज करता रहे। वन के भीतर भयानक स्थानों का भी पता चलाता रहे। चोर तथा शत्रु के आने पर वृक्ष पर चढ़कर इस प्रकार शंख दुन्दुभी बजवाये कि अन्तपाल को सूचना मिल जावे अथवा शीघ्रगामी अश्वों द्वारा अन्तपाल को सूचना कराये। कबूतर द्वारा संदेश भेजे अथवा अग्नि अथवा धूम की परम्परा गत (लगातार कुछ-कुछ दूर कहीं पर जलवाकर) संकेत द्वारा सूचना दे। उत्तम उत्तम वस्तुओं के वन, हस्तिवन, आदि की रक्षा करना, चुंगी दन से बचने वालों का पता लगाकर तथा क्रय विक्रय का प्रबन्ध करना विवीताध्यक्ष का कार्य है।[2]

न्यायाधिकार-वर्ग—कौटिल्य ने न्याय व्यवस्था का आधार प्राचीन काल के धर्म-शास्त्रों को माना है। अर्थ शास्त्र में जिस न्याय व्यवस्था का

---

१. मुद्राध्यक्षो मुद्रा माषकेण दद्यात् ॥ १
 समुद्रो जन पद प्रवेष्टुं निष्क्रमितुं वा लभेत ॥ २
 द्वादशपणममुद्रो जानपदो दद्यात् ॥ ३
 कूटमुद्रायां पूर्वः साहसदण्डः ॥ ४
 तिरोजनपदस्योत्तम ॥ ५

२. विवीताध्यक्षो मुद्रां पश्येत् ॥ ६
 भयान्तरेषु च विवीतं स्थापयेत् ॥ ७
 चोर व्याल भयान्निम्नारण्यानि शोधयेत् ॥ ८
 अनुदके कूपसेतुबन्धोत्सान्स्थापयेत्पुष्पफलवाटांश्च ॥ ९
 लुब्धकश्वगणिनः परिव्रजेयुररण्यानि ॥ १०
 तस्कराभित्राभ्यागमे शङ्खदुन्दुभिशब्दमग्राह्याः कुर्युः शैलवृक्षविरूढा वा शीघ्रवाहना वा ॥ ११
 अमित्राटवी सचारं च राज्ञो गृहकपोतैर्मुद्रायुक्तैर्हारयेयुः धूमाग्नि परंपरया वा ॥ १२
 द्रव्य हस्तिवनाजीवं वर्तिनीं चोर रक्षणम्।
 सार्थातिवाह्यं गोरक्ष्यं व्यवहारं च कारयेत् ॥१३॥ अधि० २ अ० ३४

वर्णन किया है उसका आधार अधिकांश में मनुस्मृति ही है। वेद, शास्त्र, महाभारत और नीति आदि से भी उसने बहुत सी बातें ली हैं। मनु और कौटिल्य की न्याय व्यवस्था कठोर और परिपूर्ण है। न्याय को धर्म का अंश माना है। न्याय का आधार दण्ड है। न्याय स्थापन रखने के लिये उग्र दण्ड की व्यवस्था होनी चाहिए। "दण्ड ही इस लोक और परलोक की रक्षा करता है इसलिए राजा अपने पुत्र और शत्रु दोनों को प्रत्येक को अपने दोषों के अनुसार दण्ड देता है (किसी प्रकार का पक्षपात नहीं करता)। जो राजा, धर्म व्यवहार, चरित्र और न्याय के अनुसार प्रजा का पालन करता है वह समस्त पृथ्वी पर शासन करने योग्य है। चरित्र, धर्म शास्त्र, व्यावहारिक शास्त्र (कानून) का जहां विरोध हो वहाँ धर्मानुसार न्याय से ही उसका निर्णय होना चाहिये। यदि धार्मिक न्याय और व्यावहारिक शास्त्र में परस्पर विरोध हो तो वहाँ "धर्म" न्याय को ही प्रमाण माना जाय। जिसके वाद (मुकदमे) में प्रत्यक्ष दोष हो और जो अपने और दूसरे पक्ष के दोष स्वयं स्वीकार करले तो हेतु (प्रमाण) प्रश्न (जिरह) और शपथ सहाय होते हैं। साक्षी कथन और गुप्तचर के कथन भी इसमें सहायक होते है।"[1]

धर्म, व्यवहार, चरित्र और राज शासन, ये चार पाद विवाद (मुकदमे) के माने गये हैं। इन सब में राज शासन सबसे महत्वपूर्ण है। धर्म, व्यवहार और चरित्र राजाज्ञा की बराबरी नहीं कर सकते हैं क्योंकि धर्म सत्य पर

१. दण्डोहि केवलो लोकं परं च रक्षति।
राज्ञापुत्रे च शत्रौ च यथा दोषं समधृतः ॥२४॥
अनुशासद्धि धर्मेण व्यवहारेण संस्थया।
न्यायेन च चतुर्थेन चतुरन्तां महीं जयेत् ॥२५॥
संस्थया धर्मं शास्त्रेण शास्त्रं वा व्यावहारिकम्।
यस्मिन्नर्थे विरुध्येत धर्मेणार्थं विनिर्णयेत् ॥२६॥
शास्त्रं विप्रतिपद्येत धर्मन्यायेन केनचित्।
न्यायस्तत्र प्रमाणं स्यात्तत्र पाठो हि नश्यति ॥२७॥
दृष्ट दोषः स्वयंवादः स्वपक्ष परपक्षयोः।
अनुयोमार्जवं हेतुः शपथश्चार्थं साधकः ॥२८॥
पूर्वोत्तरार्थं व्याघाते साक्षिवक्तव्यकारणे।
चारहस्ताच्च निष्पाते प्रदेष्टव्यः पराजयः ॥२९॥ अधि० ३, अ० १

निर्भर है, व्यवहार (मुकदमा) साक्षियों पर निर्भर है, मनुष्यता चरित्र पर निर्भर है परन्तु शासन राज-आज्ञा पर निर्भर है।[1]

तीन धर्माध्यक्ष (न्यायाधीश) और तीन आमात्य सीमाप्रान्त देशों, दस-ग्राम संग्रहों, चार सौ ग्राम संग्रहों तथा आठ सौ ग्राम संग्रहों के प्रधान भूत स्थानों पर न्यायालय स्थापित करें अर्थात् दस ग्राम संग्रहों (पञ्चायतों), सौ ग्राम संग्रहों (जिलों), चार सौ ग्राम संग्रहों (प्रान्तों) तथा सीमाप्रान्त देशों में न्यायालय स्थापित किये जायें। घर के भीतर छिपकर, रात, वन, एकान्त में तथा छल से किये गये व्यवहार (मुकदमे) सम्बन्धी लेख प्रमाणित न माने जायें। जो इस प्रकार व्यवहार करें उस को पूर्व साहस दण्ड दिया जाय। जो इस प्रकार की बातों को सुनकर राजा को सूचना न दे उस पर इसका आधा दण्ड हो। जो इस प्रकार के व्यवहार पत्र को लिखने में असमर्थ हो उनसे जुर्माना लिया जाय। न करने योग्य व्यवहार को यदि छिपकर किया जाय और गुप्त रूप से पत्र द्वारा उसकी सूचना मिल जाय तो वह प्रमाणित मानी जाय और सूचना न देने वाले को कोई दण्ड न दिया जाय। घर से न निकलने वाली स्त्रियों और अचेत न हुए रोगियों से घर के भीतर छिप कर दाय भाग, धरोहर, निधि, गिरवी और विवाह सम्बन्धी लेख यदि बिना स्टाम्प के कागज पर ही लिख लिये हों तो उनको प्रमाणित और जायज समझा जाय।[2]

साहस पूर्वक अनुचित रीति से किसी के घर में घुसना, लड़ाई झगड़ा करना, विवाह शासन सम्बन्धी कार्य और रात्रि के पूर्व भाग में कार्य करने

---

१. धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम् । विवादार्थश्चतुष्पाद् पश्चिमः पूर्वाधक ॥ ४१
तत्र सत्ये स्थितो धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिषु । चरित्रं संग्रहे पुंसां राज्ञामाज्ञा तु शासनम् ॥ ४२

२. धर्मस्थास्त्रयस्त्रयोऽमात्या जनपद सन्धिसंग्रह द्रोणमुखस्थानीयेषु व्यावहारिकानर्थान्कुर्युः ॥ १
तिरोहितान्तरगारनक्तारण्योपध्युपह्वरकृताश्च व्यवहारान्प्रतिषेधयेयुः ॥ २
कर्तुः कारयितुश्च पूर्वः साहसदण्ड ॥ ३
श्रोतॄणामेकैकं प्रत्यर्धदण्डा ॥ ४
श्रद्धेयाना तु द्रव्यव्यपनय ॥ ५
परोक्षेणाधिकर्णग्रहणमवक्तव्यकरा वा तिरोहिता सिद्ध्येयु ॥ ६
दायनिक्षेपोपनिधिविवाहयुक्ता स्त्रीणामनिष्कासिनीनां व्याधितानां चामूढसंज्ञानामन्तरगारकृता सिद्ध्येयुः ॥ ७ अधि० ३ अध्या० १

वाले लोगों के व्यवहारों (मुकदमों) पर न्यायाधीश विचार करे। दोनों में चलने वाले, आश्रमों में निवास करने वाले, वाणप्रस्थी, व्याध, गुप्तचर और वन में रहने वाले लोगों के व्यवहारों पर भी न्यायाधीश विचार करे। गुप्तरूप से छल कपट द्वारा लिखाये हुये पत्रों पर भी विचार किया जाय। पारस्परिक समझौते सम्बन्धी पत्र भी विचारणीय हैं। राज्य आज्ञा-सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त निराश्रय, पुरुष, जीवित पिता में पुत्र, पुत्र वाले पिता, कुलहीन, सम्पत्ति में भाग न पाया हुआ छोटा भ्राता, पति, और पुत्रवती स्त्री, दास, एवजी पुरुष, नाबालिग, अतीत व्यवहार, अतिवृद्ध, लोकनिन्दित, साधु सन्यासी, लगड़े-लूले, और विपत्ति ग्रस्त पुरुषों द्वारा किये गये व्यवहारों (मुकदमों) को उचित नहीं माना जाय। राजा की आज्ञा होने पर भी क्रोधी, व्याकुल उन्मत्त (पागल), मत्त (जनूनी) अपग्रहीत (पकड़े हुए अपराधी) द्वारा किये हुये व्यवहार भी अनुचित माने जायें। बलपूर्वक किये गये कार्यों के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार के कार्य उचित माने जायें। चाहे वे स्टाम्प पत्र पर लिखा हो चाहे साधारण पर।

जब मुकदमा न्यायालय में आय तो उसका सवत्सर, ऋतु मास, पक्ष, दिवस मुद्दालय (कर्त्ता) का नाम स्थान का नाम, पक्ष के साक्षी, प्रति पक्षी साक्षी, उनके नाम गोत्र जाति ग्राम, देश, पेशा आदि लिखकर दिया जाय। न्यायाधीश इन समस्त बातों से पूर्ण पत्र को स्वीकार करे। वादी-प्रतिवादी के तत्त्वार्थ आदि भी लिख ले और उन पर विचार करे।[1]

---

१. साहसानु प्रवेश कलह विवाह राजनियोगयुक्ता पूर्वं रात्र व्यवहारिणा च रात्रिकृता सिद्धयेयु ॥ ८

सार्थव्रजाश्रमव्याधचाराणा मध्येऽरण्य चराणामरण्यकृता सिद्धयेयु ॥ ९

गूढाजीविषु चोपधिकृता सिद्धयेयु ॥ १०

मिथ समवाये चोपह्वरकृता सिद्धयेयु ॥ ११

अतोऽन्यथा न सिद्धयेयु ॥ १२

अपाश्रयवद्भिश्च कृता पितृमतापुत्रेणपित्रा पुत्रवता निष्कुलेन भ्रात्रा कनिष्ठेनाविभक्तांशेन पतिमत्य पुत्रवत्या च स्त्रिया दासाहितकाभ्यामप्राप्तातीतव्यवहाराभ्यामभिशस्त प्रव्रजित व्यङ्गव्यसनिभिश्चान्यत्र निसृष्टव्यवहारेभ्य ॥ १३

तत्रापि क्रुद्धेनार्तेनमत्तेनोन्मत्तेनापगृहीतेन वा कृताव्यवहारासिद्धयेयु ॥ १४

कर्तृकारयितृश्रोतृणा पृथग्यथोक्तादण्डा ॥ १५

स्वे स्वे तु वर्गेदेशेकालेचस्वकरणकृता, संपूर्णचारा शुद्धदेशादृष्टरूप लक्षणप्रमाण गुणा सर्वव्यवहारा सिद्धयेयुः ॥ १६

जो प्रकरण से पृथक हो जाय, जिसका पहला वाद या कथन न मिले, दूसरे की न मानने योग्य बातों को मानले, पहले तो कोई बात बतलाने लगे, फिर मुकर जाय, कुछ बतावे कुछ न बतावे, साक्षियों द्वारा बताई बात को झूठ बतावे, न बात करने वाले स्थान पर आकर साक्षियों से गुपचुप बातें करे ऐसा पुरुष पराजित समझा जाय। ऐसे पराजित हुए पुरुष को जितने धन का मुकदमा है उसका पांचवां भाग दण्ड रूप में राज्य को देना चाहिये। जो मिथ्या मुकदमा लाये उस पर देय धन का दसवां भाग दण्ड होना चाहिये। यदि कर्मचारी है तो वेतन का आठवां भाग दे। हारने वाला दूसरे पक्ष का व्यय भी दे। लड़ाई, झगड़ा, डाका, व्यापार तथा व्यापारिक कम्पनियों के मुकदमों को छोड़कर अपराधी से किसी बात का जुर्माना न लिया जाय, न अभियुक्त पर मुकदमा चलाया जाय। मुस्तग़ीस (अभियोक्ता) से जब प्रश्न किया जाय और वह उत्तर न दे तो वह हारा हुआ समझा जाय। अभियोक्ता को उत्तर देने के लिए तीन या सात दिन की मोहलत मिलनी चाहिये। यदि तीन या सात दिन पश्चात् उत्तर न दे तो उस पर तीन पण से १२ पण तक प्रति दिन के हिसाब से जुर्माना होना चाहिये। यदि अधिक समय हो जाय तो उसकी सम्पत्ति कुर्क करके विपक्षी को दिलादी जाय और उसको केवल खाने पीने मात्र को छोड़ दिया जाय। वादी झूठा सिद्ध हो तो प्रतिवादी को हर्जाना दिलाया जाय। अभियुक्त को प्रश्न के उत्तर देने के लिये मोहलत की आवश्यकता नहीं है।[२]

परिचर्मत्वैषां करणमादेशाधिवर्जं श्रद्धेयम् ॥ १७
इति व्यवहार स्थापना ॥ १८
संवत्सरमृतुं मासं पक्षं दिवसं करणमधिकरणमृणं वेदकावेदकयोः कृतसमर्थावस्थयोर्देशग्रामजातिगोत्रनामकर्माणि चाभिलिख्य वादि-प्रतिवादी प्रश्नानर्थानुपूर्व्याग्निवेशयत् ॥ १९
अधि० ३, अध्या० १

१, निविष्टांश्चावेक्षेत ॥ २०
निबद्धं पादमुत्सृज्यान्यपादं संक्रामति ॥ २१
पूर्वोक्तं पश्चिमेनार्थेन नाभिसंधत्ते ॥ २२
परवाक्यमनभिग्राह्यमभिग्राह्यावतिष्ठते ॥ २३
प्रतिज्ञाय देशं निर्दिशेत्युक्ते न निर्दिशति ॥ २४
हीनदेशमदेशं वा निर्दिशति ॥ २५
निर्दिष्टाद्देशादन्यं देशमुपस्थापयति ॥ २६

प्रतिवादी अथवा अभियुक्त की मृत्यु हो जाने पर अथवा उसके संकट में पड़ जाने पर न्यायालय में उपस्थित न होने पर एक ही पक्ष को साक्षी लेकर और मुकदमे का तत्व जान कर निर्णय किया जाय और दण्ड दिया जाय ।[1]

विवाह—वर और कन्या की प्राति (स्वीकृति) की विवाह में आवश्यकता है। बलपूर्वक किये हुए विवाह से यदि स्त्री पुरुष प्रसन्न न हों तो वह विवाह नहीं माना जा सकता।

स्त्री धन—जो वर की ओर से कन्या को धन दिया जाता है वह स्त्री धन है। ये दो प्रकार का होता है वृत्ति धन (नकद) और अबाध्य धन। अगले सूत्रों में स्त्री धन के प्रयोग तथा स्त्री धन सम्बन्धी व्यवहार (मुकदमे) का वर्णन है।[2]

उपस्थित देशेऽर्थवचनं नैव मिरपपस्ययते ॥ २७

साक्षिभिरपदृष्टंनेच्छति ॥ २८

असंभाष्ये देशे साक्षिभिर्मिथः संभाषते ॥ २६

इतिपरोक्तहेतवः ॥ ३०

परोक्तदण्डः पञ्चबन्धः ॥ ३१

स्वयंवादिदण्डो दशबन्धः ॥ ३२

पुरुषभृतिरष्टांशः ॥ ३३

पथि भक्तमर्थविशेषतः ॥ ३४

तदुभयं नियम्योदयात् ॥ ३५

अभियुक्तोप्रत्यभियुञ्जीत ॥ ३६

अन्यत्र कलह साहस सार्थ समवायेभ्यः ॥ ३७

न चाभियुक्तेऽभियोगऽस्ति ॥ ३८

अभियोक्ता चेत्प्रत्युक्तस्तदहरेव न प्रतिब्रूयात्परोक्तः स्यात् ॥ ३६

कृतकार्य विनिश्चयोह्यभियोक्ता नाभियुक्तः ॥ ४०

तस्याप्रतिब्रुवतस्त्रिरात्रंसप्तरात्रमिति ॥ ४१

अत ऊर्ध्वं त्रिपणावराध्यं द्वादशपणपरं दण्डं कुर्यात् ॥ ४२

त्रिपक्षादूर्ध्वम प्रतिब्रुवतः परोक्त दण्डं कृत्वा यान्यस्य द्रव्याणिस्युस्ततोऽभियोक्तारं प्रतिपादयेदन्यत्रयुपकरणेभ्यः ॥ ४३

तदेवनिष्पततोऽभियुक्तस्य कुर्यात् ॥ ४४

अभियोक्तु निष्पातस्समकालः परोक्तभावः ॥ ४५ अधि० ३, अ० १

१. सर्वेषांप्री यारोपणम प्रतिषिद्धम् ॥१२॥ अधि० ३, अध्या० २

२. वृत्तिराबध्यं वा स्त्रीधनम् ॥१६॥ परद्विसाहस्त्रास्थाप्या वृत्तिः ॥१७॥ आबध्यानियमः ॥१८॥ अधि० ३, अ० २

दाय भाग (बँटवारा)—माता पिता में से एक के जीवित रहने पर पुत्र अपनी पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी नहीं हो सकता। अपने कमाये धन में बँटवारा नहीं हो सकता। अपुत्र के द्रव्य को उसका सहोदर भ्राता ले सकता है। विवाहित स्त्री-पुरुषों के धन का स्वामी बेटा और उसके अभाव में बेटी है। निःसन्तान पुरुष के धन का मालिक उसके भ्राता अथवा चचेरे तयेरे भाई भतीजे होते हैं। अगले सूत्रों में विस्तार पूर्वक दाय भाग सम्बन्धी व्यवहारों का वर्णन किया गया है।[1]

कौटिल्य ने दाय भाग का वर्णन करके अन्त में यह लिखा है कि "देश, जाति, समाज और ग्राम की रीति जो परम्परा से चली आ रही हो उसी के अनुसार दाय भाग की व्यवस्था होनी चाहिये।"[2]

ग्रहवास्तुक (अचल सम्पत्ति)—जायदाद (वास्तु) सम्बन्धी विवादों का निर्णय ग्राम के मुखिया (सामन्त) को करना चाहिये। खेत, घर वाटिका पोखर तालाब, भूमि आदि वास्तु हैं। कोनों में लोहे की छड़ें गाड़कर लोग अपनी अपनी सीमा बनालें, यही सीमित स्थान वास्तु कहलाता है। भूमि की सीमा के अनुसार मकान बनता है और इस प्रकार सीमा निश्चित करने से

1. अनीश्वरा पितृमन्तः स्थितपितृमातृकाः पुत्राः ॥१॥
तेषामूर्ध्वं पितृतो दायविभागः पितृद्रव्याणां स्वयमार्जितमविभज्यमन्यत्र पितृद्रव्यादुत्थितेभ्यः ॥२॥
द्रव्यमपुत्रस्य सोदर्या भ्रातरः सहजीविनो वा हरेयुः कन्याश्च रिक्थम् ॥८
पुत्रवतः पुत्रा दुहितरो वा धर्मिष्ठेषु विवाहेषु जाताः ॥ ९
तदभावे पिता धरमाणः ॥ १० ॥ पित्र भावे भ्रातरो भ्रातृपुत्राश्च ॥ ११
अपितृका बहवोऽपि च भ्रातरो भ्रातृपुत्राश्च पितुरेकमंशंहरेयुः ॥ १२
सोदर्याणामनेकपितृकाणांपितृतो दायविभाग पितृभ्रातृपुत्राणां पूर्वे विद्यमाने नापरमवलम्बन्ते ॥ १३
ज्येष्ठे च कनिष्ठ मर्थग्राहिणम् ॥१४
जीवद्विभागे पिता नैकंविशेषयेत् ॥ १५
न चैकमकारणान्निर्विभजेत ॥ १६
पितुरसत्यर्थे ज्येष्ठाः कनिष्ठाननुगृह्णीयुरन्यत्र मिथ्यावृत्तेभ्यः ॥ १७
प्राप्तव्यवहाराणां विभागः ॥ १८
संनिविष्टमसंनिविष्टेभ्यो नैवेशनिकं दद्युः ॥२० अधि० ३, अध्या० ५

2. देशस्य जात्या संघस्य धर्मो ग्रामस्य वापि यः। उचितस्तस्य तेनैव दाय धर्मं प्रकल्पयेत् ॥ ४५ अधि० ३, अ० ७

मकान बनाते समय दूसरे की भूमि पर अधिकार नहीं होता। लगभग दो हाथ अथवा तीन पाद मकान का आसार बनाया जाय। शौचस्थान, तथा कूप और पनघट बनाया जाय जो इन दो वस्तुओं को बनाये उस पूर्व साहस दण्ड दिया जाय जो मकान मोरियाँ (नालिया) न बनाये उस पर ५४ पण दण्ड हो। एक पद चौडी नाली बना कर चार खम्भो की एक अग्नि शाला, आटा पीसन की चक्की और धान्यादि कूटन के लिय ओखल बनाई जाय। जो न बनाय उस पर २४ पण दण्ड हो। मकान म छज्जे, छत की सीढी, खिडकी, वातयान (उजालदान), वानलट (सबस उपर की छत), वर्षा में सोन योग्य पटा हुआ बरामदा आदि बनाय जायें। एसा न करन वाले को पूर्व साहस दण्ड हो।[1] किरायदार को मकान खाली करन के लिय कहन पर यदि वह खाली न करे

---

१. सामन्तप्रत्यया वास्तुविवादाः ॥१॥
गृहं क्षेत्रमारामः सेतुबन्धस्तटाकमाधारो वा वास्तु ॥२॥
कर्णकीलायससम्बन्धोऽनुगृहं सेतु ॥३॥
यथासेतुभोगं वेश्म कारयेत ॥४॥
अभूतगापर कुड्यादविक्रम्य ॥५॥
द्वावरत्नी त्रिपदीं वा देशबन्ध कारयेत् ॥६॥
अवस्करभ्रममुदपान पनगृहोचितमन्यत्र सूतिकाकूपादानिर्दशाहादिति ॥७॥
तस्यातिक्रमे पूर्वं साहसदण्ड ॥८॥
तेनेन्धनावघातन कृ० कल्याण कृत्येष्वा चामोदकमार्गाश्च व्याख्याता ॥९॥
त्रिपदी प्रतिक्रान्तमध्यधर्मरत्नि वा प्रवेश्य गाढप्रसृतमुदकमार्गं प्रस्रवण प्रपात वा कारयेत् ॥१०॥
तस्यातिक्रमे चतुष्पन्चाशत्पणो दण्ड ॥११॥
एकपदीप्रतिकान्तमरत्नि वा चक्रिचतुष्पदस्थानमग्निष्ठमुदञ्जर स्थानं रोचनीं कुट्टनीं वा कारयेत् ॥१२
तस्यातिक्रमे चतुर्विंशतिपणो दण्ड ॥१३॥
सर्ववास्तुकयो प्राक्षिप्तकयोर्वाशालयो क्षिप्रुरन्तरिका त्रिपदी वा ॥१४॥
तयोश्चतुरगुल नीप्रान्तर समारूढकं वा ॥१५॥
किष्कुमात्रामाणिद्वारमन्तरिकायां खण्डफुल्लार्थमसपात कारयेत् ॥१६॥
प्रकाशार्थमल्पमूर्ध्वं वातायान कारयेत् ॥१७
तदवसिते वेश्मनिच्छादयेत् ॥१८॥
सभूय वा गृहस्वामिनो यथेष्टं कारयेयुरनिष्टं वारयेयु ॥१९
वानलट्याश्चोर्ध्वमाहार्य भोगकटप्रच्छन्नमवमर्शभित्तिं वा कारयेद्वर्षाबाधाम यात् ॥२०॥ तस्यातिक्रमे पूर्वं साहसदण्ड ॥ अधि० ३, अ० ८

अथवा जो किराया देने पर भी एक दम मकान खाली करावे उन दोनों पर बारह बारह पण दण्ड हो। कठोर व्यवहार, डाका, चोरी, मिथ्या व्यवहार, व्यभिचार, छल आदि का व्यवहार करने वाले से मकान खाली कराया जा सकता है। यदि किरायेदार स्वयं छोड़े तो पूरे वर्ष का किराया दे। धर्मशाला आदि सर्व साधारण स्थानों के लिये सहायता न देने वाले अथवा उनके उपभोग में बाधा डालने वाले पर १२ पण दण्ड हो। यही दण्ड उस पर हो जो सार्वजनिक सेवा की वस्तु का नाश करे। कोठे और आंगन के अतिरिक्त अग्निशाला अथवा धान्य आदि कूटने के खुले स्थानों का प्रयोग सर्वसाधारण जनता कर सकती है।[1]

वास्तु-विक्रय—ग्राम का मुखिया खेत वाटिका, तालाब आदि का नीलाम तीन बोली बोलकर करे। बढ़कर बोली बोलने वाला उसे खरीदे। जब दो मनुष्यों में बहस छिड़ जाय और बोली अधिक बढ़जाय तो राजकीय शुल्क (कर) के साथ बढ़ी हुई रकम सरकारी कोष में पहुंच जाय। खरीदने वाला कर अदा करे। गृहस्वामी की अनुपस्थिति में मकान नीलाम करने पर २४ पण दण्ड दिया जाय। सात दिन का नोटिस दिया जाय, यदि सात दिन में मकान का स्वामी न आये तो नीलाम कर दिया जाय। यदि बोली बोलकर मकान न ले तो उसपर दो सौ पण दण्ड हो। यदि ग्राम की सीमा के सम्बन्ध में झगड़ा हो तो दोनों ग्रामों के मुखिया अथवा ग्राम के दस पांच मुख्य पुरुष उसकी सीमाबन्दी करादें। इस सीमा को तोड़ने वाले पर एक सहस्र पण दण्ड हो।[2] खेतों के विवादों का निर्णय ग्राम के मुखिया करें

1. प्रतिषिद्धस्य च वसतो निरस्यतश्चान्यत्रयणम् ॥२८॥
   अन्यत्रपारुष्यस्तेयसाहससंग्रहणमिथ्याभोगेभ्य ॥२९॥
   स्वयमभिप्रस्थितो वर्षावक्रयशेषं दद्यात् ॥३०॥
   सामान्ये वेश्मनि साहाय्यमप्रयच्छतः सामान्यमुपरुन्धतो भोगनिग्रहे द्वादश पणो दण्ड ॥३१॥
   विनाशयतस्तद्द्विगुण ॥३२॥
   कोष्ठकाङ्गणवर्जानामग्निकुम्भशालयो । विवृतानां च सर्वेषां सामान्ये भोग इष्यते ॥३३॥ अधि० २, अ० ८
2. ज्ञाति सामन्तधनिका क्रमेण भूमिपरिग्रहान्क्रेतुमभ्याभवेयु ॥१॥
   ततोऽन्येबाह्या सामन्तचत्वारिंशत्कुल्या गृहप्रतिमुखेवेश्मश्रावयेयु ॥२॥
   सामन्तग्रामवृद्धेषु क्षेत्रमारामं सेतुबन्धं तटाकमाधारं वा मर्यादासु यथा सेतु भोगमनेनार्घेणक क्रेता इति त्रिराघुषितमव्याहतं क्रेता क्रेतुं लभेत ॥३॥

अथवा वृद्ध पुरुष करें। यदि उनमें मत भेद हो तो प्रजा कुछ धार्मिक पुरुषों को इस कार्य के लिये निर्वाचित करे या सब मिलकर मध्यस्थ स्वीकार करें। सब प्रकार के विवादों का निर्णय ग्राम के मुखिया कर सकते हैं।[1]

मार्ग रोकना—छोटे पशुओं और मनुष्यों के मार्ग रोकने पर २४ पण, हाथी और खेत का मार्ग रोकने पर चौबीस पण, सेतु तथा वन का मार्ग रोकने पर ६०० पण, श्मसान और ग्राम का मार्ग रोकने पर एक सौ, द्रोण मुख स्थान का मार्ग रोकने पर ५०० पण और स्थानीय, राष्ट्र और वजर भूमि का मार्ग रोकने पर १००० पण दण्ड दिया जाय।[2]

स्पर्धितयोर्वा मूल्यवर्धने मूल्यवृद्धिः सशुल्का कोशं गच्छेत् ॥४॥
विक्रयप्रतिक्रोष्टा शुल्कं दद्यात् ॥५॥
अस्वामिप्रतिक्रोशे चतुर्विंशतिपणो दण्डः ॥६॥
सप्तरात्रादूर्ध्वमनभिसरतः प्रतिक्रुष्टो विक्रीणीत ॥७॥
प्रतिक्रुष्टातिक्रमे वास्तुनिद्विशतोदण्डः ॥८॥
सीमविवादं ग्राम योरुमयोः सामन्ताः पन्चग्रामी दशग्रामी वा सेतुभिः स्थावरैः कृत्रिमैर्वा कुर्यात् ॥११॥
कर्षक गोपाल वृद्धका पूर्व भुक्तिका वा बाह्याः सेतूनामनभिज्ञा बहव एको वा निर्दिश्य सीमसेतून्विपरीतवेषाः सीमानं नयेयुः ॥१२॥
उद्दिष्टानां सेतूनामदर्शने सहस्रं दण्डः ॥१३
तदेव नीते सीमापहारिणां सेतुच्छिदां च कुर्यात् ॥१४॥
प्रनष्टसेतुभोगं वा सीमानं राजा यथोपकारं विभजेत् ॥१५
अधि ३, अ० ६

१. क्षेत्रविवादं सामन्तग्रामवृद्धाः कुर्युः ॥१६॥
तेषां द्वैधीभावे यतो बहवः शुचयोऽनुमता वा ततो नियच्छेयुः ॥१७॥
मध्यं वा गृह्णीयुः ॥१८॥
सर्व एव विवादा सामन्तप्रत्ययाः ॥२७॥ अधि० ३, अ० ६

२. क्षुद्रपशु मनुष्यपथं रुन्धतो द्वादशपणो दण्ड: ॥६॥
महापशुपथं चतुर्विंशतिपणः ॥७॥
हस्तिक्षेत्रपथं चतुष्पञ्चाशत्पणः ॥८॥
सेतुवन पथं षट्छतः ॥९॥
श्मशान ग्राम पथं द्विशतः ॥१०॥
द्रोणमुखपथं पंचशतः ॥११॥
स्थानीयराष्ट्रविवित पथं साहस्रः ॥१२॥ अधि० ३, अ० १०

ऋण—एक सौ रुपये पर एक मास के लिये सवा रुपया ब्याज लेनी चाहिये, यह धर्म की व्यवस्था है। विदेशी व्यापारियों से १०० पर ५ रुपये मासिक ब्याज ली जा सकती है। वन में रहने वालों से दस रुपया प्रतिशत, समुद्र मार्ग से व्यापार करने वालों से २० प्रतिशत (मासिक) ब्याज ली जा सकती है। इससे अधिक लेने पर प्रथम साहस दण्ड दिया जाय। जिस ऋण पर राज्य सुख निर्भर हो ऐसे ऋण लेने देने वालों पर राज्य निगरानी रखे। अगले सूत्रों में ऋण सम्बन्धी समस्त विवादों का वर्णन है।[1]

ऋण के निर्णय के लिये एक से अधिक, दो अथवा तीन साक्षी होने चाहिये।[2]

साला, सहायक, दास, ऋण दाता, ऋण लेने वाला, शत्रु, अंग हीन और अपराधी (राज्य द्वारा सजा पाया हुआ) साक्षी नहीं हो सकते। विशेष अवस्था में यह भी हो सकते हैं। राजा, वेद पाठी, ग्राम का साहूकार, कोढ़ी, फोड़े वाला, चाण्डाल, बुरे कार्य करने वाला, अन्धा, बहरा, गूंगा, अहंकारी, स्त्री, और राज पुरुष केवल अपने ही वर्गों में साक्षी बन सकते हैं। एकान्त में गुप्त व्यवहारों में अकेली स्त्री अथवा अकेला पुरुष भी इन घटनाओं को देखने वाला साक्षी हो सकता है। राजा अथवा साधु के वेष में रहने वाला गुप्तचर साक्षी नहीं हो सकता। स्वामी, नौकर, ऋत्विज, आचार्य, शिष्य माता, पिता, पुत्र साक्षी हो सकते हैं। जब इनका परस्पर विवाद हो और स्वामी आदि उत्तम जन हारे तो वे अपने धन का दसवां भाग, यदि क्षुद्रजन हारे तो अपने धन का पांचवां भाग दे। साक्षी को सत्य बोलना चाहिये। यदि साक्षी सत्य न बोले तो उस पर २४ पण दण्ड हो। जो साक्षी के विषय में कुछ न कहे उस पर इसका आधा दण्ड हो। वादी को चाहिये कि

---

१. सपादपणा धर्म्या मासवृद्धिः पणशतस्य ॥१॥
पञ्चपणा व्यावहारिकी ॥२॥
दशपणा कान्तारकाणाम् ॥३॥
विंशतिपणा सामुद्राणाम् ॥४॥
ततः परं कर्तुः कारयितुश्च पूर्वः साहसदण्डः ॥५॥
श्रोतॄणामेकैकं प्रत्यर्धदण्डः ॥६॥
राजन्योगक्षेमवहं तु धनिकधारणिकयोश्चरित्रमवेक्षेत ॥७॥ अधि० ३, अ० ११

२. प्रात्ययिकाः शुचयोऽनुमता वा त्र्यवरा अर्थ्याः ॥३२॥
पक्षानुमतौ वा द्वौ ॥३३॥
ऋणं प्रति न त्वेवैकः ॥३४॥ अधि० ३, अ० ११

जहाँ तक हो सके देश कालानुसार समीप के ही पुरुष को साक्षी बनावे। यदि न्यायाधीश दूरस्थ साक्षी को बुलाये तो उसे उपस्थित किया जाय।[1]

औपनिधिक (धरोहर)—यदि कोई पुरुष किसी की धरोहर का उपभोग करले तो वह उसका मूल्य दे और उस पर १२ पण दण्ड किया जाय। यदि धरोहर उपभोग में नष्ट हो गई है तो उसे २४ पण दण्ड देना चाहिये। यदि धरोहर रखने वाला विदेश चला जाय अथवा उसके विपत्ति में पड जाने के कारण धरोहर नष्ट हो जाय तो वह कुछ भी देनदार न होगा। यदि, धरोहर का अपव्यय करेगा तो उसको चौगुना मूल्य देना होगा और उस पर पाच गुना दड हो।[3] धरोहर वस्तु के भूल बदल जाने या नष्ट हो

---

१. प्रतिषिद्धाः स्यालामहायाबद्धधनिक धारणिकवैरिन्यङ्ग धृत दण्डाः ॥३५॥
पूर्वे चायवहार्याः ॥३६॥
राजश्रोत्रियग्रामभृतकुष्ठिव्रणिनः पतित चण्डालकुत्सितकर्माणोऽन्ध बधिर मूकाहंवादिनः स्त्रीराजपुरपाश्चान्यत्र स्वर्गेभ्यः ॥३७॥
पारुष्यस्तेयसंग्रहणेषु तु वैरिस्यालसहायवर्जाः ॥३८॥
रहस्यव्यवहारेष्वेका स्त्री पुरुष उपश्रोता उपद्रष्टा वा साक्षी स्याद्राजतापसवर्जम् ॥३९॥
स्वामिनो भृत्यानामृत्विगाचार्याः शिष्याणां मातापितरौ पुत्राणां चानिग्रहेण साक्ष्यं कुर्युः ॥४०॥
तेषामितरे वा ॥४१॥
परस्पर विभोगे चैषामुत्तमाः परोक्ता दशबन्धं दद्यु खराःपञ्चबन्धम् ॥४२॥
इतिसाक्षिकारः ॥४३॥
प्रु वंहि साक्षिभिः श्रोतयम् ॥६३॥
अश्रण्वतां चतुर्विंशतिपणौ दण्डः ॥६४॥ ततोऽर्धमप्रुवाणाम् ॥६५॥
देशकालाविदूरस्थान्साक्षिणः प्रतिपादयेत्।
दूरस्थान प्रसारान्वा स्वामि वाक्येन साधयेत् ॥६६॥ अधि० ३, अ० ११

२. उपनिधिमोक्ता देशकालानुरूपं भोगवेतनं दद्यात् ॥३॥
द्वादश पणं च दण्डम् ॥४॥
उपभोगनिमित्तं नष्टं वाभ्याभवेच्चतुर्विंशतिपराश्च दण्डः ॥५॥
अन्यथा वा निष्पतने ॥६॥
प्रेतं व्यसनगतं वा नोपनिधिमभ्याभवेत् ॥७॥
आधान विक्रयापव्ययनेषु चास्य चतुर्गुणपंचबन्धनो दण्डः ॥८॥
अधि० ३, अ० १२

जाने पर केवल मूल्य देना होगा । गिरवी रखी हुई वस्तु के लिये भी धरोहर से ही नियम है ।[1]

ऊपर दीवानी सम्बन्धी विषयों का वर्णन किया गया है फौजदारी सम्बन्धी विषय का वर्णन नीचे दिया जाता है —

साहस—(डाका चोरी) जैसा अपराध हो वैसा दण्ड दिया जाय । पुष्प फल शाक कन्दमूल चर्म बांस मिट्टी के बर्तन आदि छोटी वस्तुओं के डाके पर २४ पण तक दण्ड दिया जाय । लोहा लकड़ी छोटे पशु वस्त्र आदि पर ४८ पण तक ताम्बा पीतल आदि पर ९६ पण तक बड़े पशु मनुष्य खेत मकान सुवर्ण रेशमी वस्त्र आदि के लिये २०० पण से ५०० पण तक तथा किसी पुरुष व स्त्री को बलपूर्वक रोक रखने अथवा राजा की कैद से छुड़वा देने वाले पर ५०० से १००० पण तक उत्तम साहस दण्ड होना चाहिये । जो डाके वालों से मिलकर डाका डलवाये उस पर दूना दण्ड हो । इन दण्डों का आठ प्रतिशत राजकोष में जमा किया जाय । यदि दण्ड १०० से कम है तो उस पर ५ प्रतिशत कर सरकार में जमा किया जाय ।[2]

१ परिवर्तने निष्पतने वा मूल्यसमं ॥६॥ अधि० ३, अ० १२

२ साहसमन्वयवत्प्रसभकर्म ॥१॥ निरन्वये स्तेयमपव्ययने च ॥२॥
यथापराधमिति कौटिल्यः ॥५॥
पुष्पफलशाकमूलकन्दपक्वान्नचर्मवेणुमृद्भाण्डादीनां क्षुद्रद्रव्याणां द्वादशपणावरश्चतुर्विंशतिपणपरो दण्डः ॥६॥ कालायसकाष्ठरज्जुद्रव्यक्षुद्रपशुशाटादीनां स्थूलकद्रव्याणां चतुर्विंशतिपणावरोऽष्टचत्वारिंशत्पणपरो दण्डः ॥७॥ ताम्रवृत्तकंसकाचदन्तभाण्डादीनां स्थूलकद्रव्याणामष्टचत्वारिंशत्पणावरः षण्णवतिपरः पूर्वः साहसदण्डः ॥८॥
महापशुमनुष्यक्षेत्रगृहहिरण्यसुवर्णसूक्ष्मवस्त्रादीनां स्थूलकद्रव्याणां, द्विशतावरः पञ्चशतपरो मध्यमः साहसदण्डः ॥९॥
स्त्रियं पुरुषं वाभिषह्य बध्नतो बन्धयतो बन्धं वा मोक्षयतः पञ्चशतावरः सहस्रपर उत्तमः साहसदण्डः इत्याचार्याः ॥१०॥
यः साहसं प्रतिपत्तेति कारयति स द्विगुणं दद्यात् ॥११॥
यावद्धिरण्यमुपयोक्ष्यते तावद्दास्यामीति स चतुर्गुणं दण्डं दद्यात् ॥१२॥
य एतावद्धिरण्यं दास्यामीति प्रमाणमुद्दिश्य कारयति स यथोक्तं हिरण्यं दण्डं च दद्यादिति बार्हस्पत्याः ॥१३॥
स चेत्कोपं मदं मोहं वापदिशेद्यथोक्तवद्दण्डमेनं कुर्यादिति कौटिल्यः ॥१४॥
दण्डकर्मसु सर्वेषु रूपमष्टपणं शतम् ।
शतात्परेषु व्याजीं च विद्यात्पञ्चपणं शतम् ॥१५॥ अधि० ३ अ० १७

वाक्यारुष्य—किसी को गाली देना वाक्यारुष्य कहलाता है। शरीर, प्रकृति, शास्त्र, जीविका और देश के सम्बन्ध में गाली दी जाती है। लगडा, लूला अथवा, काडा कहने वाले पर तीन पण, यदि ऐसा न हो और कहा जाय तो ६ पण, व्यंग प्रयोग करने पर बारह पण, कोढी, पागल, नपुंसक आदि कहने पर भी १२ पण, सच्ची या झूठी स्तुति, निन्दा द्वारा उपहास करने पर भी १२ पण, उत्तम गुण वाले की निन्दा करने पर दुगना और छोटी प्रतिष्ठा वाले के साथ ऐसा व्यवहार करने पर आधा दण्ड होता है। दूसरे की स्त्री की निन्दा करने पर दूना दंड होता है, यदि मद, प्रमाद अथवा मोह के कारण ऐसे वचन कहे जायें तो आधा दण्ड होता है। जो व्यक्ति अपने ग्राम अथवा देश की निन्दा करे तो उसे पूर्व साहस दंड, जाति और समाज की निन्दा करे तो मध्यम साहस दंड और देवालय की निन्दा करे तो उत्तम साहस दण्ड होता है।[1]

दण्ड पारुष्य—शारीरिक आक्रमण और मार पीट को दण्ड पारुष्य कहते हैं। नाभि के नीचे शरीर पर आक्रमण करने अथवा कीचड़ आदि लगाने पर ३ पण, अपवित्र वस्तु ठोक थूक आदि लगाने पर ६ पण, कै, मलमूत्र लगाने पर १२ पण दंड होता है। नाभि के ऊपर के शरीर पर ऐसा करने से दुगना दण्ड मिलता है। सिर पर डालने पर चौगुना दण्ड होता है। ऐसी समान जाति वालों की व्यवस्था है। यदि उच्च जाति का नीच जाति के साथ ऐसा करे तो आधा दंड और नीच जाति वाला उच्च जाति वाले के साथ ऐसा करे तो दुगना दण्ड होता है। दूसरे की स्त्री के

---

१. वाक्यारुष्यमुपवादः कुत्सनमभिभर्त्सनमिति ॥१॥
शरीर प्रकृति श्रुतवृत्तिजनपदानां शरीरोपवादेन काणखञ्जादिभिः सत्ये त्रिपणोदण्डः ॥२॥
मिथ्योपवादे षट्पणो दण्डः ॥३॥
शोभनाक्षिमन्त इति काणखञ्जादीनां स्तुति निन्दायां द्वादशपणो दण्डः ॥४॥
कुष्ठोन्मादक्लैब्यादिभिः कुत्सायां च ॥५॥
सत्यमिथ्या स्तुतिनिन्दासु द्वादशपणोत्तरा दण्डास्तुल्येषु ॥६॥
विशिष्टेषुद्विगुणः ॥७॥ हीनेष्वर्धदण्डः ॥८॥
परस्त्रीषु द्विगुणः ॥९॥
प्रमादमदमोहादिभिरर्धदण्डाः ॥१०॥
स्वदेशग्रामयोः पूर्वं मध्यमं जाति सङ्घयोः ।
आक्रोशाद्देवचैत्यानामुत्तमं दण्डमर्हति ॥२०॥ अधि० ३, अ० १८

साथ ऐसा करने से दूना और मदमोह में ऐसा करे तो आधा दण्ड होता है ।[1]

शरीर के किसी भाग के पकड़ने, मारने की चेष्टा करने, मारने, रक्त निकालने अथवा मार डालने पर दण्ड जुर्माने से लेकर उत्तम साहस दण्ड अर्थात् मृत्यु दण्ड तक की व्यवस्था कौटिल्य ने की है ।

द्यूत (जुआ)—द्यूताध्यक्ष किसी स्थान पर जुआ खेलने की व्यवस्था कर दे । जो कोई उस स्थान के अतिरिक्त जुआ खेले उस पर १२ पण दण्ड हो । जुआ जीतने वाले पर पूर्व साहस और हारने वाले पर मध्यम साहस दंड हो ।[2]

प्रत्येक पुरुष को उसके अपराध अनुसार दण्ड दिया जाय । धर्माधिकारी छल कपट रहित होकर कार्य करें । सबको समान दृष्टि से देखें । पक्षपात रहित होकर कार्य करें । समस्त प्रजा के विश्वास पात्र और लोक प्रिय हों ।[3]

कण्टक शोधन—*(प्रजा को कष्ट देने वालों को दण्ड देना)*—तीन प्रदेष्टा अर्थात् कण्टक शोधन अधिकारी अथवा तीन अमात्य प्रजा कष्ट देने वालों से प्रजा की रक्षा करें । शिल्पी साहूकार, भिक्षुक, नट, बाजीगर आदि भी चोर के समान प्रजा का पीडन करते हैं इनके द्वारा पीड़ित प्रजा की राजा को रक्षा करनी चाहिये । ये लोग किस प्रकार प्रजा को कष्ट

---

१. दण्डपारुष्यं स्पर्शनमवगूर्णं प्रहतमिति ॥१॥
नाभेरधः कायं हस्तपङ्क भस्मपांसुभिरिति स्पृशतस्त्रिपणो दण्डः ॥२॥
तैरेवामेध्यैः पादष्ठी निष्ठ्यूतिकाभ्यां च षट्पणः छर्दिमूत्रपुरीषादिभिर्द्वादश-पणः ।३
नाभेरुपरि द्विगुणाः ॥४॥
हीनेष्वर्धं दण्डाः ॥७॥
परस्त्रीषु द्विगुणाः ॥८॥
प्रमाद मद मोहादिभिरर्धदण्डाः ॥९॥ अधि० ३, अध्याय १९

२. द्यूताध्यक्षो द्यूतमेकमुखं कारयेत् ॥१॥
अन्यत्र दीव्यतो द्वादशपणो दण्डो गूढाजीविज्ञापनार्थम् ॥२०
पराजितश्चेद्द्विगुणदण्डं क्रियेत न कश्चन राजानमभिसरिष्यति ॥७॥
प्रायशो हि कितवाः कूटदेविनः ॥८॥ अधि० ३, अ० २०

३ एवं कार्याणि धर्मस्थाः कुर्युरच्छलदर्शिनः । समाः सर्वेषु भावेषु विश्वास्या लोकसंप्रियाः ॥३१॥ अधि० ३, अ०२०

देते हैं और इनको किस-किस अपराध में क्या-क्या दंड देना चाहिये इसका विस्तृत वर्णन कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है।[1]

दैवीय आपत्तियों से प्रजा की रक्षा करना राजा का कार्य है अतः अग्नि, जल, व्याधि, दुर्भिक्ष, चूहे, हिंसक जन्तु, सर्प, राक्षस, इन आठ के द्वारा दैवीय आपत्ति आती हैं।[2] इन आपत्तियों से रक्षा करने के भिन्न भिन्न उपाय कौटिल्य ने बतलाये हैं। इसी प्रकार छिपे हुये पीड़कों का भी वर्णन किया गया है।

आशुमृतक (कतल)—जिसकी हत्या हुई है उसे तेल में डालकर उसकी परीक्षा की जाय। जिसका मल मूत्र निकल जाय, शरीर में वायु भर कर हाथ पैर फूल जायें, आँखें फटी हों, गले में रस्सी के चिन्ह हों तो ऐसे को गला घोट कर मारा गया है, ऐसा समझना चाहिये।[3]

यदि बाहु और जाघें सुकड़ी हों तो फांसी द्वारा मरा समझना चाहिये। हाथ पैर सूजे हों, आँखें गड़ गई हों, नाभि निकल आई हो, सूजी से, गुदा और आंख सुकड़ गई हों, जीभ दांतों में दबी हो तो जल में डूबा समझना चाहिये। शरीर फटा हो तो गिर कर मरा, हाथ, पैर, दांत, नख काले, मांस रोम और चर्म ढीला, मुँह झाग से भरा हो तो विष से मरा, यदि ऐसे पुरुष का किसी स्थान से रक्त निकल रहा हो तो सर्प आदि के काटने से मरा, समझा जावे। यदि वस्त्र और शरीर बिखरे हों, दस्त वमन हो तो धतूरे से मरा समझा जावे। कभी-कभी ऐसा करने वाला दण्ड के भय से स्वयं आत्मघात कर लेता है।[4] इन बातों की छान बीन करके अपराधी को दंड दिया जाय।

---

१. प्रदेष्टारस्त्रयस्त्रयोऽमात्याः कण्टकशोधनं कुर्युः ॥१॥
एवचोरान चोराख्यान्वणिक्कारुकुशीलवान्।
भिक्षुकान्कुहकांश्चान्यान्वारयेद्देशपीडनात् ॥८२॥ अधि० ४, अ० १

२. दैवान्यष्टौ महाभयानि ॥१॥
अग्निरुदक व्याधि दुर्भिक्ष मूषिका व्याला सर्परक्षांसीति ॥२॥
तेभ्योजनपद रक्षेत् ॥३॥ अधि० ४, अ० ३

३. तैलाभ्यक्त माशुमृतक परीक्षेत ॥१॥
निष्कीर्ण मूत्रपुरीषवातपूर्णकोष्ठत्वक्क शूनपादपाणिमुन्मीलिताक्षं सव्यं
सञ्जन कण्ठंपीडननिरुद्धोच्छ्वास हतंविद्यात् ॥२॥ २ अधि० ४, अ० ७

४. तमेव कुञ्चितबाहुसक्थिमुद्बन्धहत विद्यात् ॥३॥
शूनपाणिपादोदरमपगताक्षमुद्वृत्तनाभिमवरोपित विद्यात् ॥४॥

वाक्य कर्म (जिरह)—अभियोगी के सामने साक्षियों से अपराधी के देश, जाति, नाम, कर्म, सम्पत्ति, निवास के विषय में पूछा जाय। फिर उसको देकर साक्षी से अपराधी के विषय में पूछी हुई बातों को पूछा जाय, फिर समस्त वृत्तान्त अभियोग सम्बन्धी ज्ञात किये जायें। यदि उसकी निर्दोषिता का प्रमाण मिले तो उसे छोड़ दिया जाय अन्यथा अपराधी मान कर अपराधानुसार दंड दिया जाय।[1]

थोड़ा अपराध करने वाले, बालक, रोगी, वृद्ध, अज्ञान, उन्मत्त, भूखे, प्यासे, थके, अधिक पेट भरे, तथा दुर्बल अपराधी से कारागार में काम न लिया जाय। अपराध करने वालों के सगी, दूत, वेश्या, कत्थक, रसोइया आदि से अपराधियों का पता लगाया जाय, चोरी आदि की खोज ध्यान पूर्वक की जाय। अपराधी प्रमाणित होने पर दण्ड दिया जाय। एक महीने से कम की प्रसूतिका और गर्भिणी को कारागार में न डाला जाय। भिन्न-भिन्न अपराधों में आये पर भिन्न-भिन्न दाग़ देना, शरीरोच्छेदन, तथा मृत्यु दण्ड की व्यवस्था है।[2]

दण्ड देने वाला पुरुष अपराधी के अपराध के अनुसार उसका कारण, अपराध का गुरुत्व अथवा लाघवा, देश काल आदि को देखता हुआ राजा और प्रजा

निस्तब्ध गुदाक्षं सदष्टजिह्वमाध्मातोदर मुदकहतं विद्यात् ॥५॥

शोणितानुसिक्तं भग्नभिन्नगात्रं काष्ठै रश्मिभिर्वाहतं विद्यात् ॥६॥

संभग्न स्फुटित गात्रमवक्षिप्त विद्यात्॥७॥

श्यावपाणिपाद दन्तनख शिथिलमास रोम चर्माणं फेनोपदिग्धमुखं विषहत विद्यात् ॥८॥

तमेव सशोणितदशं सर्प कीटहत विद्यात् ॥९॥

विक्षिप्त वस्त्र गात्रमतिवान्त विरक्तं मदनयोगहतं विद्यात्।

अतोऽन्यतमेन कारणेन हत हत्वा वा दण्ड भयादुद् बन्धनिकृत्तकण्ठं विद्यात् ॥११॥ अधि० ४, अ० ७

1. मुषित सन्निधौ बाह्यानामभ्यन्तराणां च साक्षिणामभिशस्तस्य देशजाति गोत्र नाम कर्मसारसहायनिवासाननुयुञ्जीत ॥१॥

सारचापदेशै प्रतिसमानयेत् ॥२॥

ततःपूर्व स्याह्न प्रचारं रात्रै निवासं चाग्रहणादित्यनुयुञ्जीत ॥३॥

तस्यापसार प्रतिसंधाने शुद्ध स्यात् ॥४॥

अन्यथाकर्मप्राप्त ॥५॥

त्रिरात्रा दूर्ध्वमग्रह्य- शङ्कितक पृच्छाभावादन्यत्रोपकरण दर्शनात् ॥६॥

के मध्य में स्थिर होकर उत्तम, मध्यम अथवा प्रथम साहस दंड दे।[1] भिन्न-भिन्न शरीर के अंगों को कटवा देना दण्ड की व्यवस्था बनाई गई है परन्तु जो अनुचित पाप कर्म हैं उनमें शुद्ध वध ही धर्म माना गया है।

सेना—कौटिल्य ने पैदल, घोड़े, हाथी, रथ और नौ सेना का वर्णन किया है। अश्वाध्यक्ष, का वर्णन किया जा चुका है उसी प्रकार रथाध्यक्ष का भी कार्य समझना चाहिये। रथाध्यक्ष को अस्त्र शस्त्रों का प्रयोग जानना आवश्यक है। उसे शिल्पियों के भत्ते वेतन, ठेके पर काम कराने आदि का भी ज्ञान होना चाहिये। पत्यध्यक्ष का भी यही कार्य है। उसे मूल सेना, भृतसेना, वेतन भोगी सेना, भिन्न-भिन्न स्थानों पर नियत सेना, मित्र सेना, शत्रु सेना, सेना की सार और असारता का ज्ञान होना चाहिये। उसे दिन रात राज्य की भौगोलिक अवस्था का ज्ञान होना चाहिये। पत्यध्यक्ष (सेनापति) को युद्ध विद्या का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। समस्त अस्त्र-शस्त्र, अश्व, हाथी, रथ आदि के प्रयोग का ज्ञान होना चाहिये। सेनापति सदा सेना की शिक्षा में तत्पर रहे, बाजे, ध्वजा, पताका आदि से सेना के संकेत नियत करके इन्हीं संकेतों से युद्ध में ठहरने, चढ़ाई करने तथा शस्त्र चलाने के कार्य में लगा रहे।[2]

---

१. पुरुषं चापराधं च कारणं गुरुलाघवम्।
अनुबन्धं तदात्वं च देशकालौ समीक्ष्य च ॥२५
उत्तमावरमध्यत्वं प्रदेष्टा दण्ड कर्मणि।
राज्ञश्च प्रकृतीनां च कल्पयेदन्तरास्थितः ॥२६ अधि० ४, अ० १०

२. अश्वध्यक्षेण रथाध्यक्षो व्याख्यातः ॥१
स रथकर्मान्तान्कारयेत् ॥२
दशपुरुषो द्वादशान्तरो रथः ॥३
तस्मादेकान्तरावरा आषडन्तरादिति सप्तरथाः ॥४
देवरथ पुष्यरथ सांग्रामिकपारियाणिकपरपुराभियानिकवैनयिकांश्च रथान्कारयेत् ॥५
इष्वस्त्रप्रहरणावरणोपकरण कल्पनाः सारथिरथिकरथ्यानां च कर्म स्वायोगं विद्यात् ॥६
आकर्मभ्यश्च भक्तवेतनंभृतानांभृतानां च योग्यारक्षानुष्ठानमर्थमानकर्म च ॥७
एतेनपत्यध्यक्षोव्याख्यातः ॥८
समौलभृतश्रेणिमित्रामित्राटवी बलानां सारफल्गुतां विद्यात् ॥९
निम्नस्थल प्रकाशकूटखनकाकाशदिवरात्रि युद्धव्यायामं च विद्यात् ॥१०
आयोगमयोगं च कर्मसु ॥११

गृह निर्माण में कुशल पुरुषों द्वारा, कारीगर और ज्योतिषियों के परामर्श से सेनापति उचित स्थान में छावनी (स्कन्धावार) बनवाये।[1] चार द्वार, छः मार्ग, खाई, परकोटा आदि की ठीक ठीक व्यवस्था करे। शत्रुओं से सुरक्षा का विशेष ध्यान रखा जाय। पैदल, घोड़े रथ और हाथी युद्ध के समय अनुकूल स्थान व पडाव की व्यवस्था करे।

राजदूत—दूत तीन प्रकार के होते हैं—[2]

१. निसृष्टार्थ—अर्थात् वह दूत जिसमें अमात्य के समान गुण हों।

२. परिमितार्थ—अर्थात् वह दूत जो थोड़ा बोलकर कार्य करे।

३. शासनहार—अर्थात् वह दूत जो अमात्य गुणों से युक्त होता है, और संदेश पहुँचा कर पृथक हो और अपनी योग्यतानुसार उत्तर प्रत्युत्तर न करे।

दूत यान, वाहन, नौकर चाकरों के साथ बड़े प्रभाव के साथ विदेशी राज्य में प्रवेश करे। उसे इसका ध्यान रखना चाहिये कि उसे किस प्रकार अपने राजा का संदेश पहुँचाना है। दूत का धर्म राजा की बात को सत्य-सत्य पहुँचाना है। वह जो कुछ कहता है राजा की ओर से कहता है। जब तक राजा विदा न करे दूत वहाँ निवास करे। राजा के मान से घमंड न करे। शत्रु के मध्य पहुँच कर बल का अभिमान न दिखाये और अनिष्ट वाक्य को सहन करे। दूत को पर स्त्री गमन और सुरापान नहीं करना चाहिये। अकेला सोना चाहिये। ऐसा करने से उसके गुप्त भाव प्रकट न होंगे।[3]

तदेवसेनापति सर्वयुद्धप्रहरणविद्याविनीतो हस्त्यश्वरथचर्यासंघुष्टश्चतुरङ्गस्य बलस्यानुष्ठानाधिष्ठानं विद्यात् ॥१२॥
स्वभूमिं युद्धकालं प्रत्यनीकमभिन्नभेदनं भिन्नसन्धानं संहतभेदनं भिन्नवधं दुर्गवधं यात्राकालं च पश्येत् ॥१३॥
तूर्यध्वजपताकाभिर्व्यूहसंज्ञाः प्रकल्पयेत्। स्थाने याने प्रहरणे सैन्यानां विनये रत ॥ अधि० २, अ० ३३

१. वास्तुक प्रशस्ते वास्तुनि नायकवर्धकिमौहूर्तिकाः स्कन्धावारं वृत्तं दीर्घं चतुरश्रं वा भूमिवशेन वा चतुर्द्वारं षट्पथं नवसंस्थानं मापयेयुः ॥१॥
खातवप्रसाल द्वाराट्टालकसम्पन्नं भये स्थाने च ॥२॥ अधि० १०, अ० १

२. स्वभूमिः पत्त्यश्वरथद्विपानामिष्टा युद्धे निवेशे च ॥१॥
हस्त्यश्वयोर्मनुष्याणां च समे विषमे हिता युद्धे निवेशे च ॥४॥
अधि० १०, अ० ४

३. उद्धृत मंत्रोदूत प्रणिधि ॥१॥
अमात्य संपदोपेतो निसृष्टार्थः ॥२॥

शत्रु देश मे अपना सदेश भेजना, पूर्व में की हुई सन्धि के नियमों का पालन करवाना, अपना प्रताप दिखलाना, मित्रों को एकत्र किये रहना, तोडने फोडने योग्य लोगो में तोड फोड करके उनम विग्रह उत्पन्न करना और अपनी ओर कर लेना, दण्ड देने की गुप्त रूप से व्यवस्था करना, शत्रु के बन्धु बान्धवो का सग्रह करना, गुप्तचरो का ज्ञान प्राप्त करना, पराक्रम का प्रयोग करना, सधि के रूप म छोड हुए राजकुमार आदि का छुडवाना और अपने कार्य की सिद्धि के लिये सब प्रकार का प्रयत्न करना, ये कर्म दूतो के माने गये है।[१]

गुप्तचर विभाग--अमात्यो की भली प्रकार परीक्षा करके गुप्तचरो की स्थापना की जाय। गुप्तचरो के अनेक भेद हैं। इनम य विशेष हैं—कापटिक, उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहिक, तापस, सत्री तीक्ष्ण, रसद और भिक्षुकी। अन्य व्यक्तियो का पता लगाने वाला, वातून, कपट वेषधारी छात्र, कापटिक गुप्तचर कहलाता है। बुद्धिमान श्रेष्ठ, सन्यासी वेषधारी उदास्थित गुप्तचर है। बुद्धिमान वृत्ति से हीन, शुद्ध कृषक गृहपतिक गुप्तचर होता है। वृत्ति-

पादगुणहीन परिमितार्थ ॥३॥
अर्धगुणहीन शासनहर ॥४॥
सुप्रतिविहितयान वाहन पुरुषपरिवाप प्रतिष्ठेत ॥५॥
शासनमेव वाच्य पर, स वक्ष्यत्येव, तस्येद प्रतिवाक्यमेवमतिसधातव्य मित्यधीयानो गच्छेत् ॥६॥
पराधिष्ठानमनुज्ञात प्रविशेत् ॥१०॥
शासन च यथोक्त ब्रूयात् ॥११॥
परस्यैतद्वाक्यमेष दूत धर्म इति ॥१६॥
वसेद विसृष्ट अपूजया नोत्सिक्त ॥२०॥
परेषु बलित्व न मन्येत ॥२१॥
वाक्यमनिष्ट सहेत ॥२२॥
स्त्रिय पान च वर्जयेत् ॥२३॥
एक शयीत ॥२४॥
सुप्त मत्तयोहि भावज्ञान दृष्टम् ॥२५ अधि० १, अ० १६

१ प्रेषण सधिपालत्व प्रतापो मित्र सग्रह ।
उपजाप सुहृदभेदो गूढदण्डातिसारणम् ॥४६
बन्धुरत्नापहरण चारज्ञान पराक्रम ।
समाधिमोक्षो दूतस्य कर्म योगस्य चाश्रय ॥५० अधि० १, अ० १६

हीन, व्यापार करने वाला, पवित्र आचरण वाला पुरुष वैदेहिक गुप्तचर कहलाता है। सिर मुड़ाये, जटाधारी वेष में रहने वाला राजवृत्ति का इच्छुक पुरुष तापस गुप्तचर कहाता है। जो हानि, लाभ आदि ज्योतिष संबंधी बातें बतावे उसे सत्री गुप्तचर कहते हैं। जो छत्र, पंखा, पादुका, आसन, सवारी आदि का कार्य करते हैं, वे तीक्ष्ण गुप्तचर कहाते हैं। जो रसद आदि के लाने ले जाने का कार्य करते हैं वे रसद और जो साधुओं के वेष में रहते हैं वे भिक्षुक गुप्तचर कहाते हैं। ये सब अपने अपने कार्य करते हुए राज्य की सेवा करते रहें और पता चलाते रहें।[1]

विशेष अध्ययन के लिये देखिये—

ऋग्वेद
अथर्ववेद
मनुस्मृति
शुक्रनीति
विदुर प्रजागर (महाभारत)
शान्तिपर्व (महाभारत)
अर्थशास्त्र (कौटिल्य का)

---

१ उपधाभि: शुद्धामात्यवर्गो गूढपुरुषानुत्पादयेत् ॥१॥
कापटिकोदास्थितगृहपतिवैदेहकतापसव्यञ्जनान्सत्रितीक्ष्णरसदभिक्षुकीश्च ॥२॥
परमर्मज्ञ प्रगल्भ छात्र कापटिक ॥३॥
प्रव्रज्याप्रत्यवसित प्रज्ञा शौचयुक्त उदास्थित ॥६॥
कर्षको वृत्तिक्षीण: प्रज्ञाशौचयुक्तो गृहपतिकव्यञ्जन: ॥१२॥
वाणिजको वृत्तिक्षीण: प्रज्ञाशौचयुक्तो वैदेहकव्यञ्जन: ॥१४॥
मुण्डो जटिलो वा वृत्तिकामस्तापसव्यञ्जन: ॥१६॥ अधि० १, अ० ११
येचाप्यसम्बन्धिनोऽवश्यभर्तव्यास्ते लक्षणमङ्गविद्यां जम्भकविद्यां मायागत
माश्रमधर्मं निमित्तमन्तरचक्रमित्यधीयाना सत्रिण: ॥
संसर्गविद्यां वा ॥२॥ अधि० १, अ० १२
ये बन्धुषु नि:स्नेहा: क्रूराश्चालसाश्च ते रसदा: ॥४॥ अधि० १, अ०१२

अध्याय ४

यूनानी राजदर्शन

यूनानी राजदर्शन का विकास यूनान की राजनैतिक सस्थाग्रो से हुआ है। ईसा से लगभग ७०० वर्ष पूर्व यूनान अनेक स्वतन्त्र नगर राज्यो मे विभाजित था। यूनान की तत्कालीन शासन पद्धति के आधार पर ही यूनानी राजदर्शन की स्थापना हुई और ज्यो ज्यो वहा की शासन पद्धति में परिवर्तन तथा उन्नति होती गई त्यो त्यो यूनानी राजदर्शन की भी प्रगती होती गई। ईसा से लगभग ७०० वर्ष पूर्व से ५०० वर्ष पूर्व तक यूनान मे भाति-भाति की शासन पद्धतियो की स्थापना हुई। इस बीच मे वहा राजतत्र, कुलीन तत्र, जनतत्र आदि राज्यो की स्थापना हुई। यूनान मे भिन्न भिन्न नगर राज्य पूर्णरूप से स्वतन्त्र थे और इन स्वतन्त्र नगर राज्यों में सुविधानुसार भाति भाति प्रकार की शासन पद्धतियो की स्थापना हुई। इन नगर राज्यो मे स्पार्टा और ऐथिन्स अधिक प्रसिद्ध है। आधुनिक काल में जो ज्ञान हमको यूनानी राज-शास्त्र का प्राप्त है वह सब स्पार्टा और ऐथिन्स के इतिहासो से ही हमको मिला है। इन्ही नगरो मे प्राचीन काल में कुछ ऐसे राजशास्त्रवेत्ता तथा राजनैतिक दार्शनिक हुए हैं जिन्होने अपने विचारो को लेख बद्ध किया है और अपने समय की राजनैतिक सस्थाग्रो की खोज और छानबीन करके तत्कालीन राजनैतिक विचारो को सगठित रूप में हमारे सन्मुख उपस्थित किया है।

यूनान की राजनैतिक दशा पर वहा की भौगोलिक अवस्था का बडा प्रभाव पडा। यूनान तीन ओर से समुद्र से घिरा हुआ पर्वतीय देश है। वहा की जलवायु ठडी है। ऊँचे पहाड और नीची घाटियो से विभाजित होने के कारण वहा के नगर निवासियो का पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ट न हो सका। वे एक दूसरे से पृथक रहे और उनके रीति रिवाज, भाषा और सस्कृति में भी विभिन्नता रही। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत काल तक यूनान में अन्य देशो के लोग न पहुच सके और वहा के नगर निवासी एकान्तमय जीवन व्यतीत करते हुए अपनी अपनी धार्मिक तथा सास्कृतिक उन्नति करते रहे। स्पार्टा के लोगो का जीवन ऐथिन्स के निवासियो से भिन्न था। स्पार्टा वालो की दिनचर्य्या ऐथिन्स वालो से भिन्न थी। स्पार्टा और ऐथिन्स में बहुधा पारस्परिक युद्ध हुआ करते थे। कारण यह था कि स्पार्टा और ऐथिन्स दोनो नगर यूनान का नेतृत्व करना चाहते थे। यूनान के नेतृत्व के लिये ही दोनों

नगरों में कई सौ वर्ष तक युद्ध होता रहा और इस युद्ध का परिणाम यह हुआ कि यूनान में कभी ऐक्य स्थापित न हुआ और पारस्परिक फूट के कारण वे विदेशियों के आक्रमणों का सगठित होकर सामना न कर सके और अन्त में यूनान रोमन साम्राज्य का एक प्रधीन प्रान्त बन गया।

स्पार्टा निवासियों का जीवन कठोर था। उनका समाज तीन भागों में विभाजित था। एक विशुद्ध स्पार्टन थे जिनको नागरिकता के और राजनैतिक समस्त अधिकार प्राप्त थे। ये भूमि के स्वामी थे, नगर के शासकों को चुनते थे और स्वयं राजनैतिक पदों पर चुने जाते थे। ये लोग कोई उद्यम व्यवसाय नहीं कर सकते थे। सात वर्ष की आयु में ये लोग गृहस्थ से अलग कर दिये जाते थे। इनको बारकों (Barracks) में रक्खा जाता था वहाँ उनको सैनिक शिक्षा दी जाती थी और कुछ पढने लिखने का भी अभ्यास कराया जाता था। वहीं उनको भोजन करना पडता था। युवा होने पर ये सैनिक का कार्य करते थे और अधिक आयु होने पर राजनैतिक पदों पर कार्य करते थे और ये ही लोग वास्तविक शासक थे। शारीरिक व्यायाम पर स्पार्टा में अधिक ध्यान दिया जाता था इसलिये ये लोग शारीरिक और सैनिक शक्ति के लिये प्रसिद्ध थे। सब स्पार्टन लोग मिल कर सभा में बैठते और शासन सम्बन्धी विषयों का निर्णय करते थे। ये लोग २८ सदस्यों की एक सभा का निर्वाचन करते थे। ये सदस्य आजन्म इस सभा के सदस्य बने रहते थे। ये लोग दो शासक चुनते थे जो मिलकर शासन करते थे। ये युद्ध के समय सेनापति, धार्मिक त्यौहारों तथा उत्सवों पर पुरोहित और न्याय सम्बन्धी कार्यों में न्यायाधीशों का कार्य करते थे। इनके कार्यों तथा असीम अधिकारों पर नियन्त्रण रखने के लिये पाच सदस्यों की एक उपसमिति निर्वाचित की जाती थी। ये पाच सदस्य शासकों की शक्ति पर नियन्त्रण रखते थे। इनके अधिकार कालान्तर में इतने विस्तृत हो गये कि राज्य के वास्तविक शासक ये ही बन बैठे। इस प्रकार वहाँ कुलीन तन्त्र की स्थापना हुई। इस प्रकार के शासक वर्गीय स्पार्टन लोगों की सख्या समस्त जन सख्या की लगभग एक चौथाई थी।

स्पार्टा के लगभग तीन चौथाई लोगों को राजनैतिक अधिकार प्राप्त न थे। इनमें दूसरी और तीसरी श्रेणी के लोग सम्मिलित थे। दूसरी श्रेणी के लोग मध्य वर्ग के लोग थे। ये लोग उद्योग धधों में लगे रहते थे और व्यापार करते थे। इनको नागरिकता सम्बन्धी अधिकार प्राप्त थे। अन्य लोगों के समान इन्हें भूमि प्राप्त करने, न्याय कराने, शिक्षा ग्रहण करने के समस्त अधिकार प्राप्त थे। इनको राजनैतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। न तो ये शासकों को चुन सकते थे, न स्वयं शासकों के पदों पर चुने जा सकते थे।

तीसरी श्रेणी के लोग दास कहलाते थे। ये खेतो पर श्रमिको का कार्य करते थे। भूमि पर ये ही लोग कार्य करते थे और इन्ही के श्रम से खाद्य पदार्थ उत्पन्न होते थे। इनको न तो राजनैतिक अधिकार ही प्राप्त थे और न नागरिकता के। ये चल सम्पत्ति के समान एक दूसरे के हाथ क्रय-विक्रय किये जा सकते थे।

ऐथिन्स निवासियो का जीवन स्पार्टा निवासियो के जीवन से बिल्कुल भिन्न था। समुद्र के निकट स्थित होने के कारण ऐथिन्स समुद्री व्यापार का केन्द्र था। वहा के निवासी समुद्री व्यापार मे बडे प्रवीण थे। ऐथिन्स निवासी अधिक उदार थे। इनका समाज भी तीन श्रेणियो में विभक्त था। प्रथम श्रेणी मे उच्च कुल के लोग थे जिनको नागरिकता तथा राजनैतिक सम्बन्धी समस्त अधिकार प्राप्त थे। दूसरे जन साधारण जो दासो की भाति थे और तीसरे अदेशीय जो दूसरे देशों से आकर व्यापार करने के लिये वहा निवास करते थे। इन अदेशियो को नागरिकता के अधिकार तो प्राप्त थे परन्तु इनको राजनैतिक अधिकार प्राप्त न थे। उच्च कुल के लोग ही वास्तव मे शासक थे परन्तु शनै शनै जन साधारण ने आन्दोलन करके राजनैतिक अधिकार प्राप्त कर लिये थे, और ईसा से लगभग ४०० पूर्व तक ऐथिन्स में पूर्णरूप से जनतत्र राज्य की स्थापना हो गई थी। तबसे ऐथिन्स जनतत्र शासन पद्धति का आदर्श माना जाने लगा।

जनतन्त्रीय शासन पद्धति में शासन की बागडोर एक समिति(Senate) के ५०० सदस्यों के हाथ में थी। इन ५०० सदस्यो का निर्वाचन "पर्ची डालकर"(By Lot) जनता द्वारा किया जाता था और इस समिति के सदस्य बारी बारी से वैकल्पिक रीति से शासन करते थे। शासन व्यवस्था १० भागों में विभाजित थी, इन १० विभागो के अध्यक्ष जनता द्वारा चुने जाते थे। न्याय-सम्बन्धी कार्य न्यायसभ्या द्वारा किया जाता था। ये भी पर्ची डालकर चुने जाते थे। थोडे से दास तथा अदेशियो को छोडकर नगर के समस्त लोग शासन मे भाग लेते थे और देश की नीति निर्धारित करते थे। ऐथिन्स की जन-तन्त्रीय शासन प्रणाली यूनान के प्राचीन काल के इतिहास में बडी प्रसिद्ध है।

यूनानियों का दृष्टि कोण—यूनानियो का दृष्टि कोण आलोचनात्मक था। ये प्रत्येक वस्तु को इसी भाव से देखते थे। यूनानियो की राजनैतिक धारणा पर उनके इस स्वभाव का बडा महत्वपूर्ण प्रभाव पडा है। यूनानियो की राजनैतिक धारणा का उनके सामाजिक तथा धार्मिक जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है। अत उनके राजनैतिक विचारो को भली प्रकार ज्ञात करने के

लिये उनकी सामाजिक और धार्मिक दशा पर दृष्टि पात करना अत्यन्त आवश्यक है।

धर्म—यूनानी लोग प्राकृतिक शक्तियों के उपासक थे। मानव रूप में यूनानी देवी-देवता प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक थे। इन देवी-देवताओं के अतिरिक्त उनके भाग्य के भी देवता थे। अन्य प्राचीन काल के लोगों की भांति वे अपने देवी-देवताओं से भय नहीं मानते थे। वे उनका बड़ी श्रद्धा-भक्ति और प्रेम से पूजन करते थे। ये देवी-देवता मानव समाज के हितू तथा सहायक समझे जाते थे और प्रत्येक शुभ कार्य के करने से पूर्व उनका आह्वाहन करके उनकी सम्मति ली जाती थी। यूनानी लोग सृष्टि को सृजनात्मक प्रेरणा का फलस्वरूप समझते थे। धर्म व्यक्तिगत बात थी। इसीलिये वे अन्य लोगों के धार्मिक जीवन, पूजा-पाठ और रीति-रिवाजों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करते थे। धार्मिक सहिष्णुता यूनानियों का विशेष लक्षण था। इसीलिये यूनान के इतिहास में हमको यह कहीं नहीं दिखाई देता कि धर्म के आधार पर वहां अत्याचार किये गये हों। इस धार्मिक सहिष्णुता का उनके राजनैतिक जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उनका विचार था कि मनुष्य की सब प्रकार की उन्नति समाज में रहकर ही हो सकती है, इसलिये राजनैतिक समाज मनुष्यों के लिये अत्यन्त आवश्यक है। यूनीनियों की शिक्षा का उद्देश्य केवल इसी अभिप्राय की पूर्ति करना था।

शिक्षा—यूनानी लोगो का विचार था कि मनुष्यों को आडम्बर रहित सरल जीवन व्यतीत करना चाहिए। आत्मिक और आध्यात्मिक उन्नति करते हुए शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाना चाहिये। कठिनाइयों को सहन करने का अभ्यास करना चाहिये। सहयोग पूर्ण जीवन व्यतीत करने का अभ्यास करना चाहिए। मनुष्य को ऐसी शिक्षा देनी चाहिये कि वह सच्चरित्र, कार्यशील, कर्तव्य परायण, मन, वचन और कर्म से शुद्ध, सच्चा, सम्मानित तथा सम्मान करने वाला, स्वस्थ्य, सहन शील, सामाजिक और देश भक्त बने। इन्ही समस्त गुणों को सामने रखते हुए यूनानी बालकों को शिक्षा दी जाती थी। धार्मिक सहिष्णुता के साथ साथ उनमे श्रेष्ठ नागरिक के सब गुणों का सचार किया जाता था। परिणाम यह होता था कि उस समय में यूनानी लोग अपने चरित्र के लिये ससार म प्रसिद्ध थे।

नगर-राज्य—यूनानियों के मतानुसार मनुष्यों के सामाजिक और राज-नैतिक जीवन में कोई भेद न था। उनका विचार था कि मनुष्य समाज में रह कर ही उन्नति कर सकता है। आदर्श मनुष्य-समाज राजनैतिक सवास है। राजनैतिक सवास (Association) मे रहकर ही मनुष्य आदर्श

बन सकता है। यूनानी योग राजनैतिक सवास से पृथक् मानव जीवन की कल्पना नही कर सकते थे। मनुष्य राजनैतिक सवास का एक आवश्यक और अनिवार्य अ ग था। राजनैतिक सवास मे रहकर ही मनुष्य की धार्मिक सामाजिक, सास्कृतिक, आत्मिक और अध्यात्मिक सब प्रकार की उन्नति सभव थी। अत मनुष्य के व्यक्तिगत चरित्र पर राज्य ध्यान देता था और राज्य के समस्त विधि-विधान इसी उद्देश्य को ध्यान म रखकर बनाये जाते थे। यूनानी लोगो के लिय राज्य ही एक ऐसी सस्था थी जिसके द्वारा मनुष्य सब प्रकार की उन्नति कर सकता था।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि यूनान भौगोलिक दशा का वहाँ की राजनीति पर बडा प्रभाव पडा, पहाडी और घाटियों से युक्त ऊबड-खाबड भूमि होने के कारण वहाँपर यूनानियो का एक राष्ट्र के रूप मे सगठन न हो सका। स्थान-स्थान पर छोटे-छोटे नगर-राज्यो की स्थापना हुई। साधारणतया इन नगर-राज्यो के शासन की बागडोर जन साधारण के हाथ में थी। नगर के समस्त नागरिक एकत्र होकर राजनैतिक समस्याओ को हल करते और शासको को चुनते थे। वहाँ पर बहुधा जनतन राज्य थे। कारण यह था कि यूनाल म किसी भी नगर राज्य की जन-सख्या साधारण तया ४०००० से अधिक न थी। केवल ऐथिन्स की जन-सख्या (एक समय में जब कि वह बहुत उन्नत दशा म था) इस से कही अधिक हो गई थी। इतनी जन-सख्या में जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है सब लोगो को नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे। दास, उद्यम व्यवसायी, व्यापारी और अदेशियो को राजनैतिक अधिकार प्राप्त न थे। इसलिये नगर के समस्त नागरिक एक स्थान पर एकत्र होकर नगर-राज्य के भाग्य का निर्णय किया करते थ। नगर राज्य का शासक युद्ध के समय में सेनापति और शान्ति के समय म न्यायधीश और पुरोहित होता था। राजकीय कर्मचारियो के शासन सम्बन्धी कार्य कोई विशेषता नही रखते थे। एक विभाग का अध्यक्ष दूसरे विभाग का अध्यक्ष बना दिया जाता था। एक विभाग का कर्मचारी दूसरे विभाग को स्थाना तर कर दिया जाता था। व्यक्तिगत जीवन की अपेक्षा राज्य के सामूहिक जीवन को अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता था। राज्य के लिये व्यक्तिगत हितो का विचार नही करना पडता था।

नागरिकता—यूनान म नागर निवासी तीन श्रेणिया में विभक्त थे। एक तो वे जो उच्चकुल के लोग थ और भूमि के स्वामी थे। वे स्वय भूमि जोतने, बोने का कार्य नही करते थे। बोने, जोतने तथा खाद्यपदार्थ उत्पन्न करने का कार्य दास समूह द्वारा किया जाता था। वे अनाज उत्पन्न करके

अपना और अपने भूमिपतियों का पेट भरते थे। इस प्रकार यूनान में भूमिपति और दास दो प्रकार के लोग तो थे ही। इनके अतिरिक्त मध्य श्रेणी के लोग थे जो उद्योग व्यवसाय, व्यापार और हाथ का कार्य अर्थात् लोहार बढ़ई, सुनार आदि का कार्य करते थे। इनमें केवल जीविकोपार्जन न करने वाले भूमिपतियों को ही नागरिकता के अधिकार प्राप्त थे। अन्य किसी श्रेणी के लोगों को नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे। ये भूमिपति उच्च शिक्षा प्राप्त करने के अधिकारी थे। व्यायाम, कवायद और सैनिक शिक्षा प्राप्त करते थे। और यौवनावस्था के समाप्त होने पर यही लोग शासन करते थे। यौवनावस्था में ये सैनिक का कार्य करते थे। इस प्रकार यूनान में एक तिहाई अथवा एक चौथाई जन-सख्या को नागरिकता के अधिकार प्राप्त थे। इनके अतिरिक्त कुछ नगर राज्यों में व्यापार करने के लिये दूसरे देशों के लोग आकर रहते थे। इन प्रदेशियों को भी नागरिकता के समस्त अधिकार प्राप्त न थे। ये राजनैतिक बातों में भाग नहीं ले सकते थे। इनको राजनैतिक अधिकार प्राप्त न थे। अभिप्राय यह है कि यूनान में राजनैतिक अधिकार केवल उन्हीं लोगों को प्राप्त थे जो सिवाय राजनैतिक कार्यों के अन्य कार्य न कर सकें। जो लोग अपना पूर्ण समय राजनैतिक कार्यों में व्यतीत कर सकें वे ही राजनैतिक कार्यों में भाग ले सकते थे और शासन कार्य करते थे। ये नागरिक आदर्श समझे जाते थे और इनका कार्य केवल राज्य की भलाई करना अर्थात् लोकहित था। प्रत्येक नगर निवासी का कर्तव्य था कि वह राज्य के विधि विधानों का पालन करे। इन विधि-विधानों की अवहेलना करना बड़ा भारी पाप समझा जाता था और इनके उल्लंघन करने पर कठोर दण्ड दिया जाता था। राज्य के नियमों का उल्लंघन करने वाले को निर्वासन अथवा मृत्यु दण्ड दिया जाता था। राज्य के नियमों का पालन करना ही नगरनिवासी का मुख्य उद्देश्य था और यही स्वतन्त्रता का प्रतीक था अर्थात् पूर्ण स्वतन्त्र वही था जो राज्य के नियमों का पालन करता था। यूनानी लोग नियमों का पालन करना अपना कर्तव्य इसलिये समझते थे कि उनके मतानुसार नियमों का निर्माण दैवीय शक्ति द्वारा हुआ है। वह इन नियमों को मनुष्य-कृत नहीं समझते थे। इसीलिए वे इन नियमों को बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे और इनके उल्लंघन करने वाले को समाज से बहिष्कृत कर देते थे।

न्याय—यूनानियों के न्याय सम्बन्धी विचार बड़े विलक्षण थे। उनके मतानुसार सद्गुणों अथवा सच्चरित्रता को कार्य रूप में परिणत करना ही न्याय था। राज्य के नियमों का अक्षरशः पालन करना और सत्कर्म करना

ही न्याय था। अपने अपने अधिकारो और कर्तव्यो का पालन करना भी न्याय समझा जाता था। अफलातून (Plato) के मतानुसार सत्य बोलना किसी की वस्तु को लौटा देना, प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे कार्य करने का अवसर देना जिसको वह ठीक-ठीक करने योग्य है, मनुष्यो मे समजस्ययुक्त और सहयोग पूर्ण जीवन निर्वाह करने की भावना उत्पन्न करना वास्तव में न्याय है। वही शासन-पद्धति सर्वश्रेष्ठ समझी जाती थी जो इस प्रकार के न्याय सम्बन्धी उद्देश्यो की पूर्ण रूप से पूर्ति करा सके।

सोफिस्ट्स (Sophists)—यूनान मे लगभग ५०० वर्ष ईसा से पूर्व से लगभग ३७१ वर्ष ईसा से पूर्व तक अर्थात् यूनान में फारस के आक्रमण के समय से पैलीपोनीशियन युद्ध के समय तक आन्तरिक शान्ति न थी। यूनानी और फारस के राजनैतिक विचारो का पारस्परिक सम्पर्क होने के कारण वहाँ के दार्शनिको तथा राजनीतिज्ञो ने दोनो देशो की शासन प्रणाली पर विचार किया और यूनान की आन्तरिक दुर्बलता का कारण समझने का प्रयत्न करने लगे। स्पार्टा और ऐथिन्स के युद्धो ने इन विद्वानो को और अधिक विचार मग्न किया, परिणाम यह हुआ कि एक नवीन पथ का आरभ यूनान म हुआ। इसे सोफिज्म अथवा सूफी मत (Sophism) कहते हैं।

यूनान का सबसे प्रथम सोफिस्ट प्रोटेगोरस (Protagoras) था। इसका जन्म थ्रेस (Thrace) मे लगभग ४८० वर्ष ईसा से पूर्व हुआ था। यह ७० वर्ष की आयु तक जीवित रहा। सबसे प्रथम इसने अपने को सोफिस्ट वा सूफी कहा। प्रोटेगोरस एक विद्वान दार्शनिक था और यह रुपये लेकर विद्यार्थियो को पढाया करता था। कहते है कि यह इतना अच्छा शिक्षक था कि एक विद्यार्थी इसको १००मुद्रायें दिया करता था। सर्व प्रथम इसी ने रुपये लेकर पढाने की प्रथा चलाई। इसका तत्कालीन देवताओं मे विश्वास न था। वह कहा करता था कि 'मुझे देवताओं के अस्तित्व मे शका है।' इस कारण इसको देश निकाले का दण्ड दिया गया और इस विषय पर लिखी हुई उसकी पुस्तक को जला दिया गया। लगभग इसी समय में गौगिय (Gorgias) नाम का सोफिस्ट हुआ। यह प्रोटेगोरस का समकालीन था। इसका जन्म सिसली (Sicily) में लियोंतिनी (Leontini) नामक नगर मे हुआ था। यह ऐथिन्स में सिसली राजदूत भी रहा था। इसके विचार भी प्रोटेगोरस के से थे। इन सोफिस्टो के पश्चात् पैलोनीशियन युद्ध काल में प्रोडीकस (Prodicus) नाम का सोफिस्ट हुआ। ये तीन सोफिस्ट्स ऐसे थे जिनके विचारो का प्रभाव उस समय के नव युवको पर पडा। ये लोग अपने राजनैतिक विचारो का प्रचार किया करते थे।

सोफिस्ट् सिद्धांत—ये लोग बड़े विद्वान और राजनैतिक दार्शनिक थे। यूनान की तत्कालीन आर्थिक तथा राजनैतिक दशा का उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा और वहां की गिरती हुई दशा को सुधारने का इन्होंने प्रयत्न किया। उनका मत है कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी प्रेक्षा शक्ति का प्रयोग करना चाहिये। रूढ़िवादी नहीं होना चाहिये। परम्परागत चले आने वाले रीति रिवाजों का आंख बन्द कर अनुकरण नहीं करना चाहिये। अपनी बुद्धि से विचार करके देखना चाहिये कि परम्परागत बातों में कौनसी वास्तव में ठीक है और कौनसी नहीं। जो बातें मनुष्य बुद्धि स्वीकार न करे उन्हें त्याग देना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्रता पूर्वक अपने विवेकानुसार कार्य कर सकता है। उचित अनुचित का विचार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुद्धि के अनुसार करना चाहिये। ससार में स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक विधान कोई वस्तु नहीं है। कोई वस्तु स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक नहीं है। प्रत्येक नियम मनुष्यकृत है। कोई संस्था अथवा समाज (Association) स्वाभाविक और प्राकृतिक नहीं है। मनुष्य सामाजिक प्राणी नहीं है। मनुष्य स्वभाव से ही स्वार्थी है। मनुष्यों में शारीरिक बल समान नहीं होता है। कोई बलवान होता है और कोई निर्बल। राजनैतिक अधिकार का आधार शक्ति है। शक्ति के कारण ही राजनैतिक समाज की स्थापना हुई है। शक्ति सिद्धान्त के अनुसार राज्य की स्थापना हुई। मनुष्य सामाजिक प्राणी नहीं है अत प्रत्येक समाज की स्थापना मनुष्य ही ने की है। राज्य मनुष्यकृत संस्था है जो मनुष्य की व्यक्तिगत् स्वार्थपूर्ति के लिए स्थापित की गई है। सोफिस्ट विद्वानों ने ही सर्व प्रथम व्यक्तिवाद सिद्धांत का प्रचार किया और नैतिकता और विधान का भेद बतलाया। इन्होंने वैधानिक विधान और नैतिक विधानों का भेद बतला कर आधुनिक राजनैतिक विचारों की नींव डाली। सोफिस्ट लोगों का विचार है कि विधान मनुष्यों से ऐसे कार्य करा देता है जो युक्ति-युक्त नहीं होते। राजनैतिक अधिकार विधान द्वारा मनुष्य से अनुचित और विवेक रहित कार्य करा देता है। सोफिस्ट विद्वानों के विचारों ने तत्कालीन यूनानी-शिक्षित समाज में भ्रान्ति उत्पन्न कर दी और सुकरात, प्लैटो (अफलातून) और अरस्तू पर इनके सिद्धान्तों का बड़ा प्रभाव पड़ा।

सुकरात (Socrates ४६६-३६६ ई० पू०)—प्रसिद्ध एथिंस निवासी दार्शनिक सुकरात का जन्म ईसा से ४६६ वर्ष पूर्व ऐथिन्स के पास ऐलोपसी (Alopece) नामक ग्राम में हुआ था। उसका पिता मूर्तिकार (Statuary और माता धात्री (Midwife) थे। युवावस्था में उसने अपना पैत्रिक व्यवसाय किया और उसमें कुशलता प्राप्त की। युवावस्था में सुकरात का स्वा-

स्य बहुत अच्छा था। उसका शरीर सुडौल और गठीला था। वह बड़ा सहनशील था और शीत ग्रीष्म सहन करने की उसमें अद्भुत शक्ति थी। वह सदैव नगे पाव रहता था। जब ऐथिंस की सेना ने पौटीडे (Potidaea) नगर के विद्रोह करने पर उसे घेरा तब यह घेरा दो वर्ष तक जारी रहा था। दो वर्ष पश्चात् इस सेनाने उसे विजय किया था। सुकरात भी, इस सेना में एक सैनिक की भाँति लडा था और वहा के पाला पडने वाली शरद ऋतु, ग्रीष्म ऋतुऐ उसने एक ही प्रकार के वस्त्रो में बिताई। उसकी मुखाकृति अच्छी न थी। उसकी बडी बडी आखें, चपटी नाक और मोटे ओठ देख कर उसके शत्रु मित्र सभी हँसते थे। वह एक साधारण सैनिक की भाति ऐथिन्स की सेना मे पोटीडे, डीलियम और ऐम्फीपोलिस के युद्धो म बडी वीरता से लड़ा था। ईसा मे ४०६ वर्ष पूर्व वह ऐथिन्स की सीनेट (Senate) का सदस्य चुना गया था। उसने यूनानी दर्शन का अध्ययन किया, तत्कालीन यूनानी दर्शन उसे अपूर्ण ज्ञात हुआ और उसने अपने विवेकानुसार दार्शनिक विचारो म परिवर्तन तथा उनको उन्नत करने का प्रयत्न किया। उसने इस सिद्धात का प्रचार किया कि प्रत्येक मनुष्य को प्रत्येक स्थापित सिद्धान्त के अध्ययन तथा मनन करने में अपनी बुद्धि और विवेक का पूर्ण रूप से प्रयोग करना चाहिये। प्रत्येक बात को समझने के लिय उसे 'कार्य कारण' सम्बन्ध को समझना चाहिये। प्रत्येक विषय को समझने के लिये यह आवश्यक है कि उसको क्या? क्यो? और कैसे? की कसौटी पर कसा जाय। प्रत्येक बात का कारण स्थापित करके उसे समझने का प्रयत्न किया जाय। उसका मत है कि ससार में प्रत्यक वस्तु की उत्पत्ति का एक कारण है और वह किसी न किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये उत्पन्न हुई है। ससार में कोई भी वस्तु उद्देश्य से रहित नही है। प्रकृति की प्रत्यक वस्तु की उत्पत्ति किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिय हुई है। जन साधारण इस 'कारण कार्य' भावपूर्ण उद्देश्य को नही समझते हैं। जो इस बात को समझता है वास्तव में वही विद्वान है। सुकरात और भूत पूर्व दार्शनिको के सिद्धान्तो में यही एक विशेष अन्तर है।

उसने अपने जीवन में इस बात का भी अनुभव किया कि उस समय यूनान में यदि कोई व्यक्ति किसी एक कार्य म प्रवीण होता था तो वह अपने को बडा बुद्धिमान और चतुर समझता था। वह समझता था कि "मैं सब कुछ जानता हू"। सुकरात ऐसे मनुष्यो से प्रश्न करता था और अनभिज्ञता का अनुभव करके वह उनसे सीखने का प्रयत्न करता था। परन्तु जब वह प्रश्नोत्तर करता था तो उसको ज्ञात होता था कि वे लोग उसकी बराबर भी नही

जानते हैं। तब सुकरात को यह अनुभव होता था कि वे मूर्ख हैं और कुछ नहीं जानते हैं। उनका अहंकार मिथ्या है। इस प्रकार प्रश्नोत्तर की प्रथा का प्रचार करके उसने तर्क-शास्त्र की उन्नति की।

डेल्फी—यूनान के डेल्फी नामक प्रसिद्ध मंदिर की देवी की 'देव वाणी" (Delphic Oracle) के अनुसार "सुकरात सबसे विद्वान और ज्ञानी" मनुष्य था। देव वाणी की सत्यता की पुष्टि के लिये सुकरात प्रत्येक युवक, वयस्क तथा वृद्ध से बातें करता था और प्रश्न करता था। लोग उसके साधारण प्रश्नों का उत्तर देने में भी असमर्थ होते थे। इस से सुकरात को असन्तोष होता था। सुकरात ने तत्कालीन जनतन्त्रीय शासन के दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया। उस समय वहां भ्रष्टाचार फैला हुआ था। शासक स्वार्थी थे। न्याय पक्षपातपूर्ण होता था। जो शासकों के दोषों के विरुद्ध आवाज उठाता था उसे किसी न किसी बहाने से कारावास में डाल देते थे अथवा उसे मृत्यु दण्ड दे देते थे। सुकरात के साथ भी यही व्यवहार किया गया। सुकरात पर अभियोग चलाया गया। उसपर यह अभियोग लगाया गया कि वह युवकों को भ्रष्ट करता है। उनके चरित्रों को दूषित करता है और राज्य के देवताओं को न मान कर नवीन देवताओं को मानता है और आवागमन में विश्वास रखता है इसलिये यह मृत्युदण्ड का भागी है। इस प्रकार दोषी ठहराकर एक ऐसे महात्मा को ऐथिन्स के जनतन्त्रीय शासन के न्यायाधीशों ने मृत्युदण्ड दिया और हेमलौक (hemlock) विष देकर उसे मार डाला। सुकरात मुस्कराते हुए विष का प्याला पीगया। उसके मित्र क्राइटो ने उससे कहा कि 'तुम निर्दोष हो। द्वेष के कारण तुम्हें व्यर्थ मृत्यु दण्ड दिया गया। चलो मैं तुमको यहां से निकाले लेचलता हूँ। मैंने इसका पूर्ण प्रबन्ध कर लिया है। यहां से भाग चलेंगे और दूसरे राज्य में शान्ति पूर्वक रहेंगे"। इसपर सुकरात ने कैसा महत्वपूर्ण उत्तर दिया था। उसने कहा था कि "देश के विधि विधान कैसे ही क्या न हों प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य है कि उनका पालन करे। अतः मैं भी उनका उल्लंघन नहीं करूँगा"। सुकरात की मृत्यु ईसा से ३९९ वर्ष पूर्व हुई।

सुकरात के विचार—सुकरात का उद्देश्य मनुष्यों के नैतिक स्तर को उच्च बनाना था। उसके मतानुसार ज्ञान ही सद्गुण है। प्रत्येक सद्गुण का आधार ज्ञान है। प्रत्येक ज्ञान दो प्रकार का होता है एक सुनकर प्राप्त किया हुआ और दूसरा अपने विवेकानुसार व्याप्ति मूलक सिद्धान्त द्वारा स्थापित किया हुआ अर्थात् क्या ? क्यों ? और कैसे ? आदि प्रश्नों को कसौटी पर कसा हुआ। केवल यही सच्चा ज्ञान है।

सुकरात ने व्याप्तिमूलक तर्क पद्धति का प्रचार किया और विवेकानुसार विचार करना सिखाया। उसका कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने विवेकानुसार प्रत्येक निर्णय करना चाहिये और यदि यह निर्णय राज्य के विधानो के विरुद्ध हो तो भी उनपर दृढ रहना चाहिये, और यदि ऐसा करने मे राज्य के दण्ड का भागी हो तो उसे सहर्ष दण्ड सहन करना चाहिये। सुकरात ने स्वय मरकर इस बात को सिद्ध कर दिखाया।

उसका मत है कि भिन्न-भिन्न प्रकार के विधान तथा रीति रिवाजो मे साधारण नैतिक नियम दृष्टिगोचर होते है। किसी वस्तु के उचित, अनुचित अथवा सत्य और असत्य का निर्णय मनुष्य को अपनी बुद्धि के अनुसार करना चाहिये।

परम्परागत चले आने वाले रीति रिवाजो तथा विधि विधानो के प्रति उस की बडी श्रद्धा थी, परन्तु वह इनको व्यक्तिगत विवेकानुसार समझने और उनपर आचरण करने का आग्रह करता था। धार्मिक अथवा सामाजिक प्रचलित रीति-रिवाजो की विवेचना प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुद्धि के अनुसार करनी चाहिये और यह समझने का प्रयत्न करना चाहिये कि कौन रीति रिवाज उचित हैं और कौन अनुचित। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य को अपने विवेक पूर्ण तर्क द्वारा उचित अनुचित का निर्णय करके सत्य और न्याय को समझने का प्रयत्न करना चाहिये।

उसका मत है कि मनुष्य स्वभाव से सामाजिक प्राणी है। उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति समाज में रह कर ही हो सकती हैं। इन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये राज्य की आवश्यकता हैं। राज्य के नियमो अथवा विधि-विधानो का निर्माण विवेक के आधार पर होना चाहिये। विवेकानुसार बनाये हुये विधि-विधान ही विश्वव्यापी विधि-विधान कहलाने योग्य हैं। अत उसने तत्कालीन जनतत्र शासन पद्धति की बडी आलोचना की और मानव समानता के प्रचलित आधार तथा पर्ची डालकर (lottery द्वारा) राज्य में पदाधिकारियो के चुनने की प्रथा का विरोध किया। उसने उच्च शिक्षा पर जोर दिया और इस बात का समर्थन किया कि शासन कार्य कुछ थोडे से उच्च शिक्षा-प्राप्त इने गिने व्यक्तियो द्वारा ही किया जाय। उसने राजनीति और आचार-शास्त्र के सिद्धान्तो में घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया। इस बात को सिद्ध करने का उसने प्रयत्न किया कि नैतिक, राजनैतिक न्याय में विभिन्नता हो सकती है अत यदि राजनैतिक सिद्धान्तो में समानता स्थापित की जाय तो दोनो प्रकार के न्यायो में जो अन्तर है वह मिट जायगा। अन्धे होकर परम्परागत रूढियो का अनुकरण कदापि नही करना

चाहिये चाहे ऐसा न करने में प्राणों की बाजी ही क्यों न लगानी पड़े ।

१. सिनिक्स और साइरिनाइक्स (Cynics and Cyrenaics)
सिनिक्स सिद्धान्त का प्रचार सर्व प्रथम एन्टिस्थेनिज (Antisthenes) ने किया था । "एन्टिस्थनिज की माता थ्रेस (Thrace) की निवासी थी । अपनी युवावस्था में एन्टिस्थेनिज ने तानाग्रा (ईसा से ४२६ वर्ष पूर्व) के युद्ध में भाग लिया था । पहिले वह गोर्गियस (Gorgias) का शिष्य था, तत्पश्चात् वह सुकरात का शिष्य बना और फिर उसका साथ कभी न छोड़ा। सुकरात की मृत्यु के समय वह उसके पास उपस्थित था । सत्तर वर्ष की आयु में ऐथिन्स में उसकी मृत्यु हुई । एथिन्स में विदेशी माताओं से उत्पन्न हुए पुत्रों की शिक्षा के लिये साइनोसारगेस (Cynosarges) नाम की व्यायाम शाला में वह शिक्षक का काम करता था । ऐसा प्रतीत होता है कि इसी कारण उसके अनुयायी सिनिक्स कहलाये ।"[1]

सिनिक्स के विचार—सिनिक्स पर सुकरात का बड़ा प्रभाव पड़ा । जिस प्रकार सुकरात नंगे पांव जाकर प्रत्येक प्रकार के (ऊंच-नीच) व्यक्तियों से बात चीत करता था और अपने सिद्धान्तों का प्रचार करता था उसी प्रकार सिनिक्स भी करते थे । सिनिक्स ने सार्वभौम नागरिकता की कल्पना को मानव समाज के सन्मुख रखा । उन्होंने विश्वबान्धवता के विचारों का प्रचार किया । "यदि सुकरात ने यह शिक्षा दी कि मनुष्य को स्वयं को जानना चाहिये और अपने विवेक के अनुसार कार्य करना चाहिये तो सिनिक्स ने उसके सिद्धान्त को और आगे बढ़ाया और बतलाया कि बुद्धिमान मनुष्य वही है जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया है और जो आत्म निर्भर है । सुकरात के जीवन को महत्व देकर वे प्राचीन काल के फ्रान्सिस्कन साधुओं की भांति भिक्षुकों में परिवर्तित हो गये । परन्तु इन दोनों सम्प्रदायों में केवल इतना ही भेद था कि ये लोग (सिनिक्स) स्वर्गीय साम्राज्य के प्रेमी न थे अपितु वे सांसारिक साम्राज्य से घृणा करते थे ।

सिनिक्स ने मानव समानता का प्रचार किया । उन्होंने जाति भेद, देश, भेद, वर्ण भेद, आदि भेद भावनाओं का विरोध किया । उन्होंने सुकरात की भांति सद्गुणों को ही ज्ञान बतलाया और इसको आन्तरिक वस्तु बतलाया । उनका मत है कि बाह्य वस्तुओं का सच्चरित्रता तथा सद्गुणों पर अच्छा

---

१. विलियम स्मिथ—क्लैसीकल डिक्शनरी आफ बायोग्राफी, माइथौलौजी एन्ड ज्योग्रफी, पृष्ठ ३८
ई० बार्कर, ग्रीक पोलीटिकल थ्यौरी । पृष्ठ १०९

प्रभाव नही पडता है। मनुष्य को सासारिक वातो को छोडकर सद्गुण प्राप्त करने चाहिये। वाह्य सस्थाएँ तथा सामाजिक हित मनुष्यो की आत्मोन्नति मे वाधक होते हैं। आत्म-तुष्टि तथा आत्मनिर्भरता ही सर्वश्रेष्ठ गुण है। वे लोग सासारिक आडम्बरो से पूर्णरूप से मुक्त थे। राज्य उनकी दृष्टि म कोई महत्व नही रखता है। वे राज्य की आवश्यकता ही नही समझते हैं। जैसा कि ऊपर वतलाला जा चुका है वे सार्वभौम नागरिकता के समर्थक हैं। प्लूटार्क (Plutarch) का कथन है कि "सिकन्दर ने अपनी राजनीति मे साइनिक सिद्धान्त के आदर्श को अनुभव करके सार्वभौम साम्राज्य की स्थापना की"।[1] मानव समाज की समानता तथा मानव सज्जनता को महत्व देते हुए सिनिक्स उसी व्यक्ति को वुद्धिमान बतलाते थे जो आत्म निर्भर होता था और जो विश्व बन्धुत्व के भावो से ओत प्रोत होता था।

सिनिको का विचार है कि स्वभाव से ही मनुष्य एक दूसरे के बरावर हैं और एक वृहद् मानव समाज म एक दूसरे के भ्राता है। इन वातो ने ईसाई धर्म को फैलाने और उसे विश्व व्यापी-वनाने में वडी सहायता की। सिनिक्स के सिद्धान्तो में सार्वभौम नागरिकता के अकुर विद्यमान थे। एन्टिस्थेनीस का कथन है कि वुद्धिमान मनुष्य राज्य द्वारा निर्माण किये हुए विधानो का कभी भी पालन न करेगा। वह तो केवल सद्गुण सम्वन्धी नियमो का ही पालन करेगा क्योकि यही नियम सर्वव्यापक तथा सार्वभौमिक हैं। अत उसका कथन है कि मनुष्यों का कल्याण इसी म है कि वे पशुओं के समान प्राकृतिक नियमा का पालन करें। उसने कृत्रिम जीवन का विरोध किया और वतलाया कि मनुष्य को वनावटी जीवन को त्याग कर प्राकृतिक दशा म रहन का प्रयत्न करना चाहिय। नगर, विधान तथा कृत्रिम सस्थाओ का त्याग करके प्राचीनकाल की सृष्टि के आदि की दशा को पुन प्राप्त होकर उसी प्रकार की जीवनचर्या वनाने में ही मनुष्य सुख का अनुभव कर सकता है।

डायगैनिस—(Diogenes) डायगैनिम भी एक प्रसिद्ध सिनिक हुआ है। इसका जन्म पौन्टस में ईसा से ४१२ वर्ष पूर्व हुआ था। इस का आरम्भिक जीवन दूषित था और उसका चरित्र भी अच्छा न था, परन्तु वडा होने पर यह एन्टिस्थैनिस के सम्पर्क में आया। एन्टिस्थैनिस का उस के चरित्र पर ऐसा प्रभाव पडा कि उसका जीवन विल्कुल परिवर्तित होगया और वह अच्छे चरित्र वाला श्रेष्ठ विद्वान वना। उसने अपने शरीर को वडा

१. गोम्पर्ज, ग्रीक थिंकर्स, ई० टी० II, पृ० १६१

पष्ट दिया । ग्रीष्म काल में वह गरम रेत से अपने को ढक लेता था और शरद ऋतु में हिम से ढकी हुई मूर्तियों का आलिगन किया करता था। अत्यन्त मामूली भोजन करता था और मोटे वस्त्र पहनता था। ईजिना (Aegina) को जाते हुए समुद्र यात्रा में उसे जल डाकुओं ने पकड़ लिया। उन्होंने उसे क्रीट (Crete) में दास बना कर बेच दिया। जब उसे वहां बेचा गया तो उससे पूछा कि तुम क्या काम जानते हो ? उसने उत्तर दिया कि "मनुष्यों को आज्ञा देना" (How to command men), इस पर इसको कोरिन्थ के जेनियादिस (Xeniades) ने मोल ले लिया और इस को दासता से मुक्त करके अपने बच्चे इसको सौंप दिये ताकि वह इन्हें शिक्षा दे। कोरिन्थ में इस की सिकन्दर महान् से भेंट हुई। सिकन्दर ने इस प्रकार वार्तालाप आरम्भ की 'मै सिकन्दर महान हूँ"। इस पर दार्शनिक डायगैनिस ने उत्तर दिया "मैं डायगैनिस सिनिक हूँ।" इस पर सिकन्दर ने उस से कहा 'मेरे लायक कोई काम ?"

इस पर डायगैनिस ने केवल यही उत्तर दिया कि "आप धूप में खड़े न होइये।" कहते हैं कि सिकन्दर उससे इतना प्रभावित हुआ कि उसने यह कहा कि "यदि मैं सिकन्दर न होता तो मैं डायगैनिस होना पसन्द करता।" डायगैनिस की मृत्यु कोरिन्थ म ९० वर्ष की आयु म ईसा से ३२३ वर्ष पूर्व हुई थी।

डायगैनिस सिनिक के विचार— डायगैनिस बड़ा प्रसिद्ध सिनिक था। उसके विचार एन्टिस्थेनिस से कुछ भिन्न है। उसने अपनी रिपब्लिक (Republic) नामक पुस्तक म लिखा है कि 'सार्वभौम राज्य ही श्रेष्ठ राज्य है"। उसने स्त्री तथा बच्चो के साम्यवाद (Community) का समर्थन किया है। उसने कहा है कि कौटुम्बिक जीवन का अन्त कर देना चाहिये। उसने समाज मे ऊंच-नीच के भेद भाव का खडन किया, दासता का विरोध किया। उसके मतानुसार विधान-युक्त राज्य आवश्यक है परन्तु सार्वभौम राज्य होना चाहिये। बिना विधाना के राज्य का कोई अस्तित्व नही है।

सिनिक्स के मतानुसार समाज म व्यक्ति का बड़ा महत्व है। इन लोगो ने व्यक्तिवाद का समर्थन किया और अपन सिद्धात का आधार व्यक्तिवाद ही माना।

साइरिनाइक्स दार्शनिको ने भी व्यक्तिवाद सिद्धान्त को अपनाया। ये लोग सुकरात के सिद्धान्तो को मानने वाले थे परन्तु इन्होंने व्यक्तिवाद को अधिक

ई० बार्कर —ग्रीक पोलीटिकल थ्योरी, पृष्ठ १०७

महत्व दिया है। इस सिद्धान्त का प्रवर्तक ऐरिस्टिपस (Aristippus) था।

ऐरिस्टिपस (Aristippus)—ऐरिस्टिपस साइरीनी (Cyrene) का निवासी था। इसने साइरिनाइक सिद्धान्त स्थापित किया। यह सुकरात का समकालीन था। सुकरात की ख्याति सुनकर वह ऐथिन्स आया और सुकरात की मृत्यु तक (ईसा से ३६६ वर्ष पूर्व) उसी के साथ रहा। वह सुकरात का शिष्य तो था ही परन्तु उसका चित्त विलास की ओर अधिक झुका हुआ था। वह रुपये लेकर शिक्षा दिया करता था।[1]

ऐरिस्टिपस के विचार—उसने साइरिनाइक सिद्धान्त की स्थापना की। इसने भी व्यक्तिवाद पर जोर दिया। उस का मत है कि मोक्ष प्राप्ति के लिये मनुष्य को ज्ञानी बनना चाहिये। ज्ञान की प्राप्ति तथा विलास प्रियता ही जीवन का ध्येय होना चाहिये। बुद्धिमत्ता-युक्त विलास सेवन ही श्रेष्ठ कार्य है। साइरिनाइक्स के मतानुसार मानव समाज के पथ प्रदर्शन के लिये राज्य तथा विधानो की कोई आवश्यकता नही है। ऐरिस्टिपस का कथन है कि सब प्रकार के विधानो के अभाव में भी एक दार्शनिक पूर्ववत् जीवन व्यतीत कर सकता है। उसका यह विश्वास है कि उचित अनुचित का भाव कृत्रिम है जो कृत्रिम विधानो द्वारा उत्पन्न किया गया है। यह भाव प्राकृतिक नही है। परन्तु साइरिनाइक्स यह भी कहते हैं कि 'व्यक्ति अपने मित्र अथवा अपने देश हित में भी आनन्द का अनुभव कर सकता है"। इससे स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त के मानने वाले पूर्ण रूप से मानव समाज अथवा राज्य के विरोधी नही हैं।

इस सिद्धान्त के मानने वाले विलास प्रियता तथा कर्त्तव्य पालन को अधिक महत्व देते हैं। सिनिक्स तथा सारिनाइक्स दोनो का यह मत है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने विवेकानुसार उचित अनुचित का निर्णय करके अपने कर्त्तव्यो का पालन करना चाहिये। इच्छित ध्येय की प्राप्ति के लिये बुद्धि के अनुसार बाह्य (सांसारिक) वस्तुओं की ओर से अपने चित्त को हटाना आवश्यक है। दोनो नगर सम्बन्धी इकाई (Civic unit) की ओर ध्यान देने का विरोध करते हैं। त्याग भाव से संसार में कार्य करना चाहिये, सार्व-भौम नागरिकता के साथ साथ शान्ति प्रिय तथा एकान्त प्रिय होकर मनुष्य को जीवन व्यतीत करना चाहिये। जीविका अथवा सामाजिक सम्बन्धी सहयोग तथा प्रतियोगिता का इन लोगों ने विरोध किया है।

---

[1] विलियम स्मिथ—क्लैसिकल डिक्शनरी, पृष्ठ ८३—८४

प्लैटो (Plato)—प्लैटो (अफलातून) का जन्म ऐथिन्स में ईसा से ४२८ वर्ष पूर्व हुआ था। इसका पिता कोड्रस (Codrus) के वंश का था जो ऐथिन्स का अन्तिम शासक था कोड्रस ने अपने राज्य के लिये अपना जीवन बलिदान किया था। इसकी माता प्रसिद्ध विधान निर्माता सोलन (Solon) के वंश की थी। प्लैटो की शिक्षा उस समय के प्रसिद्ध अध्यापकों द्वारा हुई थी जिन्होंने उसे व्याकरण व्यायाम और संगीत की शिक्षा दी थी। लगभग बीस वर्ष की आयु में वह सुकरात का अनुयायी बन गया। वह सुकरात का बड़ा भक्त था। सुकरात की मृत्यु (ईसा से ३९९ वर्ष पूर्व) होने पर वह मेगारा (Megara) को चला गया। ज्ञान की पिपासा उसे मिस्र, सिसिली आदि देशों के देशाटन के लिये खींच ले गई। जिस समय वह सिसिली में था उस समय उसका परिचय साइराक्यूज (Syra Cuse) के शासक डाइनीसियस (Dionysius) से हुआ, परन्तु कुछ काल पश्चात् उसकी उससे खट-पट हो गई। प्लैटो के विषय में एक कहानी प्रसिद्ध है कि डायनीसियस ने इसे दास बना कर बेच दिया था किन्तु साइरीन (Cyrene) के शासक ऐनीसेरिस (Anniceris) ने इसे दासता से मुक्त कर दिया। इसके पश्चात इसने ऐकेडेमी नाम का एक विद्यालय स्थापित किया। यह विद्यालय ऐकेडेमिक नाम से प्रसिद्ध है। इस विद्यालय के द्वार पर उसने यह लेख खुदवा रखा था कि "ज्यामिति से अनभिज्ञ व्यक्ति इसमें प्रवेश न करे'।[1] प्लैटो को यहाँ से दोबारा सिसिली की यात्रा करनी पड़ी। पहली बार तो इसलिये बुलाया गया था कि वह डाइनीसियस के पुत्र को अपने दर्शन शास्त्र की शिक्षा दे और दूसरी बार इसलिये कि साइराक्यूज जाकर वहाँ के शासक के साथ जो उसका मनमुटाव होगया था उसको दूर करे। वह दोनों कार्यों में सफल हुआ। उसकी मृत्यु ईसा से ३४७ वर्ष पूर्व हुई थी। उसने दर्शनशास्त्र तथा राजनीति पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। उसकी लेखन शैली साम्वादिक है। भाषा शुद्ध तथा सुन्दर है।

प्लैटो के समय में एथिन्स की राजनैतिक दशा अच्छी न थी। वहां की शासन प्रणाली में अनेक दोष थे। शासकों में भ्रष्टाचार फैला हुआ था। *सुकरात के ऊपर जिस प्रकार मुकदमा चला कर उसे प्राण दण्ड दिया,* उस प्रणाली का प्लैटो पर बुरा प्रभाव पड़ा और वह वहां की शासन प्रणाली को अत्यन्त दूषित समझने लगा। उसने ऐथिन्स की जनतन्त्र शासन प्रणाली तथा

---

१. विलियम स्मिथ—क्लैसीकल डिक्शनरी, पृष्ठ ३२६ तथा
ई० बार्कर—ग्रीक पो. थ्यो०, प्लैटो एन्ड हिज़ प्रीडीसेसर्स, पृष्ठ ११०

साइराक्यूज की राजतंत्र शासन प्रणाली का आलोचनात्मक दृष्टि से निरीक्षण किया और इस परिणाम पर पहुचा कि इन शासन प्रणालियो मे सुधारो की आवश्यकता है। "अपनी गौर्गियस (Gorgias) नामक पुस्तक मे प्लैटो ने पैरिक्लीस (Pericles) द्वारा बनाई गई जनतंत्र शासन प्रणाली की तीव्र अलोचना की है परन्तु रिपब्लिक मे उसने उसकी (जनतंत्र शासन प्रणाली की) अच्छाइयो का भी वर्णन किया है और उसके उत्तरकालीन पोलीटीक्स (Politicus) और लॉज़ (Laws) जैसे सम्वादो मे सुकरात का प्रभाव न्यून प्रतीत होता है।[1]

रिपब्लिक—(The Republic) विश्लेषणात्मक दृष्टि से रिपब्लिक को निम्नलिखित भागो मे इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है—

प्रस्तावना—प्रथम अध्याय (Book 1) में न्याय के लक्षणो पर वाद विवाद किया गया है। दूसरे अध्याय के पूर्वार्ध में न्याय के अन्वेषण पर विचार किया गया है।

आदर्श राज्य—अध्याय २ से ६ तक राज्य के निर्माण, विधान आदि के विषय में वर्णन किया गया है। द्वितीय तथा तृतीय अध्याय मे अभिभावक (Guardian) की शिक्षा तथा जीवनचर्या पर विचार किया गया है। चतुर्थ अध्याय म राज्य तथा उसके लक्षणो का वर्णन है। पचम अध्याय में स्त्रियो, बच्चो तथा सम्पत्ति पर अभिभावको के सर्वाधिकार (Community of wives, children and property) तथा आदर्श राज्य को कार्यान्वित बनाने पर विचार किया गया है। षष्ठ अध्याय में शासको की शिक्षा तथा उनके चरित्र पर विचार किया गया है। सप्तम् अध्याय म ज्ञान के लक्षणो तथा बौद्धिक उन्नति पर विचार किया गया है। अष्टम् अध्याय में तत्कालीन राज्यो का वर्गीकरण, प्रत्येक राज्य के लक्षण तथा राज्य परिवर्तन के काल-चक्र का वर्णन है। अध्याय नवम् तथा दशम् में प्रत्येक राज्य के निवासियों, विचार, चरित्र तथा न्याय पक्ष तथा अनुकरणीय कलाकौशलों के लक्षणो का वर्णन है। परन्तु अध्याय दो, तीन चार, पाँच, छ तथा आठ में राजनैतिक दर्शन सम्बन्धी विषय पर अधिक विस्तार पूर्वक विचार किया गया है।

रिपब्लिक मे न्याय का लक्षण— प्रथम अध्याय में सुकरात और पोलीमार्कस (Polemarchus) का न्याय के अर्थ के विषय मे सम्वाद प्रारम्भ होता है। इस सम्वाद में यह स्पष्ट रूप से बतलाया गया है कि न्याय की

१. ई० बर्कर—ग्रीक पो. थ्यो० एन्ड हिज प्रीडीसैसर्स, पृष्ठ १०६

वास्तविक परिभाषा क्या है ? तथा न्यायी पुरुष किसे कहते हैं ? इस सम्वाद में थ्रेसीमेकस (Thrasymachus) कहता है कि "न्याय वह वस्तु है जो अधिक शक्तिशाली के लिये सुविधा जनक और लाभकारी है। प्रत्येक राज्य के शासक अपनी सुविधा और लाभ के लिये विधानों का निर्माण करते हैं और जो व्यक्ति उन विधानों की अवहेलना करता है उसे दण्ड देते हैं। साथ ही साथ वे (शासक) कहते हैं कि विधान शासितों के लाभ के लिये हैं और उन्हें न्याय-युक्त बतलाते हैं। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। हीन श्रेणी के लोगों में, अन्यायी (जो उन विधानों की अवहेलना करता है जिन्हें उसके पथ प्रदर्शन के लिये अधिक शक्तिशाली लोगों ने निर्माण किया है) व्यक्ति को सदैव एक न्यायी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक लाभ होता है।"[1]

सुकरात इस बात को नहीं मानता कि शासन करने की कला शासकों के हित की पूर्ति के लिये है। बड़े विवेक पूर्ण तर्क द्वारा "वह ज्ञान, बुद्धिमत्ता और सद्गुण की पर्यायवाची को दर्शाकर इस निर्णय पर पहुंचता है कि न्यायी व्यक्ति ज्ञानी पुरुष के समान होने के कारण शक्तिशाली, बुद्धिमान और सद्-गुण-युक्त है।"[2] मनुष्यों का कोई समुदाय (चाहे वह अच्छे कार्य के लिये संगठित किया गया हो चाहे बुरे के लिये) कभी अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता जब तक कि वह कुछ न कुछ न्याय का पालन न करे। यदि चोरों में सच्चरित्रता न होगी तो वे कभी सफल नहीं होंगे। अतः थोड़ी बहुत सच्चरित्रता का चोरों में भी होना आवश्यक है। यह बात व्यक्तिगत रूप में भी सत्य है। न्यायी पुरुष अन्यायी पुरुष की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है। आगे चल कर सुकरात पुनः बतलाता है कि 'अन्य प्रत्येक वस्तु के समान आत्मा भी कार्य करती है। उसका कार्य वही है जो जीवन शक्ति का कार्य है और उसका सद्गुण यह है कि वह अपने इस कार्य को समुचित रूप से करे। परन्तु न्याय आत्मा का गुण है और अन्याय दोष है अतः एक न्याय-युक्त व्यक्ति का जीवन एक अन्यायी की अपेक्षा अधिक सुखी तथा लाभदायक होगा। यहाँ तक न्याय की व्याख्या भली प्रकार न होने के कारण सुकरात थ्रेसीमेकस के प्रश्न के उत्तर में द्वितीय अध्याय में फिर उसकी व्याख्या करता है। "लोग कहते हैं कि अन्याय करना स्वभावतया अच्छा है और कष्ट भोगना बुरी बात है, परन्तु कष्ट भोगने वाला अन्याय करने वाले से अधिक श्रेष्ठ है। अतः दोनों प्रकार के अनुभवों (अन्याय करना अथवा भोगना) से यदि कोई व्यक्ति नहीं

१. एच० पी० फरल—इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल फ़िलॉसफ़ी, पृष्ठ १७-१८
२. पूर्व स्रोत, पृष्ठ १८

बच सकता तो उसे केवल अन्याय से बचने का प्रयत्न करना चाहिये। इसी लिये विधानो की आवश्यक्ता होती है।

इस लोक मे और परलोक मे वास्तव में सुखी और सफल वही मनुष्य होता है जो न्यायी दिखाई दे (चाहे वह न्यायी हो अथवा न हो)। अन्याय पूर्वक उपार्जित किये हुए, धन से वह पर्याप्त धन देवताओ के प्रसन्न करने में धर्मार्थ कार्यो में व्यय करता है, देवताओ के आशीर्वाद को प्राप्त करता है और धनी, ऐश्वर्यशाली और सफल बनता है। न्याय की प्रशसा लोग इस लिये करते है कि न्याय से लोगो को प्रतिष्ठा प्राप्त होती है परन्तु ग्लौकन आदि ने सुकरात द्वारा यह सिद्ध कराने का प्रयत्न किया है कि न्याय से प्रत्यक्ष लाभ ही नही है अपितु न्याय में वास्तविक सद्गुण तथा अच्छाई भी है। सुकरात ने बतलाया है कि "नगर व्यक्ति से बडा होता है अत नगर मे न्याय वृहद् रूप में पाया जा सकता है और इस कारण उसका भली प्रकार सिंहावलोकन हो सकता है। यदि एक नगर की प्रगति का पता चलाया जाय तो न्याय की उन्नति का भी पता चल सकता है। न्याय तथा अन्याय की प्रगति की भी अन्वेषण हो सकती है। इसी लिये प्लैटो ने राज्य का अध्ययन किया।"[1]

राज्य का निर्माण तथा श्रम-विभाजन—सभ्य जगत मे श्रमविभाजन के सिद्धान्त के अनुसार नगर की स्थापना होती है। अत कोई व्यक्ति स्वतन्त्र नही है, बल्कि अपनी आवश्यक्ताओ के लिये दूसरो पर निर्भर है। यह सहयोग तथा पारस्परिक निर्भरता नगर में दिखाई देती है। नगर में कृषक, राज, सौचिक तथा चर्मकार का होना अत्यन्त आवश्यक है। श्रम विभाजन के लिये मुद्रा का विनिमय आवश्यक है। इसलिये मुद्रा की आवश्यकता होती है। बाजार, हाट और मुद्रा की व्यापारियो तथा यातायात में सलग्न लोगो को आवश्यकता होती है। व्यापार के लिये नाविको की भी आवश्यकता है जो अन्य देशो से व्यापार करें। यदि नगर निवासी नागरिक जीवन के आनन्द लेना चाहते हैं तो उनको अनेक ऐसे व्यक्तियो की आवश्यकता होगी जो उनकी आवश्यक्ताओ की पूर्ति कर सकें। इनमें वे सभी व्यक्ति आते हैं जो भिन्न-भिन्न वस्तुओ का व्यवसाय करते हैं। नाचने, गाने वाले, ऐश्वर्य की वस्तुओ को निर्माण करने वाले शिकारी, कवि, नाट्यकार, सेवक, वैद्य आदि सभी इनमें सम्मिलित हैं। सेना की भी नगर के लिये आवश्यकता है चाहे युद्ध हो चाहे न हो। इन सब बातो को ध्यान मे रखते हुए श्रमविभाजन अत्यन्त आवश्यक है।

---

१. एच० पी० फैरल—इन्ट्रोडक्शन टुपोलीटिकल फ़िलासफ़ी, पृष्ठ १६

अभिभावक (The Guardians)—गैनिरों को प्लैटो ने राज्य का अभिभावक बतलाया है। अभिभावकों को शीघ्र कार्य करने वाला, पुष्ट शरीर वाला, वीर होना चाहिये। वे शील स्वभाव वाले, सज्जन तथा दार्शनिक होने चाहिये। राज्य का सबसे महत्व-पूर्ण कार्य इनकी शिक्षा का प्रबन्ध करना है।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि सुकरात का यह विचार है कि राज्य इस प्रकार का गुण होना चाहिये। चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में उसने यह वर्णन किया है कि आदर्श राज्य कैसा होना चाहिये। उसका ध्येय एक आदर्श राज्य की स्थापना करना है।

अभिभावकों की शिक्षा—राज्य के अभिभावकों के चरित्र निर्माण के लिये प्लैटो ने एक पाठ्यक्रम निर्धारित किया है। इस पाठ्यक्रम में अभिभावकों को उचित शिक्षा देने की योजना है। इस पाठ्यक्रम में "सगीत (जिसमें कथा, कहानी, तथा राग रागनिया भी सम्मिलित है) व्यायाम, गणित तथा तर्क विद्या, आत्मिक, शारीरिक तथा बौद्धिक शिक्षण के लिये सम्मिलित की गई हैं। तथा कहानिया इस प्रकार की चुनी जाय जिनमें सत्यभाषण, सयम, ब्रह्मचर्य आदि सद्गुणों की बालकों को शिक्षा मिले। तृतीय अध्याय में बतलाया गया है कि ऐसी कहानियों का त्याग किया जाय जिनमें देवताओं को मानसिक त्रुटियों के अधीन दर्शाया गया है अथवा जिनमे किसी ऐसे ससार की कल्पना की गई हो जहाँ सब प्रकार के दुःख और सकट हो। राग रागनियों पर तथा ताल स्वरों पर अधिक ध्यान दिया गया है क्योंकि ये बातें मानव चरित्र पर *अच्छा प्रभाव डालती हैं। केवल ऐसी बातों की ही शिक्षा दी जाय जिनसे* चरित्र पर किसी प्रकार का दूषित प्रभाव न पडे और क्लीवता, कोमलता, कायरता, आदि अवगुण सिखाने वाली बातों से बच्चों को दूर रखा जाय।"[1] बालकों को जीवन भर व्यायाम की शिक्षा दी जाय जिससे भविष्य म उन्हें कठिन तथा श्रमिक कार्य करने की टेव पड जाय और युद्धादि में सकटों का सामना सफलता-पूर्वक कर सकें। इस शिक्षा का उद्देश्य केवल यही नहीं था बल्कि यह भी था कि शारीरिक शिक्षा का प्रभाव उनकी आत्मा पर पडे और उनकी आत्मिक उन्नति हो। सप्तम अध्याय में बतलाया गया है कि गणित में अकगणित, ज्यामिति-रेखा गणित, ज्योतिष की शिक्षा दी जाय। इस शिक्षा का उद्देश्य केवल युद्ध मे सफलता प्राप्त करना ही नहीं था बल्कि यह विश्वास था कि इससे श्रेष्ठ मानसिक शिक्षा मिलती है। इस मानसिक शिक्षा

---

१. एच. पी. फ़ैरल—इन्ट्रोडक्शन टुपोलीटिकल फ़लिसफ़ी, पृष्ट २१

को सबसे उच्च शिखर पर पहुचाने के लिये तर्क विद्या की शिक्षा दी जाती थी। परन्तु बच्चो के लिये तर्क विद्या सिखाने का निषेध किया गया है क्योकि वे तर्क-वितर्क और वाद विवाद में पडकर उच्च शिक्षा प्राप्त न कर सकेंगे। इस विषय की शिक्षा की व्यवस्था अन्य विषय पढाने के पश्चात् की गई है। शिक्षा पद्धति का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि बच्चो को "खेल कूद द्वारा बिना किसी प्रकार का निरोधात्मक वायु-मडल प्रस्तुत किये"[1] शिक्षा देनी चाहिये।

अभिभावकों का शासन के लिये चुनाव—ऐसे लोग शासन करने के लिये चुने जायें जिनका हृदय राज्य के हितों से ओत-प्रोत हो। इनकी छाँट की विधि यह होनी चाहिये कि बचपन से ही इनके चरित्र का निरीक्षण किया जाय और जिस प्रकार सुवर्ण की अग्नि मे तपाकर जाँच की जाती है उससे भी कठिन परीक्षा इनकी की जाय। जो किसी प्रकार के माया मोह और लोभ तथा छल म न फसे और जो अपने उद्देश्यो पर पूर्णरूप से द्रढ रहें, ऐसे व्यक्तियो को इस कार्य के लिए छाटा जाय अन्यो का त्याग किया जाय। केवल ऐसे ही पुरुष शासन कार्य करने के लिये चुने जायँग। ये अभिभावक कहलायेंगे और इनको जीवन मे तथा मृत्यु के पश्चात् सब प्रकार सम्मान और कीर्ति प्राप्त होगी। अन्य लोग इन की सहायता करेंगे और इनके शासन सम्बन्धी कार्यो का अनुमोदन करेंगे।

यह अभिभावक कुल क्रम से परम्परागत नही होंगे और इस प्रकार अभिभावको की कोई विशेष जाति नही बनेगी। राज्य के अभिभावक सुवर्ण के समान, उनके सहायक रजत के समान तथा कृषक और श्रमिक लौह और तांबे के समान हैं। इनका सदैव भली प्रकार निरीक्षण किया जाय। यदि अभिभावको मे रजत अथवा लौह और तावे के गुण आजायें तो उन्हें निकाल दिया जाय और यदि रजत अथवा लोह और तांबे वालो में सुवर्ण के गुण आजायें तो उन्हे अभिभावक बना दिया जाय। इस प्रकार किसी भी जाति अथवा वर्ण का व्यक्ति अभिभावक बनाया जा सकता है।

अभिभावकों की जीवनचर्या—अभिभावको तथा उनके सहायको को आरम्भ से ही शिविरो (Barracks) में रखा जाय। ये सब साथ-साथ रहें और साथ-साथ सब कार्य करें। इनसे सब प्रकार की भोग विलास की सामग्रियां दूर रखी जायें तथा किसी प्रकार का निजी धन अथवा सम्पत्ति इनके पास न रहने दी जाय जिससे वे धन के मोह म पडकर नागरिको पर अत्या-

1. एच० पी० फैरल० इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल फिलासफी—पृष्ठ २२

पाप न करें। ये लोग नागरिकों से अपने जीवन निर्वाह मात्र भोजन वस्त्रादि सामग्री प्राप्त करेंगे। यह सामग्री केवल उनके जीवन निर्वाह के लिये पर्याप्त होगी। न उन्हें अधिक मिलेगा न न्यून। चतुर्थ पुस्तक में इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है कि इन अभिभावकों का जीवन ऐसा नहीं होगा जिसे देख कर लोग उनसे डाह करें अथवा वैसे सुखी जीवन को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। उनका जीवन तो उन किराये के टट्टू सैनिकों से भी बुरा होगा जो अपने कार्य के लिये वेतन तथा भोजन आदि पाते हैं।

स्त्री-पुरुष सम्बन्ध—प्लेटो के मतानुसार स्त्रियाँ उन अधिकारों से जो मनुष्यों को प्राप्त हैं वंचित नहीं रहनी चाहिये। स्त्रियाँ भी अपनी योग्यतानुसार अभिभावक तथा सहायकों का कार्य कर सकती हैं। इनको भी उसी प्रकार की शिक्षा देनी चाहिये जैसी कि अभिभावकों को परन्तु योग्यतानुसार उनसे कार्य लेने की व्यवस्था की गई है।

स्त्री पुरुष का सम्बन्ध सुन्दर, श्रेष्ठ तथा स्वस्थ्य सन्तान उत्पन्न करने के लिये होना चाहिये। इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए अभिभावकों की स्त्रियाँ और बच्चे सम्मिलित अर्थात् सबके होने चाहियें। पिता को यह पता न चले कि अमुक व्यक्ति मेरा पुत्र है। समस्त अभिभावकों को समस्त बच्चे अपने ही समझने चाहिये और समस्त स्त्रियाँ भी अपनी ही। इस प्रकार प्लेटो ने स्त्रियों और बच्चों के साम्यवाद का समर्थन किया है। इसका उसने यह कारण बतलाया है कि जिस प्रकार साम्पत्तिक साम्यवाद समाज के हित के लिये आवश्यक है उसी प्रकार स्त्रियों और बच्चों का साम्यवाद भी समाज के हित के लिये आवश्यक है। राज्य की सम्पत्ति, स्त्रियाँ और बच्चों के विषय में प्रत्येक यह कह सकता है कि ये मेरे हैं अर्थात् ये किसी विशिष्ठ पुरुष की सम्पत्ति न होकर सर्व साधारण की वस्तुएँ रहेंगी। ये वस्तुएँ निजी सम्पत्ति न होने के कारण पारस्परिक द्वेष तथा लड़ाई झगड़े भी न हों। प्रत्येक स्त्री व बच्चों के दुःख से प्रत्येक मनुष्य दुःखी होगा और सहायता करने का प्रयत्न करेगा। इसका परिणाम यह होगा कि ऐक्य भावना जाग्रत होगी और ये लोग सुख शान्ति पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करेंगे। "यह वर्ग (अभिभावक) आन्तरिक फूट से बचे रहेंगे और इस बात का भय न रहेगा कि बाकी नागरिक उनसे अथवा आपस में झगड़ा करेंगे।"[1]

स्त्री और पुरुष दोनों युद्ध में भाग लेने के लिए जायेंगे और उनके बच्चे भी युद्ध देखने के लिये उनके साथ जायेंगे। जो कायरता दिखायेंगे उन्हें कर्मकारो

---

1. एच० पी० फैरल—इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल फिलासफी, पृष्ठ २४

की श्रेणी में डाल दिया जायगा और जो वीर हों और वीरता दिखायेंगे उन्हे अभिभावकों की श्रेणी में रखा जायगा। ऐसे वीरों को स्त्रियों के सम्पर्क में आने की सब से अधिक सुविधा दी जायगी जिससे ऐसी वीर सन्तान उत्पन्न हो। चतुर्थ अध्याय में प्लैटो ने बतलाया है कि शासक वर्ग मे यदि एक मनुष्य सर्वोत्तम तथा सर्वश्रेष्ठ होगा तो वह शासक बनाया जायगा और राजतन्त्र-राज्य स्थापित होगा और यदि एक से अधिक ऐसे व्यक्ति होंगे तो कुलीन तन्त्र की स्थापना होगी। शासन का कार्य चाहे एक व्यक्ति के हाथ मे हो चाहे अनेक के इससे राज्य के विधि विधान में कोई परिवर्तन नही होगा और न इन पर कोई प्रभाव ही पडेगा क्योंकि इन शासकों की शिक्षा की व्यवस्था इसी प्रकार की की गई है कि जिस से शासन कार्य मे किसी प्रकार की विभिन्नता नही उत्पन्न होगी।

प्लैटो का साम्यवाद—अष्टम अध्याय में प्लैटो ने बतलाया है कि "राज्य का शासन कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिये स्त्री, बच्चों के साम्यवाद और सब प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था करना आवश्यक है। इसी प्रकार युद्ध के और शान्ति के समय मे उद्यम व्यवसाय सम्बन्धी साम्यवाद की आवश्यकता है। सर्वोच्च शासक वही होने चाहिये जिन्होंने दर्शन-शास्त्र के अध्ययन मे योग्यता दिखाई हो और युद्ध के लिये भी अत्यधिक योग्यता दिखाई हो।

राज्य का विस्तार—प्लैटो के मतानुसार नगर न तो अत्यधिक धनी ही होना चाहिये और न अत्यधिक दरिद्र, क्योंकि धन भोग विलास, अकर्मण्यता, आलस्य आदि दोष उत्पन्न करता है और दरिद्रता क्षुद्रता, कुकर्मता तथा कलुषित प्रवृत्तियों को उत्पन्न करती है। नगर न तो बहुत बडा ही होना चाहिये न बहुत छोटा। नगर निवासी स्वावलम्बी आत्मनिर्भर भाव से ओत प्रोत होने चाहिये। अत्यधिक बडे राज्य (नगर) में समानता नही रहती है, कुछ लोग अधिक धनवान और कुछ अधिक दरिद्र होते हैं। परिणाम यह होता है कि धनी और दरिद्रों में द्वेष भाव उत्पन्न होता है इस कारण लडाई झगडे होने के कारण राज्य (नगर) की शान्ति-व्यवस्था नष्ट हो जाती है। अतः अभिभावकों का यह कर्तव्य है कि वे इस बात का ध्यान रखें कि नगर अधिक विस्तृत न हो जाय।

सुशिक्षा का महत्त्व—एक अच्छे राज्य में सुशिक्षा का बडा महत्त्व है। प्लैटो का मत है कि जिस प्रकार की शिक्षा की उसने व्यवस्था की है उस में किसी प्रकार का परिवर्तन नही करना चाहिये। उसका कथन

है कि कभी कभी शिक्षा की उन्नति करने के नाम से अथवा उसे अधिक रोचक बनाने के बहाने लोग शिक्षा पद्धति मे परिवर्तन करेंगे। ऐसा कदापि नही होने देना चाहिये। सुशिक्षा का यह महत्व है कि नागरिक पीढ़ी दर पीढ़ी श्रेष्ठ होते चले जायगे। अत राज्य के अभिभावको का यह कर्तव्य है कि वे शिक्षा में किसी प्रकार का परिवर्तन न होने दें। सुशिक्षित अभिभावक भली प्रकार से शासन करेंगे और राज्य के विधि विधानो में किसी प्रकार के परिवर्तन करने की आवश्यकता नही होगी। जब शासन कार्य सुचारुरूप से चलता है तो नवीन विधान निर्माण करने की आवश्यकता नही होती। परिवर्तन उसी राज्य मे होता है जहा की शासन पद्धति दूषित होती है, जैसे उसी मनुष्य को निरन्तर औषधि की आवश्यकता होती है जो रुग्ण होता है। एक स्वस्थ्य मनुष्य को बारबार वैद्य के पास जाने की आवश्यकता नही है।

आदर्श राज्य के लक्षण—एक आदर्श राज्य के लोगो को बुद्धिमान्, वीर, सयमी और न्यायी होना चाहिये। राज्य के शासको को शासन कार्य में कुशल होना चाहिये। राज्य की सुरक्षा के लिये अभिभावको को वीर होना चाहिये। सकट तथा भय की उपेक्षा करना वीरता नही है। वीरता का अर्थ है भय और सकटो का ठीक ठीक अनुमान करके उनके निवारण का प्रयत्न करना। और ज्ञान सुशिक्षा ही से होता है कि किस सकट से बचने का और किसका सामना करने का प्रयत्न करना चाहिये। इसी प्रकार सयमी होने का तात्पर्य है कुचेष्टाओ तथा दुष्ट आन्तरिक उत्तेजनाओ और बुरे भावो का निरोध करना। न्याय का तात्पर्य यह है कि *प्रत्येक व्यक्ति अथवा समुदाय को अपना-अपना कार्य सुचारु रूप से* रुचिपूर्वक करना चाहिये। अपने कार्य को छोड कर दूसरो के कार्य अथवा व्यवसायो को नही अपनाना चाहिये। राज्य के तीनो वर्णों को अपना अपना कार्य करना चाहिये। यदि एक वर्ण (वर्ग) दूसरे के कार्य करता है तो यह अन्याय है। श्रमविभाजन एक विशिष्ट विवेकपूर्ण और महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। यदि प्रथम दो वर्गों का शिक्षण भली प्रकार से होगा तो वे तीसरे वर्ग पर उचित नियत्रण रखेंगे।

*पचम अध्याय मे बतलाया गया है कि यद्यपि एक आदर्श राज्य निश्च*यात्मक रूप से वास्तविक राज्य नही हो सकता तथापि वह बहुत कुछ आदर्श रूप में परिवर्तित हो सकता है। ऐसा करने के लिए शासन की बागडोर दार्शनिको के हाथ में दे देनी चाहिए। यदि दार्शनिक (Philosophers) शासन करेंगे तो वे अपनी सुशिक्षा, सुविचार, विद्वत्ता, सत्यपरायणता, इन्द्रिय

निग्रह और संयम के कारण लोभ, मोह, कुटिलता,, नीचता तथा कायरता से बचे रहेंगे।

जनतन्त्र शासन पद्धति के दोष—प्लैटो ने एक जनतन्त्र राज्य की तुलना ऐसे पोत से की है जिसके पोतिक (crew) नौचालन की कला से अनभिज्ञ होते हुए पोताधिपाल अथवा मुख्य नौचालक बनने के लिये पारस्परिक द्वेष भाव के कारण लड़ाई झगड़ा करते हैं और चतुर, अनुभवी चालकों का अवहास और तिरस्कार करते हैं। एक दार्शनिक सुशिक्षित शासक कदापि अनुभव-हीन नागरिक से राज्य के शासन कार्यों में परामर्श न करेगा। इसी कारण अच्छे शासकों को बुरा बतलाया जाता है और नाना प्रकार से उनके ऊपर दोषारोपण किये जाते हैं। साधारण जन समूह (Mob) अच्छे शासकों के साधारण कार्यों में दोष निकालता है और अन्याय-पूर्वक उनके विरुद्ध मिथ्या प्रचार करता है। अतः एक सफल शासक बनने के लिये और शासक के पद पर अधिक समय तक बने रहने के लिये एक व्यक्ति को साधारण जन समूह की इच्छानुसार कार्य करना चाहिये। उसे न्याय के पथ को छोड़ कर ऐसे कार्य करने चाहिये जिससे जन समूह, जो मूर्ख और अज्ञानी होता है, संतुष्ट रहे। परिणाम यह होता है कि एक सच्चा दार्शनिक शासक लोक में अप्रिय होता है और अधिक समय तक अपने पद पर नहीं रह सकता।

राज्यों का वर्गीकरण तथा राजनैतिक परिवर्तन-चक्र—प्लैटो का मत है कि जनतंत्र अथवा शिष्टजनतंत्र (कुलीन तंत्र) वास्तव में एक आदर्श राज्य है। अष्टम अध्याय में उसने यूनान के तत्कालीन अपूर्ण विधानों का निम्न प्रकार वर्गीकरण किया है—

१—वीरधनिक तंत्र (Timocracy अथवा Timarchy)
२—अल्प जनतंत्र (Oligarchy)
३—जनतंत्र (Democracy)
४—स्वेच्छाचारी शासन (Despotism)

१. **धनिक तन्त्र**—शासकों में द्वेषभाव तथा झगड़े होने के कारण इस प्रणाली की स्थापना होती है। शासन में परिवर्तन होते-होते एक ऐसा समय आता है जब कि राज्य में ऐसी संतान उत्पन्न होती है जिसमें शासकों के समस्त गुण नहीं होते हैं। कुछ वर्णसंकर होते हैं। ऐसी संतान में बड़े होने पर लालच, लालसा आदि अवगुण उत्पन्न हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि पारस्परिक झगड़े होने लगते हैं। इन झगड़ों में लालसा-युक्त व्यक्तियों की विजय होती है। इनमें युद्ध भावों की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार कुलीनतंत्र धनिकतंत्र में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार की

शासन प्रणाली में गुण तथा अवगुण दोनों का ही सम्मिश्रण होता है।

२. अल्प-जनतंत्र—इस प्रणाली में केवल वे ही लोग शासन में भाग ले सकते हैं जिनके पास एक निश्चित सम्पत्ति होती है। ये लोग वीर योद्धा, और साहसपूर्ण नहीं होते हैं। इस प्रणाली में केवल सम्पत्ति ही शासन में भाग लेने का माप समझा जाता है। युद्ध कार्यों में ये लोग कुशल नहीं होते हैं।

३. जनतंत्र—उपर्युक्त वर्ग में लड़ाई झगड़ा और द्वेष होने के कारण जन साधारण को कष्ट मिलता है और वे लोग क्रान्ति करके शासन को उलट देते हैं। इस प्रकार जनतंत्र की स्थापना हो जाती है, इसमें समानता तथा भ्रातृ भाव की भावना उत्पन्न होती है। सब लोगों को शासन कार्यों म भाग लेने का समान अधिकार प्राप्त होता है चाहे वे वास्तव में समान हों अथवा न हों।

४. स्वेच्छाचारी शासन—जनतंत्र में स्वतंत्रता के भाव अत्यधिक मात्रा म जाग्रत हो जाते हैं। शासित किसी प्रकार का नियंत्रण सहन नहीं कर सकते। स्वतंत्रता को सर्वोपरि मानते हैं। प्रजा जन अपने शासकों की निन्दा करते हैं। शिष्य अपने अध्यापकों की निन्दा करते हैं, बच्चे अपने माता-पिता की निन्दा करते हैं। अध्यापक, मातापिता और शासक उन लोगों की (जिन का उनको पथ प्रदर्शन करना चाहिये और जिन पर शासन करना चाहिये) चापलूसी करते हैं और उनसे भय मानते हैं। विधि—विधानों की अवहेलना तथा उपेक्षा की जाती है। अन्त म अराजकता फैलती है। दल-बन्दी होने लगती है। साधारण जन समूह (ऐसी परिस्थिति में) एक नेता अथवा अभिनेता के चारों ओर एकत्र होकर उसका अनुयायी हो जाता है। उसे अंगरक्षक समूह (Body Guard) देता है और शनैः शनैः यह (नेता) स्वेच्छाचारी शासक बन जाता है।[१] परिणाम यह होता है कि राज्य का अध-पतन हो जाता है। प्रजाजन दासों म परिणत हो जाते हैं। शासक अत्याचार करता है और प्रजा सहन करती है। मानव समाज का नैतिक पतन हो जाता है। इस विषय की व्याख्या प्लेटो ने नवें अध्याय म की है।

पोलीटिकस अथवा स्टेट्समैन (Politics or Statesman)— इस पुस्तक में प्लेटो न लिखा है कि शासक पूर्ण रूप से स्वेच्छाचारी होना चाहिये। विधि विधान के नियंत्रण से मुक्त होना चाहिये। अपनी लॉज (Laws) नामक पुस्तक म प्लेटो ने अपने राजनैतिक विचारों म कुछ

---

१ एच० पी० कैरल०—इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल फ़िलासफी, पृष्ठ ८२ ८३

संशोधन किया। इसमें वह लिखता है कि शासन पद्धति ऐसी होनी चाहिये जो परिस्थिति के अनुकूल हो। इस पुस्तक में प्लैटो आदर्शवादी सिद्धान्त को छोड़ कर वास्तविक तथा कार्य रूप में परिणत करने योग्य शासन पद्धति का उल्लेख करता है। स्वेच्छाचारिता तथा साम्यवाद का इसमें समर्थन नहीं है। इन सिद्धान्तों को काल्पनिक समझ कर उसने इस पुस्तक में उनका वर्णन नहीं किया है। वह इस पुस्तक में लिखता है कि मनुष्य स्वभाव से ही अपूर्ण और दोष-युक्त है। दैवीय गुण-युक्त मनुष्य का मिलना कठिन है। ऐसी दशा में विधि-विधान युक्त शासन प्रणाली ही सर्व-श्रेष्ठ है। विधान के अनुसार ही शासन होना चाहिये और सब को विधान के अनुसार ही कार्य करना चाहिये। निजी सम्पत्ति रखने की भी उसने सम्मति दी है। राज्य को आर्थिक पतन से बचाने के लिये निजी सम्पत्ति का रखना आवश्यक है। अधिक संतान उत्पन्न करने पर प्रतिबन्ध होना चाहिये। इसको सीमित कर देना चाहिये।

अरस्तू (Aristotle)— अरस्तू का जन्म मेसीडोनिया राज्य के केल्सीडाइस प्रान्त में स्टैगिरा नामक नगर में ईसा से ३८४ वर्ष पूर्व हुआ था। उसका पिता नीकोमेकस मैसीडोनिया के राजा एमिन्टास द्वितीय का राजवैद्य था। उसकी माता का नाम फेस्तिया था। ईसा से ३६७ वर्ष पूर्व वह विद्याध्ययन के लिये ऐथिन्स गया और वहाँ जाकर वह प्लैटो का शिष्य बना। प्लैटो उससे ऐसा प्रभावित हुआ कि उसने उसका नाम "अपने विद्यालय की बुद्धि (intellect of his school) रखा और उसके निवास स्थान को 'पाठक' (Reader) नाम से सम्बोधित किया। वह ऐथिन्स में लगभग २० वर्ष रहा और प्लैटो की मृत्यु के पश्चात् वहां से चला आया। वहाँ से वह अपने मित्र हर्मियस के दरबार में चला गया और वहाँ उसने राजा हर्मियस की बेटी से विवाह किया। जब फारस वालों ने हर्मियस पर आक्रमण करके उसका वध कर दिया तो अरस्तू वहाँ से मिटीलीन (Mytilene) चला गया। दो वर्ष पश्चात् मैसीडोनिया के राजा फिलिप ने उसे अपने बेटे अलक्षेन्द्र अर्थात् सिकन्दर (Alexander) को शिक्षा देने के लिये आमन्त्रित किया। अलक्षेन्द्र की अवस्था उस समय केवल १३ वर्ष की थी। अरस्तू वहाँ गया। वहां उसका बड़ा आदर सम्मान हुआ। अरस्तू का फिलिप ने इतना सम्मान किया कि फिलिप ने अरस्तू के जन्म स्थान स्टैगिरा को जिसे यूनान पर आक्रमण के समय नष्ट कर दिया था, उसने उसे पुनः बनवा दिया। अलक्षेन्द्र के राज्याभिषेक के पश्चात् अरस्तू एथिन्स लौट गया। वहाँ उसे राज्य की ओर से लीसियम (Lyceus) नामक व्यायाम-

स्थापना प्रदान की गई। इस विद्यालय में वह शिक्षक का कार्य करता रहा। लीसियम के चारों ओर स्थित कुंजों में टहलते हुए वह अनेक विद्यार्थियों को दर्शन शास्त्र पर व्याख्यान दिया करता था। उस समय के दार्शनिकों की शिक्षा देने की प्रणाली ऐसी ही थी। दिन में वह दो बार व्याख्यान दिया करता था। प्रातः आत्मदर्शन, भौतिक विज्ञान तथा तर्क-शास्त्र सम्बन्धी विषय पर व्याख्यान दिया करता था और मध्याह्न में अलंकार शास्त्र, साहित्य, राजशास्त्र आदि विषयों पर। वह इस विद्यालय का १३ वर्ष तक अध्यक्ष रहा। इसी समय में उसने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। इस कार्य में अलक्षेन्द्र ने उसे पर्याप्त आर्थिक सहायता दी। अलक्षेन्द्र की मृत्यु के पश्चात् ऐथिन्स में उसे शत्रु की दृष्टि से देखा जाने लगा और उसे विदेशिया का (Macedonia) मित्र समझने लगे। यद्यपि उसके विरुद्ध कोई प्रत्यक्ष राजनैतिक दोष ऐथिन्स निवासियों को नहीं मिला तथापि उस पर उन्होंने अधर्मी होने का दोषारोपण किया। मुकद्दमा चलने से पहले ही वह कैलसिस को भाग गया और उसी वर्ष वहाँ उसकी मृत्यु हो गई।[1]

अरस्तू ने अनेक विषयों पर पुस्तकें लिखी हैं। इस सबंध में उसका क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। उसने, तर्क, अध्यात्मवाद, गणित, भौतिक विज्ञान, प्राकृतिक विज्ञान, अलंकार शास्त्र, नैतिक तथा राजनैतिक शास्त्र, आदि विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं और उसने पद्य रचना भी की है। अरस्तू के अन्य ग्रन्थों की भाँति उसकी पोलिटिक्स में भी पुनरावृत्ति (Repetition) दोष है।[2]

अरस्तू की *पोलिटिक्स* तथा प्लैटो की *रिपब्लिक* में यह भेद है कि रिपब्लिक में विशेष रूप से आदर्श राज्य के लक्षणों का वर्णन किया गया है और पोलिटिक्स में साधारणतया समस्त राजनैतिक सम्बन्धी विषयों का वर्णन किया गया है। इस पुस्तक में अरस्तू ने राजनैतिक सम्बन्धी अनेक प्रश्नों का उत्तर दिया है। दोनों पुस्तकों की लेखन शैली में भी बड़ा भेद है। प्लैटो ने रिपब्लिक को प्रश्नोत्तरी के रूप में लिखा है। "अरस्तू ने पोलिटिक्स के लिखने में निगमनात्मक, विश्लेषणात्मक, ऐतिहासिक, व्याप्तिमूलक आदि अनेक पद्धतियों का प्रयोग किया है।"[3] ये दोनों पुस्तकें इस बात में समान हैं कि इन पुस्तकों के लिखने में तर्कशास्त्र सम्बन्धी नियमों का पालन नहीं किया है और न कहीं तार्किक निर्णय ही दिखाई देता है।

---

१. विलियम स्मिथ— क्लेसिकल डिक्शनरी, पृष्ठ—९५

२. एफ० डब्ल्यू० कोकर— *रीडिंग्स इन पोलीटिकल फिलासफी*, पृष्ठ ५४

३. एच० पी० फैरबेयर— इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल फिलासफी, पृष्ठ ८५

पोलिटिक्स (The Politics)—पौलिटिक्स को निम्नलिखित तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है—

१—स्तवक प्रथम, द्वितीय, तृतीय (Books I, II, III,) इन स्तवको में राज्य के लक्षण, भिन्न भिन्न विद्वानो के तत्कालीन राजनैतिक विचार तथा राज्य के लक्षणों का वर्णन किया गया है। इस वर्णन का उद्देश्य आदर्श राज्य की स्थापना है। प्रथम स्तवक में राज्य का विश्लेपण किया गया है। उसकी उत्पत्ति तथा उसकी आन्तरिक आर्थिक स्थिति का वर्णन किया है। द्वितीय स्तवक मे प्लैटो की रिपब्लिक तथा अन्य तत्कालीन राज्यो की आलोचना की गई है। तृतीय स्तवक में प्रथम स्तवक में किये गये विश्लेपण की पुनरावृत्ति है तथा सर्वश्रेष्ठ राज्य की स्थापना के लिये राज्यो का वर्गीकरण किया गया है।

२–स्तवक चतुर्थ तथा पचम (Books IV and V) मे आदर्श राज्य का वर्णन है। चतुर्थ स्तवक मे आदर्श राज्य की रचना अथवा आकार तथा शिक्षा सम्बन्धी विषय की भूमिका का वर्णन है। पचम स्तवक में केवल शिक्षा सम्बन्धी विषय का वर्णन किया गया है।

३–स्तवक षष्ठ, सप्तम् तथा अष्टम् (Books VI VII VII)—इन स्तवको मे भिन्न भिन्न प्रकार के राज्यो के लक्षणो का वर्णन किया गया है। स्तवक षष्ठ तथा सप्तम् में तृतीय स्तवक में किये गये राज्य के वर्गीकरण का पुन वर्णन किया गया है। स्तवक अष्टम मे राजनैतिक क्रान्तियो, उनके कारणो तथा उनके अवरोधो का वर्णन किया गया है।

प्रथम स्तवक (Book I)

राज्य का ध्येय— राज्य का क्या ध्येय है ? इस विषय को अरस्तू ने बडी रोचकता से इस स्तवक मे वर्णन किया है। वह लिखता है कि प्रत्येक कार्य का ध्येय कोई न कोई अच्छी बात है, अत प्रत्येक समुदाय किसी न किसी श्रेष्ठ ध्येय की प्राप्ति के लिये निर्माण किया जाता है। राज्य सर्व-श्रेष्ठ समुदाय है, अत राज्य का ध्येय सर्व-श्रेष्ठ ध्येय की प्राप्ति है। एक राज्य में रह कर ही मनुष्य पूर्ण रूप से स्वतन्त्रता तथा प्रगति को प्राप्त हो सकता है। राज्य का निर्माण इसलिये किया गया है कि मनुष्य का जीवन सुचारु रूप से व्यतीत हो सके। जीवन को श्रेष्ठ बनाने के लिये राज्य की स्थापना की गई है। न्याय तथा न्याय-पूर्ण कार्य राज्य मे रह कर ही हो सकते हैं। मनुष्य राजनैतिक प्राणी है। जो व्यक्ति राज्य में नही रहता है वह या तो देवता है या पशु है। तृतीय स्तवक मे पुन राज्य के ध्येय की ओर सकेत किया गया है और

बतलाया है कि राज्य का ध्येय जीवन है अर्थात् उच्च अथवा आदर्श जीवन। राज्य का ध्येय केवल जीवन निर्वाह करना ही नहीं है। उसका उद्देश्य है श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करना। राज्य की स्थापना केवल सैनिक संगठन, बाह्य आक्रमणों से रक्षा, अथवा व्यापार आदि की उन्नति के लिये ही नहीं की गई है। न स्थानीय संगठन अथवा अन्तर्जातीय विवाह सम्बन्धी हितों के लिये ही इसकी स्थापना की गई है। वास्तव में राज्य कुटुम्ब तथा ग्रामों का एक ऐसा समूह है जो पूर्ण रूप से स्वतन्त्र और आत्मनिर्भर है। राज्य का ध्येय है जीवन का कल्याण'।

राज्य की उत्पत्ति—राज्य की उत्पत्ति कल्पना करने के लिए समाहित समष्टि को उसके अवयव अंगों में विश्लेषण करना आवश्यक है। मानव-समाज में प्रारम्भ में दो प्रारम्भिक तथा वास्तविक समुदाय थे, प्रथम स्त्री-पुरुष का और द्वितीय शासक और शासित अथवा स्वामी और दास का। ये दोनों प्रारम्भिक समुदायों ने मिलकर एक कुटुम्ब रूपी समुदाय की स्थापना की। इसी समुदाय की पीढ़ी दर पीढ़ी वृद्धि होने से ग्राम रूपी समुदाय की स्थापना हुई। कालान्तर में अनेक ग्राम मिलकर राज्य के रूप में परिवर्तित हो गए। इस प्रकार राज्य की स्थापना हुई।

पैतृक-शासन सिद्धान्त—अति प्राचीन काल में जब मनुष्यों में राजनैतिक चेतना न थी उस समय कुटुम्ब का वयोवृद्ध पुरुष ही कुटुम्ब पर शासन करता था। उसी की आज्ञा का उस कुटुम्ब के अन्य सदस्य पालन करते थे। उसे अपने कुटुम्ब के व्यक्तियों पर सब प्रकार का अधिकार था। वह युद्ध में कुटुम्ब का नेता, धार्मिक कार्यों में कुटुम्ब का पुरोहित तथा कुटुम्बियों के पारस्परिक झगड़ों का निपटारा करने के लिये न्यायाधीश का कार्य करता था। कुटुम्ब की वृद्धि होने पर ग्राम की स्थापना हुई और ग्राम की स्थापना होने पर यह कार्य ग्राम का वयोवृद्ध पुरुष करने लगा। अति प्राचीन काल में इस प्रकार की सर्वव्यापक पैतृक शासन पद्धति थी।

राज्य पूर्वगामी है अथवा व्यक्ति इसकी विवेचना करते हुए अरस्तू ने बतलाया है कि यह तो सिद्ध ही है कि कुटुम्ब तथा ग्राम रूपी समुदाय की उत्पत्ति प्राकृतिक रूप से हुई है। यह मनुष्यकृत नहीं है। इसलिये राज्य एक स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक समुदाय है। प्रत्येक वस्तु जब पूर्ण रूप से उन्नत दशा पर पहुंच जाती है तभी उसे प्राकृतिक समझा जाता है, जैसे एक मनुष्य अथवा घोड़ा। इसी प्रकार एक कुटुम्ब तथा ग्राम की पूर्ण उन्नत दशा का नाम ही राज्य है। परिणाम यह है कि राज्य उसी प्रकार एक कुटुम्ब की अपेक्षा पूर्वगामी है जिस प्रकार एक पूर्ण व्यक्ति अपने अंग की

अपेक्षा पूर्वगामी है। क्योंकि एक व्यक्ति राज्य का एक अंग है और अपना ठीक-ठीक कार्य उसी प्रकार एक राज्य में रहकर कर सकता है जिस प्रकार मनुष्य का हाथ मनुष्य के पूर्ण शरीर का एक अंग रहते हुए अपना कार्य ठीक-ठीक कर सकता है।

घरेलू अर्थनीति—ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि कुटुम्बों के संगठन का नाम राज्य है। अतः राज्य की आर्थिक नीति पर विचार करने से पहले घरेलू (कुटुम्ब सम्बंधी) आर्थिक नीति पर विचार करना आवश्यक है। घरेलू अर्थ-नीति पर विचार करने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि अर्थशास्त्र तथा कुटुम्ब के सदस्यों तथा कुटुम्बी जनों तथा दास के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार किया जाय।

दासता—दासता की प्रथा स्वाभाविक तथा आवश्यक है। क्योंकि स्वभावतया कुछ व्यक्ति अधिक बुद्धिमान होते हैं। वे विचार-शील तथा प्रयत्न-शील होते हैं और स्वभावतया अन्य पुरुषों पर शासन करने की योग्यता रखते हैं। और कुछ मनुष्य स्वभावतया आज्ञा पालन करने योग्य होते हैं और हीन बुद्धि होते हैं। उनका कार्य आज्ञा पालन करना होता है। अतः एक राज्य में प्राकृतिक रूप से कुछ शासक अथवा स्वामी और कुछ दास होते हैं। शासक तथा शासित सिद्धान्त सम्पूर्ण प्रकृति में व्याप्त है। मनुष्य के शरीर में भी आत्मा शरीर पर शासन करती है। यदि ऐसा न हो अर्थात् आत्मा शरीर पर शासन न करे तो शरीर की लालसायें आत्मा के नियन्त्रण से मुक्त होकर स्वेच्छाचारी हो जायेंगी और मनुष्य का पतन हो जायगा। दास और पशुओं में केवल इतना ही भेद है कि पशु में विवेक का अभाव है और दास में विवेक है। स्वामी और दास में यह भेद है कि दास विवेक का प्रयोग नहीं करता। दास केवल शारीरिक सेवा करने के योग्य होते हैं (यही दशा पशुओं की भी है) और यह उनके हित के लिये भी कल्याणकारी है ताकि वे पशुओं के समान अपने स्वामियों के आश्रित तथा उन पर निर्भर रहें जिससे वे (स्वामी) अपने विवेक तथा योग्यतानुसार उनकी रक्षा तथा उनका पथ प्रदर्शन कर सकें।

अरस्तू का कथन है कि समस्त दास वैधानिक रूप से स्वाभाविक दास नहीं कहे जा सकते। कुछ तो विजित राष्ट्र अथवा जातियों को ही दास मानते हैं क्योंकि विजेता जाति विजित जाति की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान तथा सब बातों में अधिक श्रेष्ठ होती है। कुछ लोगों का मत है कि कोई भी व्यक्ति जो शक्तिशाली है यदि दूसरे को अपने अधीन अथवा अधिकार में करले तो वह दास बन जाता है। इन दोनों प्रकार की दासताओं में प्रथम

प्रकार की उचित तथा दूसरी प्रकार की अनुचित है। स्वामी तथा दास का पारस्परिक सम्बन्ध सहानुभूति पूर्ण तथा नैतिक सिद्धान्त के अनुसार होना चाहिये। जो दासता वैधानिक अथवा शक्ति पर निर्भर है वह अनुचित है। यह कल्पना करना असंगत है कि दास सद्गुण युक्त नहीं होते। मनुष्य होने के नाते उनमें सद्गुण होते हैं। दास तथा स्वामी के सद्गुणों मे भेद है। दोनों के कार्यों मे भेद है, दास में केवल इस गुण का होना आवश्यक है कि वह दुराचार अथवा लम्पटता तथा भीरुता के कारण अपने कर्तव्य मे शिथिल न हो। इसी प्रकार मनुष्यों के सद्गुणों मे स्त्री, बच्चे तथा शिल्पकारों के सद्गुण भिन्न होते हैं। और वे पूर्ण नागरिक नही कहला सकते।

अर्थ तथा सम्पत्ति संग्रह—सम्पत्ति जीवित रहने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसका संग्रह करना तथा जीवन निर्वाह सम्बन्धी आवश्यक वस्तुओ का उत्पादन करना अर्थ नीति का आवश्यक अंग है। राज्य तथा गृहस्थ अथवा कुटुम्ब में धन-सम्पत्ति की आवश्यकता होती है और इन के साधनो पर विचार करना आवश्यक होता है। अत एक राजनीतिज्ञ को इस विषय पर भी गम्भीरता पूर्वक विचार करना पडता है और धन तथा सम्पत्ति के उपार्जन पर ध्यान देना पडता है। इन बातो को ध्यान में रखते हुए धन संग्रह करने के साधन, पशुपालन, कृषि, वृक्ष लगाना, मधु मक्खी पालन, मत्स्य व्यवसाय, आदि हैं। यही स्वाभाविक अर्थ संग्रह है।

अस्वाभाविक अर्थ संग्रह—अरस्तू के मतानुसार अर्थ संग्रह के अस्वाभाविक साधनो को अत्यन्त घृणित बतलाया है। उसका मत है कि कुटुम्बो के ग्रामो के रूप मे परिवर्तित हो जाने मे व्यक्तिगत अथवा सामूहिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये वाणिज्य कर्म अथवा वस्तुओ का हेर-फेर तथा अदल-बदल करने की आवश्यकता होती है परन्तु वस्तुओ के हेर-फेर मे बडी कठिनाई होती है। अत इस कठिनाई को दूर करने के लिये मुद्रा का प्रयोग किया जाता है। मुद्रा का चलन व्यापार की सुविधा तथा वस्तुओ के अदल-बदल की असुविधा को दूर करने के लिए प्रयोग मे लाया जाता है। मुद्रा की वृद्धि करना तथा उसका उपार्जन करना एक बात है और धन सम्पत्ति की वृद्धि और उसका उपार्जन करना दूसरी बात। इन दोनो में बडा भेद है। जब व्यापार द्वारा मुद्रा संग्रह करना ध्येय बन जाता है तो यह अस्वाभाविक धन संग्रह कहलाता है। मुद्रा का संग्रह अथवा वृद्धि करने से धन सम्पत्ति की वृद्धि नही होती है। धन सम्पत्ति की वृद्धि होती है वस्तुओ के उत्पादन से। मुद्रा संचालन व्यापार की सुविधा के लिये किया गया था, परन्तु लोग मुद्रा द्वारा मुद्रा का उपार्जन करते हैं अर्थात् ब्याज पर मुद्रा का लेन देन करते हैं और

इस प्रकार मुद्रा-सग्रह करते हैं। इस प्रकार मुद्रा सग्रह करना भी अनुचित तथा अस्वाभाविक है और यह कार्य अत्यन्त घृणित है। इसी प्रकार बेगार लेना भी घृणित तथा अस्वाभाविक है।

द्वितीय स्तवक (Book II)

इस स्तवक में अरस्तू ने प्लैटो के रिपब्लिक नामक ग्रन्थ की आलोचना की है। अरस्तू लिखता है कि "रिपब्लिक का उद्देश्य यथा सभव राज्य को इकाई मानना है"। यह बात ठीक नहीं है। राज्य की इकाई तो कुटुम्ब अथवा व्यक्ति है। राज्य रूपी समुदाय में रहकर ही लोग आत्म-निर्भर और स्वतन्त्र रह सकते हैं। व्यक्ति की अपेक्षा कुटुम्ब और कुटुम्ब की अपेक्षा राज्य अधिक पूर्ण तथा स्वतन्त्र होता है। राज्य एक पूर्ण आवयविक शरीर है जिसके अग भिन्न भिन्न कार्य करने वाले मनुष्य हैं।

रिपब्लिक म दूसरा दोष यह है कि पैल्टो ने स्त्री तथा बच्चों के साम्यवाद का समर्थन किया है। पैल्टो के मतानुसार सब लोग एक ही वस्तु को अपना कहेंगे। यदि पैल्टो के दार्शनिक अभिभावकों का अभिप्राय व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक स्त्री को पृथक-पृथक ऐसा कहना है कि "यह मेरी है" तो यह बात ठीक है। परन्तु ऐसा नहीं है, वहाँ तो सामूहिक रूप से साम्यवाद मतानुसार स्त्री पर सामूहिक अधिकार का वर्णन किया गया है। स्त्री तथा बच्चों पर सभी का अधिकार है। किसी व्यक्ति का किसी भी स्त्री अथवा बच्चे पर व्यक्तिगत अधिकार नहीं है। ऐसी दशा में उनका किसी स्त्री अथवा बच्चे म विशेष प्रेम नहीं हो सकता, और जब विशेष प्रेम न होगा तो उनके लिये उनकी विशेष सहानुभूति भी न होगी और इसलिये स्त्री और बच्चों की ओर यथोचित ध्यान भी न दिया जायगा। परिणाम यह होगा कि नैतिक पतन होगा।

बालकों के रंग रूप की समानता से यह पता चल सकता है कि कौन किसका पुत्र अथवा पुत्री होगा। इसके अतिरिक्त पितृहत्या, व्यभिचार आदि दोष फैलेंगे। बच्चों का एक वर्ग मे दूसरे वर्ग में हस्तान्तरित करना भी सुविधा जनक न होगा। अरस्तू के मतानुसार स्त्री तथा बच्चों का साम्यवाद कृषकों म अधिक सफल हो सकता है क्योंकि उनमें पारस्परिक सहानुभूति के अभाव के कारण उन पर शासन सफलता पूर्वक हो सकेगा।

सम्पत्ति सम्बन्धी साम्यवाद के विषय में अरस्तू का मत है कि जहाँ सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार होता है वहाँ झगड़े होने की संभावना कम होती है और जहाँ उस पर सामूहिक अधिकार होगा वहाँ झगड़े अधिक होंगे।

सम्पत्ति साम्यवाद में एक दोष यह भी है कि मनुष्य उदारता नहीं दिखा सकता और न स्वेच्छा-पूर्वक दानादि दे सकता है। स्त्रियों के साम्यवाद में इन्द्रिय दमन (संयम) नहीं हो सकता।

प्लेटो की रिपब्लिक में एक बड़ा दोष यह है कि उसमें कृषक वर्ग (जो समाज का बहुमत वर्ग है) की सम्पत्ति तथा कुटुम्ब सम्बन्धी व्यवस्था का कोई वर्णन नहीं है। न उस वर्ग की शिक्षा, विधि-विधान तथा राजनैतिक स्थिति का ही कुछ वर्णन किया गया है। ऐसी दशा में न तो अभिभावकों को ही तुष्टि प्राप्त होगी और न अन्य वर्ग के लोगों को ही।

आगे चलकर इसी स्थल में अरस्तू ने प्लेटो के लॉज (Laws) नामक ग्रंथ की आलोचना की है। वह लिखता है कि इस ग्रंथ में विशेषकर विधानों का वर्णन किया गया है और रिपब्लिक के राजनैतिक वर्णन की पुनरावृत्ति की गई है। इसमें प्लेटो ने बतलाया है कि सर्व-श्रेष्ठ शासन पद्धति जनतन्त्र तथा स्वेच्छाचारी राजतन्त्र का सम्मिश्रण है। परन्तु प्लेटो के इस वर्णन में विरोधाभास दोष पाया जाता है। अरस्तू के मतानुसार यह शासन पद्धति निकृष्ट है।

सम्पत्ति का सीमाकरण अथवा समानीकरण—"लॉज" में प्लेटो ने भूसम्पत्ति के समानीकरण तथा नागरिकों की समस्त सम्पत्ति के सीमाकरण का समर्थन किया है, परन्तु अरस्तू ने इन बातों को झगड़े का कारण बतलाया है और इस सिद्धान्त के विरुद्ध निम्नलिखित युक्तियाँ प्रेषित की हैं—

(१) जब तक कि जन-संख्या की वृद्धि का सीमाकरण नहीं किया जायगा तब तक यह योजना काल्पनिक ही रहेगी और कार्य रूप में परिणत न हो सकेगी। कुटुम्ब के व्यक्तियों की बिना किसी अनुपात में वृद्धि होने से सम्पत्ति का समानी करण असम्भव होगा।

(२) सम्पत्ति के समानीकरण करने की अपेक्षा उसकी मात्रा निश्चित करना अधिक अच्छा होगा क्योंकि सम्पत्ति इस प्रकार विभाजित की जाय कि न तो किसी को अधिक मिले जिससे वह विलासप्रिय हो जाय और न कम जिससे भूखों मरे और पेट भी न भर सके। (३) उच्च श्रेणी के लोग समानीकरण से कदापि सन्तुष्ट न होंगे, अन्य वर्गों की अपेक्षा अधिक सम्पत्ति चाहेंगे। (४) सम्पत्ति के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर अधिकार प्राप्त करने की अभिलाषा से भी आन्तरिक अथवा नागरिक दुर्व्यवस्था फैलेगी। कोई पद प्राप्ति की इच्छा करेंगे और कोई अन्य प्रकार से प्रतिष्ठा प्राप्त करने की इच्छा करेंगे। अतः केवल साम्पत्तिक समानीकरण ही राज्य में होने वाले अन्य प्रकार के अपराधों का अन्त नहीं कर सकता है। इसलिये अरस्तू का मत है कि सब प्रकार के दोष दूर करने के

लिये राज्य मे उचित तथा श्रेष्ठ शिक्षा की व्यवस्था करनी अत्यन्त आवश्यक है।

इसी स्तवक मे अरस्तू ने स्पार्टा, क्रीट, कार्थेज और ऐथिन्स के विधानो की तुलनात्मक आलोचना की है।

तृतीय स्तवक (Book III)

नागरिक—अरस्तू के मतानुसार नागरिक वे हैं जो न्याय सम्बन्धी कार्यों मे भाग ले सकते हैं और शासन सम्बन्धी कार्यों पर वाद-विवाद और विचार विमर्शण कर सकते हैं। अथवा न्यायालयो में न्याय सभ्य (Jurors) का कार्य कर सकते हैं। परन्तु वास्तव में साधारणतया नागरिक वह हैं जिसके माता पिता दोनो नागरिक हो। कुछ लोग ऐसे नागरिक होते हैं जिनको राज्य क्रान्ति के पश्चात् राजनैतिक अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति सच्चे नागरिक नहीं हैं। आदर्श नागरिक इन लोगो को नही कहा जा सकता। एक श्रेष्ठ नागरिक और श्रेष्ठ मनुष्य के गुणो में भेद है। उदाहरण के रूप मे यदि हम कहें कि एक अच्छा नाविक, इसका अभिप्राय है वह नाविक जो अपने कार्य में कुशल है अर्थात् उसमे एक नाविक के सम्पूर्ण गुण विद्यमान है। श्रेष्ठ नागरिक के गुणो का केवल उस राज्य के राजनैतिक गुणो मे अभिप्राय है जिसमें वह रहता है। उसके उस राज्य म अन्य लोगों के गुणो की अपेक्षा तुलनात्मक गुण होने आवश्यक हैं। एक आदर्श नागरिक मे एक अच्छे नेता के सम्पूर्ण गुण होने चाहिये। एक शासक म एक श्रेष्ठ मनुष्य के समस्त गुणो का होना आवश्यक है। प्रथम स्तवक म इस बात का वर्णन किया गया था कि शासक म समस्त नैतिक गुण होने चाहिये। वह गुणी तथा बुद्धिमान होना चाहिये। एक साधारण नागरिक का बुद्धिमान होना आवश्यक नही है परन्तु एक शासक को अवश्य बुद्धिमान होना चाहिये। अत एक शासक में एक अच्छे आदमी के समस्त गुण होने चाहिये।

प्रथम स्तवक म यह भी संकेत किया गया था कि शिल्पकारो म सद्गुण नही होते हैं। तो क्या इन्हें नागरिक मानना चाहिये? ये लोग कदापि शासक पदो के योग्य नही हो सकते परन्तु ये लोग विदेशी भी नही हैं। अत इनको किस श्रेणी म रखा जाय? वास्तव में यहा मनुष्यो के दास, मुक्तजन, बालक आदि अनेक ऐसे वर्ग हैं जिनके सदस्यो की गणना पूर्ण नागरिको म नही है। कुछ राज्यो में शिल्पी लोगो को नागरिकता के अधिकार प्राप्त हैं।

राज्य की एकरूपता—क्रान्ति के पश्चात् तथा अत्याचारी अथवा कुलीन तन्त्र के जनतन्त्र म परिवर्तन होजाने पर पूर्व शासको द्वारा किये हुए दायित्वो

का पालन करना नवीन शासकों को उचित है अथवा नहीं। अथवा यों कह सकते हैं कि एक शासन व्यवस्था के दूसरी में परिवर्तित हो जाने पर पहिले शासन द्वारा किये हुए अनुबन्धों का पालन दूसरे शासन को करना चाहिये अथवा नहीं। इनकी दो कसौटियाँ बताई गई हैं—

१ पहली यह कि जब तक राज्य क्षेत्र वही है तब तक राज्य भी एक ही रहता है।

२ दूसरी यह कि जब तक राज्य के निवासी उसी जाति के रहेंगे तब तक राज्य एक ही रहता। चाहे शासन पद्धति क्यों न बदल जाय।

राज्य के भेद—शासन पद्धतियों की विभिन्नता के अनुसार राज्यों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है —

सामान्य (Normal), विपर्यय (Perversion)

एक व्यक्ति द्वारा शासन राजतन्त्र (Monarchy), अत्याचार (Tyranny)

थोड़े से व्यक्तियों द्वारा शासन सुकुलीन तन्त्र (Aristocracy), कुकुलीनतन्त्र (Oligarchy)

बहुत से व्यक्तियों द्वारा शासन सुप्रजातन्त्र (Polity), कुप्रजा तन्त्र (Democracy)

अरस्तू का कथन है कि जब एक राजा अपने हित के स्वार्थ की अवहेलना करके प्रजा के हित को ध्यान में रख कर शासन करता है तो ऐसे राज्य को राजतन्त्र कहते हैं। यदि राजा प्रजा के हितों की अवहेलना करके अपने स्वार्थों की पूर्ति करता है और निज स्वार्थ के लिये प्रजा का शोषण करता है, ऐसे राज्य को अत्याचारी राज्य कहा जाता है।

जब थोड़े से व्यक्ति मिलकर प्रजा के हित को ध्यान में रख कर उसकी भलाई के लिये शासन करते हैं उसे सुकुलीन तन्त्र, और जब कुछ धनिक व्यक्ति मिलकर अपनी स्वार्थ सिद्धि करते हुए राज्य करते हैं और प्रजा का शोषण करते हैं, ऐसे राज्य को कुकुलीन तन्त्र कहते हैं। इसी प्रकार जब प्रजातन्त्र अथवा जनतन्त्र शासन में प्रजा के प्रतिनिधि प्रजा का शोषण करते हुए अपने स्वार्थों की पूर्ति करते हैं घूंस लेते हैं और अत्याचार करते हैं तो ऐसे राज्य को कुप्रजातन्त्र, और जब लोक हित को ध्यान में रखकर शासन करें तो सुप्रजातन्त्र राज्य कहलाता है।

स्तवक चतुर्थ तथा पंचम (Books IV and V)

इन स्तवकों में आदर्श राज्य तथा शिक्षा की विवेचना की गई है। अरस्तू के मतानुसार सर्व श्रेष्ठ जनतन्त्र वह है जिस में प्रजा का व्यक्तिगत अथवा

सामूहिक जीवन समान हो और अत्यधिक वाञ्छनीय हो। वही राज्य श्रेष्ठ है जिसमें प्रजा का सामूहिक अथवा व्यक्तिगत जीवन सद्गुण युक्त हो और इन सद्गुणो की उन्नति के साधन विद्यमान हो। सब प्रकार के सद्गुणो का प्रजा-जनो में उत्पन्न करना तथा आत्मिक और आध्यात्मिक उन्नति के साधनो का उत्पन्न करना ही श्रेष्ठ राज्य का कर्तव्य है।

आदर्श राज्य की वाह्य परिस्थितियो का वर्णन करते हुए अरस्तू कहता है कि सबसे महान राज्य वह नही है जिसमें सबसे अधिक व्यक्ति रहते हों, वल्कि सबसे महान् राज्य वह है जिसकी शासन प्रणाली सर्वोत्तम है। अतः सब से महान् राज्य के लिये यह आवश्यक नही है कि उसकी जन-सख्या सबसे अधिक हो। इसी प्रकार बहुत कम जनसख्या वाले राज्य को भी वह श्रेष्ठ राज्य नहीं समझता है। उसका कथन है कि राज्य का ठीक-ठीक विस्तार इस बात पर निर्भर रहना चाहिये कि शासन तथा न्याय की दृष्टि से प्रत्येक नागरिक एक दूसरे के आचरण से भली-भाँति परिचित हो। यदि ऐसा न होगा तो पदो का वितरण तथा न्याय सम्बन्धी निर्णय दोष-युक्त होगे। अत राज्य का विस्तार इतना होना चाहिये कि उस में इतनी पर्याप्त सख्या में लोग रहते हों कि वह राज्य पूर्णरूप से आत्म-निर्भर हो। वहाँ के निवासियो को किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये विदेशियों का मुँह न ताकना पडे। एक दूसरी बात यह भी आवश्यक है कि राज्य का विस्तार इतना होना चाहिये कि सरलता तथा शीघ्रता-पूर्वक वहा के लोग एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँच सकें और सूचना प्राप्त कर सकें और दे सके।

राज्य की भूमि ऐसी होनी चाहिये कि वहा के निवासी पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर हो और उसकी रक्षा सरलतापूर्वक हो सके। समुद्र के निकटवर्ती राज्यो को यह सुविधा होती है कि वहा समुद्र द्वारा अनेक देशो के नागरिक व्यापार भ्रमण आदि के लिये आते हैं। इससे यह लाभ होता है कि अपने देश की अधिक उत्पन्न वस्तु जो अपने देश-वासियो के प्रयोग मे बच जाती है उसे अन्य देशो को बेचा जा सकता है और जिन वस्तुओ की अपने देश में कमी होती है उनको दूसरे देशो से मगाया जा सकता है। इस प्रकार वस्तुओं का आदान-प्रदान होता रहता है, तथा नौका शक्ति राज्य की सुरक्षा में भी सहायक होती है। नगर की स्थिति ऐसी होनी चाहिये कि उस पर सरलता से आक्रमण न हो सके, तटावरोध (नाकाबन्दी) न हो सके। नगर मे राज्य के प्रत्येक भाग तक यातायात का सुगम साधन होना चाहिये। उसकी स्थिति ऐसी हो कि शीत-वायु से सुरक्षित हो और पीने योग्य जल की कमी न हो। नगर के चारो ओर परकोटा (सुरक्षा दीवार) बनाना आवश्यक है। प्रत्येक बात को

नगर की सुरक्षा ध्यान में रखकर वैज्ञानिक ढंग से निश्चित करना चाहिये।

नागरिकों का चरित्र—नागरिक साहस पूर्ण बुद्धिमान होने चाहिये। इस प्रकार यूनानियों की भांति उनमें एशिया-निवासी तथा यूरोप निवासियों के गुण होने चाहिये।

राज्य की अनिवार्य आवश्यकताएँ—खाद्यपदार्थ, भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तु, निर्माण सम्बन्धी कला-कौशल, अस्त्र-शस्त्र, धन, देवताओं का पूजन तथा न्याय-व्यवस्था राज्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है। अतः राज्य में कृषक, दस्तकार, सेना, धनीलोग, पुरोहित और न्यायाधीशों का होना अत्यन्त आवश्यक है।

कार्य विभाजन—अरस्तू का कथन है कि एक जनतन्त्र राज्य में राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को राज्य के प्रत्येक पद पर कार्य करने का अधिकार होता है। परन्तु एक कुलीनतन्त्र में राज्य के विशिष्ट समुदाय को ही राज्य के पदों पर कार्य करने का अधिकार होता है। किन्तु आदर्श राज्य का ध्येय है, "जनता को सब प्रकार का सुख देना, परन्तु "सुख" सद्गुण के बिना नहीं प्राप्त हो सकता। नागरिकों को यान्त्रिक जीवन व्यतीत नहीं करना चाहिये न व्यापारिक जीवन ही व्यतीत करना चाहिये क्योंकि ऐसा जीवन अधम है और सद्गुणी जीवन के प्रतिकूल है। नागरिकों को कृषक भी नहीं होना चाहिये क्योंकि कृषकों को सद्गुण प्राप्त करने अथवा राजनैतिक अध्ययन करने का अवकाश ही नहीं मिलता है।

यदि राज्य में कुछ ऐसे व्यक्ति विद्यमान है जिनका चरित्र अत्यन्त श्रेष्ठ है, जिनकी आत्मा शुद्ध है जिनके शरीर हृष्ट-पुष्ट है, जिनपर पद अथवा धन का कलुषित प्रभाव नहीं हो सकता है तो ऐसे वीरों को ही स्थायी रूप से शासन कार्य सौंप देना चाहिये अन्य व्यक्तियों को नहीं। केवल एक ही व्यक्ति शासक होने योग्य है और अन्य समस्त शासित। परन्तु वास्तव में ऐसे व्यक्ति मिलना दुर्लभ है जिनमे उपर्युक्त समस्त गुण हों। किसी में कोई गुण होगे और किसी में कोई। अतः यह अधिक श्रेष्ठ है कि युवावस्था में शासित और अधिक आयु होने पर शासक बनें। लोगों को यदि इस प्रकार पहिले सेवा कार्य करना और फिर शासन करना सिखाया जायगा तो वे छोटे कार्य करने से घृणा नहीं करेंगे, क्योंकि वह यह समझेंगे कि छोटे कार्य कराने में उन्हें शासन करने की शिक्षा दी जा रही है।

वास्तव में नागरिकों को राज्य के न्याय सम्बन्धी, सैनिक सम्बन्धी तथा ईश्वर पूजा सम्बन्धी कार्य करने चाहिये। समस्त नागरिकों को इनमें से प्रत्येक कार्य करने का अवसर मिलना चाहिये। जब वे युवक हों तब उनसे

सैनिकों का कार्य लेना चाहिये और जब अधिक आयु होने पर वे बुद्धिमान हो जायें तब उन्हें विधान सभाओं तथा न्याय सम्बन्धी कार्यों में भाग लेना चाहिये। और जब अधिक वृद्ध हो जायें और इन कार्यों के करने योग्य न रहें तब उन्हें ईश्वर पूजा सम्बन्धी अथवा पुरोहित का कार्य करना चाहिये। वही लोग सच्चे नागरिक हैं जो इन समस्त कार्यों को करते हैं। ऐसे ही लोगों का भूसम्पत्ति पर अधिकार होना चाहिये क्योंकि नागरिकता के लिये धन की समृद्धि की आवश्यकता है। यद्यपि कृषक, शिल्पकार, व्यापारी आदि भी राज्य के लिये अनिवार्य हैं तथापि वे नागरिक नहीं कहला सकते क्योंकि उन में सद्‌गुणों का ह्रास होता है। सद्‌गुणों के बिना सुख प्राप्ति असम्भव है और राज्य का ध्येय प्रजाजनों को सब प्रकार की सुख प्राप्ति कराना है। वर्ण व्यवस्था तथा सबका मिलकर एक स्थान पर भोजन करने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन है। मिस्र तथा क्रीट में भी यह प्रथा प्राचीनकाल में प्रचलित थी। सबका मिलकर भोजन करने की प्रथा बड़ी लाभदायक है। ऐसी भोजन व्यवस्था का प्रबन्ध राज्य द्वारा अर्थात् राज्य कोष से होना चाहिये क्योंकि निर्धन लोग इस कार्य के लिये धन नहीं दे सकते हैं। ईश्वर की पूजा के लिये भी राज्य के कोष से ही धन व्यय करना चाहिये। इस प्रकार के व्यय के लिये आधी भूसम्पत्ति पर राज्य का अधिकार होना चाहिये, जिसकी आय से इस प्रकार के समस्त कार्य किये जायें। प्रत्येक नागरिक की आधी निजी भूसम्पत्ति नगर के भीतर और आधी नगर की सीमा पर होनी चाहिये जिससे आस-पास के राज्य से युद्ध के समय में नागरिकों के व्यक्तिगत निजी हितों में विरोध उत्पन्न न हो। सभी नागरिकों को समान हानि तथा समान लाभ की सम्भावना रहे। कृषक दास होने चाहिये अथवा ऐसे हों जो यूनानी न हों और दास जातियों के हों।

राज्य के उद्देश्य की प्राप्ति की सफलता दो बातों पर निर्भर है, एक तो कार्य के उद्देश्य को ठीक-ठीक दृष्टि में रखना, दूसरा उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उचित साधनों को ढूंढना और प्रयोग करना।

एक सुव्यवस्थित राज्य में राज्य का ध्येय सुख की प्राप्ति है। सुख की प्राप्ति पूर्णरूप से धार्मिक (सद्‌गुणी) जीवन व्यतीत करने से होती है और नैतिक व्यवहार से भी सुख प्राप्त होता है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को सच्चरित्र होना चाहिये। साधन के सम्बन्ध में इतना कहना पर्याप्त होगा कि सुख प्राप्ति के बाह्य साधन नहीं हैं। साधन वास्तव में आन्तरिक हैं जिनका आधार मनुष्य का सद्‌गुण तथा उसकी सच्चरित्रता है। एक धार्मिक अथवा सद्‌गुणी मनुष्य अपनी दीनता, रुग्णावस्था अथवा अन्य किसी दोष का सदुपयोग ही

करेगा उसका दुरुपयोग कदापि न करेगा। राज्य का कल्याण मनुष्यों के सद्‌गुणों, स्वभाव तथा विवेक पर निर्भर है। परन्तु मनुष्य के स्वभाव को विवेक बदल सकता है। अतः इन बातों की शिक्षा देने के लिये अच्छी शिक्षा की आवश्यकता है।

शिक्षा का उद्देश्य—जब तक राज्य में दो प्रकार के नागरिकों के रहने की व्यवस्था हो, एक तो वे जो स्थायी रूप से शासक हैं और दूसरे वे जो स्थायी रूप से शासित हों—तो ऐसी परिस्थिति में उनकी शिक्षा पद्धति की व्यवस्था भी भिन्न भिन्न प्रकार की होगी। परन्तु यदि एक ही नागरिक भिन्न-भिन्न समय में शासित और शासक बनेगा तो शिक्षा पद्धति समान ही होगी। अतः शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित कर लेना चाहिये कि जिससे प्रमुख उद्देश्य की प्राप्ति के लिये प्रमुख शिक्षा की व्यवस्था की जाय। शिक्षा पद्धति निर्धारित करने से पूर्व शिक्षा द्वारा प्राप्त करने वाले उद्देश्य को पूर्णरूप से समझ लेना और निश्चित कर लेना चाहिये, जिससे राज्य के नागरिकों को श्रेष्ठ तथा सुखमय जीवन व्यतीत करने में सहायता मिले।

मनुष्य की आत्मा को अरस्तू ने दो भागों में विभाजित बतलाया है, एक विवेक युक्त दूसरा अविवेकी। उसका कथन है कि अविवेकी भाग विवेकी भाग का आज्ञाकारी होता है। उसने विवेक को भी दो भागों में विभाजित किया है, एक व्यावहारिक दूसरा काल्पनिक। दोनों प्रकार के विवेक की उन्नति करना मनुष्य का कर्त्तव्य है, परन्तु अन्तिम दशा में व्यावहारिक विवेक अधिक श्रेष्ठ है। इसी प्रकार उसने मनुष्य के जीवन कृत्यों को भी दो भागों में विभाजित किया है। एक नैतिक अथवा वाञ्छनीय और दूसरे कल्याणकारी तथा अत्यावश्यक। दूसरी प्रकार के कार्य पहिली प्रकार के कार्यों की पूर्ति के साधन मात्र बताये गये हैं।

कार्य तथा युद्ध भी अत्यावश्यक हैं ये शान्ति तथा अवकाश की प्राप्ति के साधन हैं। अतः मनुष्य में कार्य-कौशल और युद्ध-कौशल होना आवश्यक है परन्तु इससे भी अधिक मनुष्य में शान्ति तथा अवसर के सदुपयोग करने की योग्यता का होना आवश्यक है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति ही शिक्षा का ध्येय होना चाहिये। बालकों को ऐसी शिक्षा दी जाय कि जिससे उन्हें उपर्युक्त उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायता मिले।

सैनिक शिक्षा का उद्देश्य—सैनिक शिक्षा निम्नलिखित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये देनी चाहिये —

(१) बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा के लिये।

(२) दूसरों के हित के लिये उन पर शासन करने के लिये।

(३) जो वास्तव मे दास रहने योग्य है उन पर स्वेच्छाचारी शासन करने के लिये।

जो राज्य केवल सग्रामिक (युद्ध सम्बन्धी) सफलता प्राप्त करने के लिये अपनी सैनिक शक्ति का सगठन करते है उन राज्यो का साम्राज्य स्थापित करने के पश्चात् शीघ्र ही पतन हो जाता है। इसका उदाहरण अरस्तू ने फौलाद से दिया है। वह कहता है उनकी दशा "फौलाद (के हथियारो) के समान है जिनकी शान्ति के समय आब जाती रहती है"।[1] इसके दोषी विधान निर्माता हैं जो उन को ऐसी शिक्षा की व्यवस्था नही करते कि उन्हे अपने शान्ति के समय को किस प्रकार व्यतीत करना चाहिये। अत शिक्षा का यह उद्देश्य होना चाहिये कि बालको में सद्गुण उत्पन्न किये जायँ और ऐसे सद्गुणो का उनमे सचार किया जाय कि वे अपने अवकाश तथा शान्ति के समय का सदुपयोग कर सकें। बालको को ऐसी शिक्षा दी जाय कि वे युद्ध अथवा शान्ति के समय उचित कार्य कर सकें। वीरता तथा सहनशक्ति, बौद्धिक उन्नति, सयम, न्याय आदि सद्गुणो का सचार करने वाली शिक्षा देना अत्यन्त आवश्यक है। शारीरिक उन्नति पर आरम्भ मे ध्यान दिया जाय, फिर आत्मिक तथा आध्यात्मिक उन्नति पर, क्योकि आत्मिक तथा आध्यात्मिक उन्नति शारीरिक उन्नति पर ही निर्भर है।

विवाह—शिक्षा का विवाह से घनिष्ट सम्बन्ध है। शिक्षा व्यवस्था के लिये विवाह सम्बन्ध पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। इसका शिक्षा पर बडा प्रभाव पडता है। विवाह न तो अधिक छोटी आयु मे करना चाहिये न अधिक बडी म। विवाह के समय स्त्री की आयु लगभग १८ वर्ष तथा पुरुष की लगभग ३७ वर्ष होनी चाहिये। स्त्री पुरुष का स्वास्थ्य विवाह के समय अच्छा होना चाहिये परन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि वह पहलवान हो। सन्तान अधिक उत्पन्न न की जाय, उनकी सख्या सीमित होनी चाहिये और लँगडे लूले बालको का पालन पोषण वर्जित होना चाहिये। पर-स्त्री अथवा पर-पुरुष गमन निन्दनीय तथा विधान की दृष्टि से दण्डनीय होना चाहिये।

शैशव तथा छोटे बालकों की शिक्षा—शैशव काल म दूध ही विशेष भोजन देना चाहिये। मदिरा बिल्कुल नही देनी चाहिये। इस अवस्था मे हाथ पैर तथा फेफडों को व्यायाम देना आवश्यक है। शारीरिक उन्नति के लिये इन अवयवो का व्यायाम अत्यन्त आवश्यक है। शारीरिक उन्नति के लिय बच्चो को शीत तथा अन्य प्रकार की कठिनाइयो का अभ्यास कराना।

1 एच. पी. फैरल–इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल फिलॉसफी, पृष्ठ ७५

भी आवश्यक है। पांच वर्ष की आयु तक लिखने पढ़ने पर जोर नहीं देना चाहिये। केवल शारीरिक तथा अनुरूपी व्यायाम करने के लिये प्रोत्साहन देना चाहिये। जो कथा कहानियाँ बच्चों को सुनाई जायें उन्हें ध्यान पूर्वक चुनना चाहिये जिससे उनके चरित्र निर्माण पर दूषित प्रभाव न पड़े। इन कथा कहानियों में किसी प्रकार की अशिष्ट बातों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। उन्हें दासों की संगति में अधिक नहीं रहने देना चाहिये। ५ से ७ वर्ष की आयु तक उन्हें ऐसे वायुमण्डल में रखना चाहिये कि जिस में रहकर उन्हें ऐसे पाठों के निरीक्षण करने का अवसर मिले जिनको वे आगे चलकर सीखेंगे। शिक्षा की दृष्टि से बालक की आयु दो भागों में विभाजित करनी चाहिये, एक बचपन से १६ वर्ष तक दूसरी १६ वर्ष से २१ वर्ष तक।

शिक्षा व्यवस्था—शिक्षा व्यवस्था राज्य द्वारा होनी चाहिये। यह कार्य सार्वजनिक संस्थाओं को नहीं सौंपना चाहिये क्योंकि—

(१) शिक्षा व्यवस्था राज्य में समान होनी चाहिये। राज्य को जैसी शिक्षा दिलवानी हो उसी के अनुसार विधान बनाकर वैसी ही शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिये। इसका उद्देश्य है एक रूपता स्थापित करना तथा राज्य के ध्येय की पूर्ति।

(२) क्योंकि राज्य का ध्येय एक है इसलिये शिक्षा भी सब के लिये समान होनी चाहिये और शिक्षा साधारण व्यक्तियों की स्वेच्छा पर नहीं छोड़ देना चाहिये।

(३) नागरिक अपनी इच्छा के स्वामी नहीं हैं। वे स्वतन्त्र नहीं हैं। वे राज्य के अधीन तथा राज्य की वस्तु हैं अतः उनको राज्य द्वारा दी हुई शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये।

पाठ्य क्रम—लिखना-पढ़ना, शारीरिक व्यायाम संगीत तथा चित्रकला ये चार विषय ऐसे हैं जिन्हें पाठ्यक्रम में रखना आवश्यक है। इन विषयों की शिक्षा अवश्य देनी चाहिये। यही चार विषय अन्य आवश्यक विषयों के आधार हैं।

लिखन-पढ़न तथा चित्रकला से बालकों के सामान्य ज्ञान की वृद्धि होती है। लिखना पढ़ना उन्हें भिन्न भिन्न विषयों के पढ़न और सीखन में सहायक होता है। चित्रकला उन्हें वैज्ञानिक निरीक्षण तथा वैज्ञानिक अध्ययन में सहायक होती है।

शारीरिक व्यायाम का उद्देश्य बालकों के स्वास्थ्य को अच्छा करना, उन्हे वीर बनाना है। अत्यधिक व्यायाम नहीं करना चाहिये क्योंकि व्यायाम का ध्येय पाशविक शक्ति को प्राप्त करना नहीं है अपितु बालकों को वीर बनाना

है। मानसिक अथवा बौद्धिक उन्नति से पहले शारीरिक उन्नति करना आवश्यक है। लगभग १६ वर्ष की आयु तक साधारण व्यायाम कराना आवश्यक है क्योंकि अधिक व्यायाम वृद्धि तथा शारीरिक विकास का निरोध करता है। इसके तीन वर्ष पश्चात् अर्थात् लगभग १६ वर्ष की आयु मे मानसिक तथा बौद्धिक विकास की ओर ध्यान देना चाहिये और अध्ययन की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। इसके पश्चात् अधिक शिक्षण तथा भोजन की ओर ध्यान देना चाहिये।

सगीत अत्यत आवश्यक अथवा अनिवार्य विषय नही है और न अत्यन्त उपयोगी ही है। इसको सिखाने का उद्देश्य केवल अवकाश का सदुपयोग करना है। इस कला को जानने वाला व्यक्ति अपने अवकाश को भली प्रकार काम मे ला सकता है। सगीत बालको को नैतिक अनुशासन की शिक्षा देता है और विशेष विशेष मानसिक भावो (प्रेम, विनय, क्रोध, शोक, वीभत्स आदि रसो) का ज्ञान प्राप्त कराता है। सगीत हृदय पर प्रभाव डालता है। अत इसका सिखाना भी आवश्यक है। बालको को गाना बजाना सिखाना चाहिये क्योंकि यह एक ऐसी विद्या है जो उन्हे सलग्न रख सकती है। इसको जीविका उपार्जन करने के लिये नही सिखाना चाहिये क्योंकि एक स्वतत्र व्यक्ति के लिये यह कार्य उचित नही है।

स्तवक ६ व ७ (Books VI & VII)

इन स्तवको में अरस्तू ने वास्तविक राज्यपद्धतियो के विषय में वर्णन किया है। उसका कथन है कि "केवल यही जानना पर्याप्त नही है कि कौन सी आदर्श राज्य-पद्धति है बल्कि यह जानना भी आवश्यक है कि ऐसी कौन सी राज्य-पद्धतियाँ है जो भिन्न-भिन्न देशो की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार ठीक है।" जिन ६ राज्यपद्धतियो का वर्णन किया जा चुका है उनमें राजतत्र तथा सुकुलीनतत्र का विशेष रूप से वर्णन हो चुका है। ये सर्व श्रेष्ठ राज्यपद्धति है। अन्य चार पद्धतियो (सुप्रजातंत्र, कुप्रजातत्र, कुकुलीनतत्र तथा स्वेच्छाचारी शासनो) के विषय में *यहाँ विचार किया जायगा।* राज्य पद्धतियो के दूषित रूपो में स्वेच्छाचारी (अत्याचारी) शासन-पद्धति निकृष्ट तथा कुप्रजातत्र (Democracy) दूषित राज्य पद्धतियों में सबसे अच्छी है। अत अब इस विषय पर विचार करना आवश्यक है कि—

१—कुकुलीनतत्र तथा कुप्रजातत्र के कौन-कौन से रूप हैं?

२—मधिवतर (राज्यों के लिये सर्व श्रेष्ठ शासन पद्धति कौनसी है?

३—किसी विशेष जाति के लिये कौनसी विशिष्ट शासन प्रणाली उचित है?

४—विशिष्ट राज्य पद्धतियों के लिये कौन कौन विषय तथा परिचालनकारी अभिकर्ता (Agencies) हैं ?

कुलीनतंत्रों(Oligarchies) अथवा कुप्रजातंत्रों (Democracies) में राज्यों का वर्गीकरण—प्रत्येक राज्य में जाति, चरित्र, सम्पत्ति आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न वर्गों के लोग रहते हैं। राज्य पद्धति की यथार्थ ज्ञान करने के लिये इस बात को जानना आवश्यक है कि राज्य के पदों पर इन भिन्न-भिन्न वर्गों में से कौन से वर्ग के लोग कार्य करते हैं? अर्थात् राज्य की बागडोर इनमें से कौन से वर्ग के हाथ में है—

प्रत्येक राज्य में निम्न वर्ग के लोग पाये जाते हैं—

१—कृषक
२—यन्त्री तथा शिल्पकार
३—व्यापारी
४—श्रमिक
५—सैनिक
६—धनी
७—राज्य के अधिकारी वर्ग
८—विधान निर्माता
९—न्याय वर्ग

कभी कभी ऐसा होता है कि उपर्युक्त समस्त कार्य एक ही वर्ग के लोगों द्वारा होते हुए देखे जाते हैं। एक ही वर्ग के लोग सैनिक, शिल्पकार, कृषक, विधाननिर्माता, न्याय-कर्त्ता आदि का कार्य करते हुए दिखाई देते हैं। कभी-कभी यह देखा जाता है कि उपर्युक्त समस्त वर्गों के लोग अपने आपको समस्त कार्यों के करने योग्य अनुभव करते हैं। परन्तु यह विचार मिथ्या है। एक ही व्यक्ति को एक ही समय में "धनी" तथा "दरिद्र" दोनों संज्ञाएँ नहीं दी सकती। बहुधा यह देखा गया है कि देश में दो विशिष्ट वर्ग के ही लोग होते हैं। एक धनी, दूसरे निर्धन। इस वर्गीकरण के आधार पर राज्यों का रूप दो प्रकार का हो सकता है। एक कुलीन अथवा धनिक तंत्र (Oligarchy) दूसरा कुप्रजातंत्र (Democracy)। जिस राज्य में धनवानों के हाथ में राज्य की बागडोर होती है वह राज्य कुलीनतंत्र कहलाता है और जिस राज्य में निर्धनों के हाथ में राज्य की बागडोर होती है वह कुप्रजातंत्र (Democracy) कहलाता है।

कुप्रजातंत्र (Democracy) के लक्षण—अरस्तू के अनुसार कुप्रजातंत्र का लक्षण है स्वतन्त्रता, जैसे कुकुलीनतंत्र का लक्षण सम्पत्ति और सुकुली-

तंत्र का लक्षण सद्गुण है। स्वतंत्रता के दो रूप हैं, (१) मनचाहा कार्य करने का अधिकार, और (२) किसी से शासित न होना और यदि शासित होना पड़े तो शासन करने का अधिकार होना। कुप्रजातंत्र में न्याय का रूप वह है जिसमें सब व्यक्तियों को पूरी तरह से समान समझा जाय। इस समानता में व्यक्तियों की योग्यता को कोई स्थान नहीं दिया जाता। सब समान समझे जाते हैं और बहुसंख्यक व्यक्तियों की इच्छा ही सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। कोई भी राज्य हो प्रायः उसमें निर्धनों की संख्या अधिक होती है इसलिये संख्या के आधार पर स्वतंत्रता की दुहाई देने वाले कुप्रजातंत्र में निर्धनों का शासन होता है। शासन शक्ति उन्हीं के हाथों में रहती है।

कुप्रजातंत्र के भेद—अरस्तू कुप्रजातंत्र के भेद इस आधार पर करता है कि विधान सर्वोच्च है या नहीं और राज्य पदों को पाने के लिये सब नागरिक योग्य समझे जाते हैं या नहीं। (१) सबसे उत्तम कुप्रजातंत्र वह है जिसमें विधान सर्वोच्च समझा जाता है और राज्यधिकारियों का चुनाव मतदान द्वारा किया जाता है। मतदान द्वारा वे ही लोग चुने जायेंगे जो सबसे योग्य होंगे और उच्च वर्गों के लोगों को यह शिकायत न होगी कि निम्न व्यक्ति उन पर शासन करते हैं। अधिकारी भी उस प्रकार चुने जाने पर अपने उत्तरदायित्व के प्रति सजग रहेंगे। जहां शासनाधिकारी चिट्ठी द्वारा चुने जाते हैं वहां यह निश्चय नहीं कि योग्य व्यक्ति ही अधिकारी बनेंगे। अरस्तू के अनुसार सब से उत्तम कुप्रजातंत्र कृषि प्रधान देश में होता है। वहां के निवासियों को सभाओं में आने के लिये समय और स्वतंत्रता कम रहती है इसलिये विधान के अनुसार ही शासन चलता है। राज्य पदों पर वे ही लोग काम करते हैं जिनके पास कुछ सम्पत्ति होती है। (२) कुप्रजातंत्र का दूसरा रूप वह है जहां शासक बनने के सब अधिकारी होते हैं, यदि जनमत उनके इस अधिकार पर कोई आपत्ति न करे। इसमें व्यक्ति अधिकतर व्यापारी या कारीगर होते हैं और कृषकों की अपेक्षा सद्गुण सम्पन्न नहीं होते। ये लोग नगर सभाओं में भाग लेने को बड़े उत्सुक रहते हैं। (३) तीसरे प्रकार के कुप्रजातंत्र में सब व्यक्तियों को शासक बनने का अधिकार रहता है और विधान के अनुकूल ही शासन होता है। यद्यपि सभी नागरिक शासक बन सकते हैं किन्तु सब को यह सुविधा नहीं रहती कि शासक का काम कर सकें इसलिये योग्य व्यक्ति ही शासक बन सकते हैं। (४) किन्तु चौथे प्रकार के कुप्रजातंत्र में सभी नागरिक इस योग्य होते हैं कि शासक बन सकें। इसका फल यह होता है कि बहुसंख्यक भीड़ ही सर्वोच्च बन जाती है और विधान का उल्लंघन करती रहती है। उस भीड़ में से ही ऐसे व्यक्ति

उत्पन्न हो जाते हैं जो भीड़ को प्रसन्न रखने का अधिक प्रयत्न करते हैं, शासन को विधानों के अनुसार उत्तमता से चलाना, न्याय की उन्नति करना और समाज की प्रगति उनका ध्येय नहीं होता। वे सारी शासन शक्ति जन-समूह के हाथों में ही स्थित समझ कर इस जन समूह को फुसलाकर मनचाहा निर्णय करा लेते हैं। ये नेता लोग नागरिक अधिकार अधिक से अधिक मनुष्यों को दिलाने का प्रयत्न करते हैं जिससे इनके समर्थकों की संख्या बढ़े। ऐसे प्रजातंत्र को अरस्तू वैधानिक शासन नहीं समझता क्योंकि इसमें विधान सर्वोच्च नहीं रहता।

अरस्तू के विचार में कुप्रजातंत्र (डेमोक्रेसी) को भय इस बात का रहता है कि शक्ति निर्धनों के हाथ में रहने के कारण धनी नागरिकों की सम्पत्ति हड़पने की प्रवृत्ति शासकों में सदा बनी रहती है जिससे सम्पत्ति शाली वर्ग शासकों का समर्थक नहीं रहता, वरन् शासन का विरोधी हो जाता है। अरस्तू ने कुप्रजातंत्र की रक्षा के लिये जो उपाय भी बतलाये हैं वे सम्पत्ति से सम्बन्ध रखते हैं। उसके विचार से जो लोग झूठे अभियोग लगावें उनको कड़ा दण्ड दिया जाय। जुर्माने के रूप में जो धन प्राप्त हो उसे राज्यकोष में जमा न कर देव पूजा के लिये अर्पण कर दिया जाय। ऐसा करने से धनिकों को फसा कर उनकी सम्पत्ति हरने की उत्सुकता कम होगी क्योंकि अभियोग लगाने वालों को ऐसा करने से कोई लाभ न होगा। जिस कुप्रजातंत्र मे राजस्व की मात्रा कम हो और वहां यदि विधान सभा तथा न्यायालयों में उपस्थित होने के लिये लोगों को भत्ता देने की प्रथा हो तो सभा व न्यायालय की कम से कम बैठक की जानी चाहिये। अगर ऐसा न होगा तो राज्य का खर्च चलाने के लिये धनिकों की सम्पत्ति पर भारी करों के रूप में हाथ डालना पड़ेगा। अरस्तू के अनुसार अनेकों कुप्रजातंत्र इसीलिये हो गये क्योंकि उनमें सम्पत्ति हरण, अन्याय और भारी करों का दौर-दौरा रहा। अरस्तू का यह भी कहना है कि कुप्रजातंत्र म राज्य का यह कर्तव्य होना चाहिये कि राज्य की आय व्यय से अधिक हो तो वह निर्धनों को इस रूप में दी जाय जिससे वे किसी प्रकार का व्यवसाय आरम्भ कर अपनी जीविका उपार्जन करने के योग्य हो जायें।

कुलीनतंत्र—कुलीनतंत्र को अरस्तू सब से उत्तम राज्य समझता था। ऐसे राज्य में शासकों की संख्या में वे लोग होते हैं जिनके पास सम्पत्ति होती है। सम्पत्तिशाली व्यक्ति स्वभावतया यह चाहते हैं कि कानून सर्वोच्च माना जाय। उनको ऐसा ही मानने मे सुविधा भी रहती है क्योंकि उन्हें अपनी निजी सम्पत्ति की देख भाल से अवकाश ही नहीं मिलता और वे

प्रत्येक नई समस्या पर नये दृष्टिकोण से विचार करने का समय नहीं निकाल सकते। कुलीनतंत्र के कई भेद भी किये हैं —

(१) जहाँ राज्यपदों पर आसीन होने के लिये सम्पत्ति-स्वामित्व का होना आवश्यक हो। सम्पत्ति इतनी ही पर्याप्त मानी जाती है जिससे बहुसंख्यक जनता शासक न बन सके।

(२) शासकों की योग्यता के लिये जब सम्पत्ति की मात्रा अधिक बढ़ा दी जाती है तब शासकों की संख्या कम हो जाती है, तब दूसरे प्रकार का कुलीनतंत्र का जन्म होता है। इसमें शासक अधिक से अधिक शक्ति अपने हाथ में करने का प्रयत्न करते हैं वे कानून का उल्लंघन तो नहीं करते किन्तु उसे अपने अनुकूल बना लेते हैं।

(३) जब सम्पत्ति स्वामित्व की योग्यता और अधिक ऊँची कर दी जाती है तब तीसरे प्रकार के कुलीनतंत्र का जन्म होता है। और ऐसे राज्य में शासकों की संख्या बहुत कम होती है और राज्यपद वंशागत बन जाते हैं। ऐसे राज्य में कानून सर्वोच्च नहीं रहता। सारी शासन शक्ति एक व्यक्ति में केन्द्रित हो जाती है। ऐसा कुलीनतंत्र अरस्तू के विचार से सबसे बुरा है।

अरस्तू ने कहा है कि कुलीनतंत्र की रक्षा के लिये यह आवश्यक है कि राज्य में सुव्यवस्था और शान्ति बनी रहे। कुलीन लोग ही शासन के व्यय का अधिकांश भार अपने ऊपर रखें जिससे बहुसंख्यक निर्धन उनसे डाह न करें।

सुप्रजातंत्र (पॉलिटी)—कुलीनजनतंत्र तथा कुप्रजातंत्र के मिश्रण से सुप्रजातंत्र बन सकता है। जो राज्य आदर्श राज्य नहीं है या जो वाह्यस्थिति के कारण आदर्श राज्य नहीं बन सकते उनमें सुप्रजातंत्र तभी स्थापित हो सकता है जब वहाँ मध्यश्रेणी के नागरिकों की संख्या अधिक हो और वे इतने शक्तिशाली हों कि शासन को चला सकें। मध्यश्रेणी के लोगों में धनिकों का अभिमान नहीं होता और निर्धनों का लालच व अविवेक नहीं होता। सुप्रजातंत्र में निर्धनों को सभाओं व न्यायालयों में आने के लिये धन का प्रलोभन देना चाहिये और धनी वर्ग पर अनुपस्थिति रहने के अपराध में जुर्माना करना चाहिये।

सुप्रजातंत्र की रक्षा के उपाय—अरस्तू ने सुप्रजातंत्र की रक्षा के लिये कुछ उपायों के सुझाव दिये हैं। जिस प्रजातंत्र में शासकों व शासितों का अच्छा मेल प्राप्त कर लिया गया हो वहाँ यह सदा ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि ऐसे अन्याय युक्त कार्य शासन की ओर से न किये जायें जिनसे असंतोष की आग भड़के। न ऐसा ही कोई कार्य होना चाहिये जिससे बहुसंख्यकों को

यह प्रतीत हो कि उन पर अनुचित प्रभाव डाल कर छला जा रहा है। उत्कर्ष में पारस्परिक स्पर्धा और संघर्ष भी घातक सिद्ध होता देखा गया है। यह भी आवश्यक है कि किसी एक व्यक्ति के हाथ में आवश्यकता से अधिक शक्ति केन्द्रित न होने पाये। इनके अतिरिक्त मुख्य बात यह है कि शासन का ढंग और कानूनों की व्यवस्था ऐसी सुस्थिर होना चाहिये कि शासन के अधिकारियों को ऐसा अवसर न मिले कि वे स्वार्थ की वेदी पर जनहित का बलिदान कर दें। सब से बड़ी बात तो यह होनी चाहिये कि नागरिकों को सुप्रजातन्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों व भावनाओं का आदर करने की शिक्षा दी जाये जिससे शासन में बड़ी सुविधा होगी। सुप्रजातन्त्र के हित में यह भी आवश्यक है कि ऐसे कोई कार्य न किये जायें जिनसे मध्यम मार्ग को छोड़ कर एक ओर कुलीनतन्त्र, दूसरी ओर कुप्रजातन्त्र को बढ़ावा मिले।

उत्पीडकों के सम्बन्ध में अरस्तू के विचार—अरस्तू के लिये जहां जनता अपनी इच्छा से एक व्यक्ति के शासन में रहना पसन्द करे और वह व्यक्ति वैधानिकरूप से शासन करने को तैयार हो उसे राजतन्त्र कहते हैं। किन्तु जहां एक व्यक्ति जनहित के लिये नहीं किन्तु अपने निजी सुख वैभव के लिये शासन करता है वहां उत्पीडकतन्त्र की स्थापना समझनी चाहिये। अरस्तू का कहना है कि उत्पीडक अपनी सत्ता को निम्न प्रकार से बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं।

(१) वह जनता में पारस्परिक फूट व अविश्वास की भावना को प्रोत्साहन देता है। विभिन्न वर्गों में स्पर्धा जगा कर उन्हें निर्बल बनाने का प्रयत्न किया जाता है।

(२) दूतों व भेदियों का बहुतायत में प्रयोग कर जनता में भय और आतंक की भावना फैलाना।

(३) प्रजा को भारी करों द्वारा निराश्रय और विकल रखना।

(४) अन्य देशों पर आक्रमण कर प्रजा का ध्यान शासन की बुराइयों से हटा कर युद्ध के काम में लगा देना।

(५) प्रजा के सम्मुख अपने आपको अत्यंत सच्चरित्र, उदार हृदय और सहानुभूति पूर्ण प्रकट करना।

राज्य का आन्तरिक प्रबन्ध—राज्य के भीतर विमर्श करनेवाला अङ्ग युद्ध व सन्धि का निर्णय करता है, कानून बनाता है, मृत्यु दण्ड देता है सम्पत्ति जब्त करता है। यही अङ्ग विभिन्न अधिकारियों को चुनता है, और ये अधिकारी इसी अङ्ग के उत्तरदायी होते हैं। दूसरा अङ्ग विमर्श व निर्णय तो किसी सीमा तक करता है किन्तु उसका मुख्य कर्तव्य होता है आदेश

निर्मुक्ति कुछ ही नागरिकों द्वारा होती है उसे कुलजानन कहते हैं । कुलीन तंत्र में सब नागरिक राज्यपदों पर काम करने के योग्य नहीं समझे जाते और न सब को यह अधिकार होता है कि वे राज्य पदाधिकारियों को चुनें । कुलीन तंत्र में विशिष्ट वर्गों के व्यक्ति ही कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को राज्य-कार्य भार सौंप देते हैं ।

न्याय—अरस्तू ने न्यायालयों की जो सूची बनाई उससे प्रतीत होता है कि उसके विचार से सरकारी कर्मचारी तथा सामान्य नागरिक एक ही कानून के अन्तर्गत नहीं आते । सामान्य नागरिक से भिन्न सरकारी कर्मचारियों के अपराधों पर विचार करने के लिये प्रशासकीय न्यायालयों की व्यवस्था आवश्यक समझी गई । यह प्रथा यूरोप के विभिन्न राज्यों में अब भी प्रचलित है किन्तु इंगलैंड में ऐसा नहीं होता । वहाँ सामान्य नागरिक व सरकारी कर्मचारी एक ही कानून के अन्तर्गत सार्वजनिक न्यायालयों में न्याय प्राप्त करते हैं ।

स्तवक (VIII Book)

राज्य क्रांतियां

अरस्तू को तत्कालीन यूनानी राज्यों में जो उथल पुथल हुआ करती थी उन्होंने बहुत प्रभावित किया प्रतीत होता है । तभी उसने राज्य क्रांतियों के विभिन्न कारणों का, उन वर्गों का जो इन क्रांतियों का सूत्रपात करते थे, क्रांतियों के विभिन्न रूप तथा विभिन्न प्रकार की राज्य व्यवस्थाओं में क्रांति की सम्भावना का निराकरण कर स्थिरता लाने के उपायों का वर्णन किया है ।

राज्यक्रांति के विभिन्न कारण—क्रांति के सामान्य कारणों में प्रमुख कारण समानता की चाह है । कुछ व्यक्ति जिन्हें जनतन्त्रवादी कह सकते हैं ये चाहते हैं कि मनुष्य एक दूसरे के समान हैं, इसलिये उन्हें प्रत्येक बात में समान ही समझना चाहिये और उन्हें वैसी ही सुविधायें मिलनी चाहिये । दूसरे व्यक्तियों का यह विचार रहता है कि यदि कुछ व्यक्ति किन्हीं बातों में अन्य व्यक्तियों से श्रेष्ठ हैं तो वे सब तरह से श्रेष्ठतर समझे जाने चाहिये और उन्हें उसी आधार पर अधिक अधिकार मिलने चाहिये । प्रायः क्रांति तभी होती है जब योग्यता व शक्ति या अधिकार का मेल नहीं होता । जब अयोग्य व्यक्तियों के हाथ में शासन-शक्ति होती है तब शक्ति-हीन योग्य वर्ग शासन शक्ति को छीनने का प्रयत्न किया करता है । असमानता ही राज्यक्रांति का मूल कारण है । किन्तु समानता के सम्बन्ध में लोगों के विभिन्न विचार हैं और इन्हीं विचारों के आधार पर अपने पक्ष को न्यायपूर्ण बतलाकर विभिन्न वर्ग क्रान्ति के लिये अग्रसर होते हैं । जिस राज्य में जितनी ही समानता की

भावना होगी वह उतना ही दृढ और स्थिर होगा। कुकुलीनतंत्र और कुप्रजातंत्र ही बहुधा राज्यव्यवस्था का रूप होता है। पहिला इस गलत सिद्धान्त पर आधारित होता है कि जो व्यक्ति किसी एक बात में श्रेष्ठ है, वह सर्वथा उच्च और योग्य है अर्थात् कुलीनों को ही राज्य-सत्ता अपने हाथ में रखना योग्य है। दूसरे अर्थात् कुप्रजातंत्र के मूल में भी एक असत्य भावना वर्तमान रहती है, वह यह कि सब मनुष्य मनुष्य होने के नाते बराबर हैं इसलिये प्रत्येक राज्य-सत्ता को अपने अधिकार में करने का अधिकारी है। क्योंकि दोनों राज्य-संगठन स्थिर नहीं रह सकते अतः इनमें क्रान्ति की सम्भावना सदा बनी रहती है। तुलनात्मक दृष्टि से कुलीनतंत्र से कुप्रजातंत्र अधिक स्थायी, और कुप्रजातंत्र से सुप्रजातंत्र अधिक स्थायी होता है।

राज्यक्रान्ति के विशिष्ट कारणों में अरस्तू ने सत्ताहीनों की स्पर्धा, सत्ताधारियों की लोभवृत्ति बताई है। उसका कहना है कि जब शासक वर्ग के प्रति घृणा का भाव बढ़ जाता है, जब कोई एक वर्ग अन्य सब वर्गों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हो जाता है, और जब राज्य में कुछ व्यक्ति इतने प्रभावशाली हो जाते हैं कि वे व्यवस्थित सरकार के प्रभुत्व की हानि करते हैं तब क्रान्ति होने के कारण उपस्थित हो जाते हैं। नागरिकों की जातीय भेद भावना, विभिन्न प्रदेशों के निवासियों के हितों में एकता न होना भी क्रान्ति का कारण हो जाता है। जब किसी राज्य में सम्पत्ति-हीन वर्ग व सम्पत्तिशाली वर्ग समान शक्ति वाले व एक दूसरे के विरोधी बन जाते हैं, और कोई मध्य-वर्ग इन दोनों में सामञ्जस्य उत्पन्न करने के लिये नहीं रहता, तब भी क्रान्ति के लिये उपजाऊ भूमि बन जाती है।

राज्यक्रान्ति के विभिन्न रूप— राज्यक्रान्ति का उद्देश्य एक बिलकुल नई राज्यव्यवस्था स्थापित करना या वर्तमान राज्यव्यवस्था के अन्तर्गत राजसत्ता को हथियाना हो सकता है। यह भी हो सकता है कि क्रान्तिकारी वर्तमान व्यवस्था में कुछ सुधार करना ही चाहें।

कुप्रजातंत्र में क्रान्ति—अरस्तू के कहने के अनुसार कुप्रजातंत्रों में क्रांति का कारण मुख्यतया उन लोगों का व्यवहार होता है जो जनसमूह के नेतृत्व का भार अपने ऊपर लेकर असंगत व्यवहार करने लगते हैं। उनके ऐसे व्यवहार से और इनके अत्याचार के डर से सम्पत्तिशील व्यक्ति सब मिलकर एक हो जाते हैं। और राज्यव्यवस्था को पलटने का प्रयत्न होने लग जाता है। इस प्रकार की क्रान्ति से कुकुलीनतंत्र की स्थापना हो जाती है।

कुकुलीनतंत्र में क्रान्ति—जब कुलीन सत्ताधारी दुर्भावना से प्रजा पर अत्याचार करने लगते हैं, तब प्रजावर्ग में से कोई न कोई अगुआ बनकर

उनका विरोध करने को निकल पड़ता है और सब उनका साथ देने को तैयार हो जाते हैं। कभी-कभी कुलीनों में पारस्परिक फूट पड़ जाती है और राज्य-व्यवस्था पलट दी जाती है। युद्ध के समय में विदेशी सेना के सेनापति भी अवसर देख कर सत्ता को हस्तगत कर लेते हैं। ऐसा भी होता है कि जन-साधारण की सहायता का लोभ उन्हें राज्यशक्ति का हिस्सेदार बना देने में कारण बन जाता है और ये लोग कुलीनों से अधिकार से राज्यशक्ति छीन लेते हैं।

एपीक्यूरस और जीनो

अरस्तू के समय में ही यूनानी नगर-राज्यों की अवनति आरम्भ होगई थी। सिकन्दर की विजय के पश्चात् बड़े-बड़े राज्यों का युग आया। यूनान में इसके बाद भी कुछ समय तक नगर-राज्यों की व्यवस्था चलती रही। ये नगर-राज्य भी अपना अस्तित्व संघ बना कर ही रख सके और कुछ समय पश्चात् ये संघ भी समाप्त हो गये। नगर-राज्यों में सामाजिक जीवन और उस जीवन में न्याय व सदाचार ही जीवन का ध्येय समझा जाता था। प्लैटो और अरस्तू के अनुसार व्यक्ति का समाज से पृथक् कोई अस्तित्व न था। वे व्यक्ति को समाज में विलीन होने का उपदेश देते थे। नगर मुख्य था, व्यक्ति गौड़। जब नगर-राज्य छिन्न भिन्न हो गये नागरिक जीवन का अस्तित्व मिट गया। जीवन का आदर्श भी बदला क्योंकि बिना किसी आदर्श के मानव जीवन चल ही नहीं सकता। सामाजिक जीवन व आदर्शों के न रहने पर वैयक्तिक जीवन पर फिर जाना स्वाभाविक था। व्यक्ति को समाज से अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। अब ध्येय यह न था कि व्यक्ति समाज में रह कर सद्गुणी व सदाचारी बने किन्तु वह सुखी किस प्रकार बने। राज्य की वह अनिवार्यता तथा प्रमुखता न मानी जाने लगी जो यूनानी दार्शनिकों को मान्य थी। अब व्यक्ति का सुख सर्वोपरि समझा जाने लगा और राज्य उसका एक साधन मात्र माना जाने लगा। इन विचारों के प्रतिपादकों में एपीक्यूरियन्स तथा स्टोइक्स मुख्य कहलाये।

एपीक्यूरस—एपीक्यूरस ईसा से ३२० वर्ष पहिले हुआ था। उसके सिद्धान्तों का जोरदार समर्थक ल्यूक्रेटिअस था। उसने अपनी पुस्तक "नेचर आफ थिंग्स" में प्रतिपादन किया कि प्रत्येक मनुष्य सुखान्वेषी है। वह सुख चाहता है और दुःख से घृणा करता है। इसलिये सुख ही मनुष्य के जीवन का अन्तिम ध्येय है और उसी की पूर्ति मनुष्य को यथासम्भव करनी चाहिये। प्रतीत यह होता है कि आत्मोन्नति के स्थान पर इन्द्रियसुख की ओर अधिक झुकाव होने लगा था। अन्तर्मुखी होने के स्थान पर 'मानव-प्रकृति बाह्याभि-

व्यक्ति की खोज करने चल पडी थी। एपीक्यूरस यद्यपि सुखवादी था किन्तु वह कोरा आधिभौतिक सुखवादी न था। शारीरिक सुख की अपेक्षा व आध्यात्मिक सुख को, जो सयम तथा त्यागी जीवन से प्राप्त होता है, अधिक महत्व देता था। किन्तु इन्द्रियसुख को त्याज्य न समझता था। उसने कहा बताते हैं कि "मै नही जानता कि यदि मै रसना के स्वाद का सुख, प्रेम और सुनने तथा देखने से प्राप्त सौन्दर्यानुभूति के सुख से पृथक रहूँ तो कौन सी अच्छाई का मुझे भान होगा"। सद्गुण का अर्थ यदि सुखप्राप्ति मे बुद्धिमानी दिखाना नही तो वह व्यर्थ है। शारीरिक सुख और मानसिक सुख में भेद केवल इतना है कि पहिले पर हमारा वश नही, दूसरे की प्राप्ति में हम सयम से दुःख का ध्यान अपने मस्तिष्क से निकाल सकते हैं। एपीक्युरस उस सुख की प्राप्ति नही चाहता था जो इन्द्रियो को उत्तेजना प्रदान करके प्राप्त होता है, वह उस शान्ति का इच्छुक रहता था जो समभाव से तथा स्थिर बुद्धि से प्राप्त होती है। हम कह सकते है कि वह दुःखाभाव का प्रतिपक्षी था न कि सुखोपार्जन की प्रवृत्ति का। उसके लिये दर्शन जीवन को सुखी बनाने का मार्गप्रदर्शक था न कि ज्ञान की खोज का साधन।

उपर्युक्त विचारधारा के अनुसार स्पष्ट ही है कि राज्य मनुष्य के लिये वह आदर्श वस्तु नही रह जाती जो प्लैटो और अरस्तू को थी। राज्य मनुष्य के लिये सुख की सृष्टि करने वाला एक साधन मात्र रह जाता है। ऐपीक्यूरस के से विचार वाले व्यक्ति यह समझते थे कि मनुष्य की स्वार्थ भावना पर उचित नियन्त्रण रखने के लिये ही राज्य की उत्पत्ति हुई। राज्य व्यक्तियो में इस अभिप्राय से समझौते के फलस्वरूप स्थापित हुआ। व्यक्ति राज्य से पूर्व था, न कि राज्य व्यक्ति से पूर्व। इसी प्रकार सदाचार के नियम व न्याय सामाजिक सिद्धान्त माने जाते थे जो समय व परिस्थिति के अनुसार बदले जा सकते हैं। वे अटल नियम न माने जाते थे। ये लोग राजनैतिक जीवन को भार समझते थे, उनका ध्यान व्यक्ति पर अधिक था राज्य पर कम। व्यक्ति को राजनैतिक जीवन मे तभी भाग लेना चाहिये जब अपने सुख के लिये उसकी आवश्यकता हो। समाज मे भी व्यक्ति कम से कम सम्पर्क रखे क्योंकि ऐसे सम्पर्क से दुःख ही मिलता है। इच्छायें बढ़ती है और चिन्ता उत्पन्न होती है जिससे वैयक्तिक विकास में बाधा पड़ती है। ये विचार यूनानी दर्शन के प्रतिक्रिया जैसे प्रतीत होते हैं। जहा यूनानी दार्शनिक सत्य, न्याय व सदाचार के लिये राज्य को अनिवार्य समझते थे वहा एपीक्यूरियम राज्य को केवल सुख का साधन समझने लगे। ये बेंथम आदि उपयोगितावादियो के पूर्व पुरुष कहे जा सकते है। इन लोगो के लिये राज्य का क्या रूप होना चाहिये निरर्थक सी

बात प्रतीत होती थी और ये किसी भी सरकार को जो व्यवस्था और सामाजिक शांति को बनाये रखने में सफल हो उसका समर्थन करने को तैयार थे।

सिनिक्स अथवा जनद्वेषी (Cynics)

जनद्वेषी वे लोग थे जो यूनानी नगर-राज्य के विरोधी थे, क्योंकि वे नगर-राज्य के सामाजिक वर्ग विभाजन से असन्तुष्ट थे। शायद नगर-राज्य की व्यवस्था नष्ट होने से जो निराशा हुई उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप इस सम्प्रदाय का जन्म हुआ। इसके अनुयायी यह मानते थे कि मनुष्य के विकास के लिये न राज्य की आवश्यकता है न समाज की। अच्छे जीवन के लिये घर बार, कुटुम्ब, नागरिकता, धन वैभव किसी की आवश्यकता नहीं है। बुद्धिमान् व्यक्ति यदि अपने जीवन को उच्च बनाना चाहता है तो इन सबसे पृथक रहे। बुद्धिमान् मनुष्य के लिये समाज और राज्य के नियम लागू नहीं होते। वह जो करता है, उसकी इच्छा ही उसके लिये सदाचार और नियम है। न उसका कोई घर है न समाज, वह सब जगह एक-सा स्वच्छन्द विचरता है। वह किसी एक राज्य के प्रति निष्ठा नहीं रखता, उसके लिये समस्त संसार एक राज्य है। इन सब विचारों को पढ़कर एक भारतीय को गीता में वर्णित स्थिर-बुद्धि के लक्षणों का स्मरण हो सकता है। किन्तु गीता का स्थिर-बुद्धि समाज राज्य विरोधी नहीं है। उसका कर्म सन्यास अर्थात् कर्मों का छोड़ना व संसार का त्याग व कामना का त्याग स्वार्थ का त्याग है, समाज व राज्य का त्याग नहीं। स्थिर-बुद्धि का धर्म यह बतलाया गया है कि वह समाज के कल्याण के लिये भरसक प्रयत्न करे और उसे अपने त्याग व संयम के उदाहरण से उच्च बनावे। इस सम्प्रदाय के अनुयायी समाज, राज्य, कुटुम्ब सब को मिटाना चाहते थे। उनके लिये समाज की असमानता, धनी निर्धनी, स्वामी-दास आदि के भेदों का कोई मूल्य न हो सकता था, इस लिये इनको मिटानेवाली तथा समानता व न्याय को स्थापित करने वाली समाज व राज्य व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार करना और कोई नवीन सिद्धांत ढूंढ निकालने की चिन्ता न थी। व्यक्ति और समाज की समस्याओं को सुलझाने का उपाय वे यही समझते थे कि समाज को ही नष्ट कर दिया जाय। समाज से पूर्व स्थिति को प्राप्त कर व्यक्ति स्वच्छन्द विचरे। ऐसे लोगों से राज्य, समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध में कोई नये विचारों की आशा करना व्यर्थ है। हां, विश्वमानवता के विचार का अंकुर अवश्य इनके द्वारा उत्पन्न हुआ कह सकते हैं।

स्टोइक दर्शन

अरस्तू की मृत्यु के पश्चात् यूनान में नये विचारों का स्रोत सूख नहीं

गया किन्तु उसकी दिशा अवश्य बिलकुल परिवर्तित हो गई। प्लेटो के समय से चली आने वाली विचारधारा मैसीडोनियन साम्राज्य मे सूख कर लुप्त हो गई।

"अरस्तू के साथ ही मनुष्य की वह कल्पना जिसमे वह एक राजनैतिक प्राणी था और एक स्वतन्त्र नगर-राज्य का नागरिक था, समाप्त हो गई। सिकन्दर के समय से मनुष्य व्यक्ति के रूप मे प्रकट हुआ। व्यक्ति को अपने जीवन के तथा अन्य व्यक्तियो से अपने सम्बन्धो के नियम की आवश्यकता के फलस्वरूप आचार सम्बन्धी विचारो का आविर्भाव हुआ और दूसरी आवश्यकता को पूरी करने में मानव समानता व भ्रातृभाव के सम्बन्ध में नये विचारो का जन्म हुआ।"[1]

अब मनुष्य को अकेला रहना सीखना पडा क्योंकि नये वृहत समाज में नगर-राज्य जैसी पारस्परिक आत्मीयता न थी।

नगर-राज्यो के छिन्न भिन्न हो जाने से प्राचीन सभ्य यूरोप में एक नये सामाजिक इतिहास का आरम्भ हुआ। नगर-राज्य में व्यक्ति राज्य का अभिन्न अग था। राज्य के जीवन में अपने जीवन की वह इति श्री समझता था, वही उसके जीवन का आश्रय और वही उसका चरम उद्देश्य था। राज्य से ही उसके सम्पूर्ण जीवन की पुष्टि होती थी। राज्य के पृथक किसी अन्य सस्था की आवश्यकता न थी जिसके द्वारा वह अपने को विकसित करने का मार्ग ढूँढता। व्यक्ति नागरिक था मनुष्य नही, किन्तु राज्य के नष्ट होने पर वह नागरिक न रहा। राजतन्त्र में उसका कोई स्थान न रहा, न कर्तव्य, अब वह अपने को क्या समझे। उसके जीवन का आदर्श क्या है ? ससार में उसका क्या महत्व है ? ये प्रश्न उसके सामने आये, राज्य मे उसका एक विशिष्ट स्थान था। और उस स्थान से सम्बन्ध कर्तव्य को पालन करने में वह अपना गौरव समझता था उसे ऐसा भान होने लगा कि वह एकाकी इकाई है, जिसका अपना दूसरो से पृथक जीवन है और निजी पृथक उद्देश्य है। समाज परिधि अब नगर की सीमा तक ही विस्तृत न थी। उसका विस्तार बढ चुका था। जाति भावना जैसी आजकल के राष्ट्रो में पायी जाती है उस समय तक जाग्रत न हुई थी। ऐसी स्थिति में व्यक्ति मे दो भावनायें जाग्रत हुई। प्रथम यह कि वह स्वय सेव्य है। उसका निजी कुछ महत्व है। उसे अपने ऐहिक तथा पारलौकिक सुख के लिए प्रयास करना है। दूसरे जिन बातो से व्यक्ति को दूसरे से सम्पर्क रखना पडता है उनके लिए वह किसी राष्ट्र या किसी जाति का अग नहीं वरन् एक वृहत मानव समाज का एक

१. टार्न—हेलेनिक सिविलीज़ेशन, (१९२७) पृष्ठ ६६।

सदस्य हैं। जिसमें देशी, विदेशी, दास, स्वतन्त्र सब बराबर हैं। परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति, व्यक्ति होने के नाते ही चाहे समाज में उसका कोई भी स्थान हो, कुछ नैतिक अधिकारों से विभूषित होगया। अब व्यक्ति की कसौटी पर जीवन के तथ्यों का मूल्य आंकने का समय आया।

यूनानी नगर-राज्य के दो प्रमुख सिद्धान्तों का इस नई परिस्थिति में क्या रूप हो और उनको किस प्रकार इस परिस्थिति के अनुकूल बनाया जाय इस पर उस समय के विचारकों ने ध्यान दिया। अब वृहत राज्य में समानता का अर्थ यह सम्भव न था कि सब नागरिक समान हैं। यदि समानता का सिद्धांत स्वीकार किया जाय तो उसमें सभ्य-असभ्य, स्वामी-दास, देशी-विदेशी सभी को समान मानना पड़ता। यह भी सत्य है कि इन विभेदों की ओर से आंख बन्द कर कोई समानता का सिद्धांत न माना जा सकता था। इस कठिनाई को एक नये दृष्टिकोण से पार किया जा सकता था। या तो यह कहा जाता कि सब मनुष्य विधान की दृष्टि में समान हैं, या ईश्वर के सामने समान हैं। नगर-राज्य के विधान में राज्यशक्ति का रूप सत्य और न्याय पर आधारित समझा जाता था। यह सत्य और न्याय उस राज्य के रीति रिवाजों में मूर्त हुआ समझा जाता था। इन रीति-रिवाजों को मानने में नागरिक अपनी स्वतन्त्रता और नैतिकता का ह्रास न समझता था। नये बड़े राज्य में विभिन्न जन-समूहों के पृथक-पृथक रीति-रिवाज थे। ऐसे राज्य के विधान में किसी एक समूह के आचार विचारों या परिपाटी को कानून का रूप न दिया जा सकता था। नगर-राज्य जैसी व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा आधिपत्य की नैतिकता के लिये एक ऐसे विधान (कानून) को सामने रखना आवश्यक था, जिसमें राज्य के अन्तर्गत विभिन्न समूहों के कानून समा जाय।

यह काम स्टोइक दर्शन ने किया। स्टोइक सम्प्रदाय ऐथिन्स में उत्पन्न सम्प्रदायों में सबसे अन्तिम था और ईसा से लगभग ३०० वर्ष पूर्व इसका जन्म हुआ। यद्यपि जीनो ने इस सम्प्रदाय को चलाया किन्तु इसको क्रिसीपस (Chryssipus) ने व्यवस्थित रूप देकर पुष्ट किया। उसने स्टोइक दर्शन को ऐसे रूप में व्यवस्थित कर दिया जिससे "वह तत्कालीन मनुष्यों के धार्मिक, नैतिक और राजनैतिक धारणाओं का बौद्धिक आधार बना"।[1] जिस विश्वराज्य और विश्व विधान का जनक सिनिकों ने अपने सिद्धांतों में थोड़ा सा आभास दिया उसे स्टोइक दर्शन ने एक निश्चित सार्थक रूप देकर सामने रखा।

---

१. डब्लू. एस. फर्गूसन—हैलेनिस्टिक एथिन्स (१९११), पृष्ठ ६६१

जैसा पहले बतलाया जा चुका है नगर-राज्य व नागरिक दार्शनिकों के विचार का विषय अब न रह गया था। अब व्यक्ति, उसका आचार और उसके जीवन का उद्देश्य, विचारकों के लिये मनन करने की वस्तुएँ थी। स्टोइक विचार शून्य में उत्पन्न न हो सकते थे, वास्तव में कोई भी विचार शून्य में उत्पन्न नहीं होता। प्रत्येक नया विचार पुरानी प्रचलित धारा का संशोधित रूप होता है। जनद्वेषियों के समान ही स्टोइक विचारक समझते थे कि व्यक्ति स्वयं पूर्ण है। उसे अपने कल्याण के लिये अपने से बाहर किसी दूसरी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। इसका अर्थ यह हो सकता है कि व्यक्ति कुटुम्ब, सम्पत्ति समाज या राज्य सब का त्याग कर दे। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषय में स्टोइक विचारकों का कोई निश्चित मत न था कि व्यक्ति संसार में रह कर संसार के सब कार्यों का करने वाला कर्मयोगी हो या संसार त्यागने वाला सन्यासी। फिर भी इस सम्प्रदाय के अनुयायी यह अवश्य मानते थे कि व्यक्ति अपनी वासना पर नियंत्रण कर स्वावलम्बी बने। वह इन्द्रियों का निग्रह कर अपने को सुख दुख से ऊपर उठा ले। इस स्वावलम्बन के साथ साथ कर्तव्यपरायणता का उपदेश भी किया जाता था। स्टोइक एक विश्व-नियामक सत्ता में विश्वास करते थे और अपने को उस विश्व-नियन्ता की इच्छा पर छोड़ने का उपदेश करते थे। उनका विश्वास था कि विश्वनियन्ता का अपना कोई उद्देश्य है और व्यक्ति उस उद्देश्य की पूर्ति का साधन है अपने आप को उस विश्व शक्ति को अर्पण करने में ही जीवन की सफलता और आत्मा की शान्ति प्राप्त हो सकती है। व्यक्ति के हिस्से जो काम आ पड़े उसे सुचारु रूप से बिना अपना सुख दुख देखे करने में ही उसके जीवन की सफलता है। ये लक्षण उस व्यक्ति के है जिसको भगवान श्री कृष्ण ने गीता में कर्मयोगी कहा है। इससे स्पष्ट है कि स्टोइक दर्शन कोरा सन्यास-प्रधान न था। यह भी स्पष्ट है कि अरस्तू के पश्चात् आने वालों के विचारों में ईश्वर और उसकी सत्ता की ओर अधिक झुकाव होने लगा था।

स्टोइक विचारकों का कहना था कि सब मनुष्य परमात्मा की सन्तान है इसलिये वे सब एक दूसरे के भाई हैं और समान हैं। उनकी समानता इसलिये भी प्रतिष्ठित है क्योंकि सब को एक समान विचार शक्ति प्राप्त है। वे विश्व को एक राज्य समझते थे जिसमें सब मनुष्य बराबर हैं इसलिये नहीं कि उस राज्य के शासन में भाग लेते हैं और इसलिये नागरिक हैं (जैसा कि यूनानी नगर-राज्यों में समझा जाता था) किन्तु इसलिये कि वे विचार-शक्ति से भूषित हैं। इस विश्वराज्य में रीतिरिवाजों के आधार पर व्यवस्था नहीं होती किन्तु विचार और शुद्ध बुद्धि ही सब बातों की कसौटी है। वही

यह निश्चय करती है कि क्या बुरा है और क्या भला। यह शुद्ध बुद्धि ही ईश्वर का कानून है जो सब समय और सब दशाओं पर एक-सा लागू होता है। यहाँ यह स्पष्ट नहीं कि शुद्ध बुद्धि कौनसी है और उसकी क्या पहिचान है। स्टोइक समाज में उस समय प्रचलित पारस्परिक भेद भाव के विरोधी थे और यह विरोध उनके सिद्धान्तों के अनुकूल ही था। उनके लिये यदि कोई भेद था तो वह बुद्धिमान व मूर्ख का था। उनके लिये गम्य-अगम्य, नागरिक-विदेशी, धनी-निर्धनी, स्वामी दास आदि के भेदों का कोई मूल्य न था। अरस्तू का कहना था कि दास केवल एक जीवित यन्त्र है, अर्थात् वह मनुष्य नहीं। क्रिसीपस (स्टोइक) कहता था कोई भी मनुष्य प्रकृति से दास नहीं, दास को ऐसा भृत्य समझना चाहिये जिसने जीवन भर चाकरी करने का काम ले लिया हो। दोनों दृष्टिकोण एक दूसरे से बहुत दूर हो चुके थे।

नगर-राज्य में व्यक्ति एक ही कानून से नियन्त्रित था और वह था नगर की प्रचलित परिपाटी। स्टोइकों ने एक दूसरे कानून को जन्म दिया जिसके अन्तर्गत छोटी मोटी स्थानीय परिपाटियां थीं। यह दूसरा कानून शुद्ध बुद्धि से निसृत न्याय तथा नीति के नियम थे जो सब परिस्थितियों में अटल थे। किसी राज्य विशेष या समाज विशेष में उनका रूप न बदल सकता था, अपितु उस समाज के प्रचलित नियम विधान या कानून कहलाने के योग्य नहीं कहे जा सकते जो इस उच्च विधान के प्रतिकूल हों। न्याय और औचित्य की दृष्टि से प्रचलित परिपाटी प्रधान कानून की आलोचना से बड़ा लाभ हुआ। प्रथम तो यह लाभ हुआ कि प्रचलित परिपाटी की नैतिकता असंदिग्ध न मानी जाने लगी। अब यह न कहा जा सकता था कि जो कानून व्यवहार में आ रहा है उसके आधार पर की हुई व्यवस्था ही न्याय है। अब न्याय की कसौटी व्यावहारिक नियम न रह गये। किन्तु उन नियमों से परे उचित-अनुचित, तथा सत् असत् के सम्बन्ध में मनुष्यों की सामान्य धारणा ही वह कसौटी बन गई।

स्टोइक दर्शन का महत्व—स्टोइक विचारकों ने राज्य व समाज संघठन सम्बन्धी नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया। न उन्होंने आदर्श राज्य का रूप स्थित कर अच्छे व बुरे राज्यतन्त्रों का वर्गीकरण किया। उन्होंने कुछ महत्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तों को जन्म दिया जिनका आगे चल कर राजनीतिज्ञों के विचारों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। नगर-राज्य में व्यक्ति राज्य के बिना अधूरा था। नगर-राज्य में व्यक्ति और राज्य का पारस्परिक सम्बन्ध हो यह प्रश्न ही नहीं उठा क्योंकि सम्बन्ध का प्रश्न पृथक् इकाइयों में होता है। स्टोइक विचारकों ने ऐसे व्यक्ति को सामने रखा जो पूर्ण इकाई है और राज्य से

पृथक उसका अपना महत्व है। जो वैयक्तिक भावना अब तक राजनीति का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है, उसका श्री गणेश स्टोइक विचारको से हुआ। जब व्यक्ति स्वय एक पूर्ण इकाई है तो नागरिक विदेशी से इस आधार पर उत्तम नही समझा जा सकता कि पहिला नगर के शासन में भागी है और दूसरा नही। अब नागरिक तथा विदेशी एक समान समझे जाने लगे। नगर राज्य का यह भेद भाव अब नगर राज्य के नष्ट होने पर मिटने लगा। नगर-राज्य के रीति रिवाज ही कानून नही है और, वे ही अच्छे बुरे का निश्चय करने की एक मात्र कसौटी हो ऐसी धारणा को दूर करने मे स्टोइको के इस विचार ने बडा काम किया कि नगर-राज्य के नियमो के अतिरिक्त सारा मानव समाज ऐसे नीति-नियमो से सम्बन्ध है जो नगर-राज्य के नियमो से ऊचे है। इस प्रकार स्टोइको ने पुराने राजनैतिक आदर्शों को ऐसा रूप दे दिया जो साम्राज्य में भी सच्चे उतरते थे। रोम-साम्राज्य मे इनके विचारो का बडा आदर हुआ और रोम के कानून पर इन विचारो का बडा प्रभाव पडा।

यूनानियों का राज्यदर्शन में योग—पश्चिम में यूनानी दार्शनिको ने ही सबसे पूर्व राजदर्शन को जन्म दिया था। आज हम जिसे पश्चिमी राज-दर्शन कहते है उसमें एक बडा भाग यूनानी दार्शनिकों की देन है।

देशभक्ति—यूनानी सभ्यता नागरिक सभ्यता थी, प्राचीन यूनानी राज्य को अत्यन्त ऊँचा स्थान देते थे। राज्य ही सामाजिक जीवन का सर्वोच्च ध्येय था। राज्य व्यक्ति का वृहत् रूप समझा जाता था। राज्य से पृथक व्यक्ति किसी अन्य सस्था का भक्त हो सकता है यह यूनानी न जानते थे। राज्य के कार्य मे ही पूरा भाग लेना ही व्यक्ति का चरम ध्येय समझा जाता था, मानव जीवन के सम्पूर्ण आदर्श राजनैतिक सस्थाओ में मूर्त करने का प्रयत्न सदा होता था। राज्य सर्व कुछ समझा जाता था। उसे ही आचार-शुद्धि, शिक्षा तथा आध्यात्मिक उन्नति का साधन माना जाता था। राज्य के प्रति असीम श्रद्धा यूनानियो की देन है।

आचार शास्त्र और राजनीति शास्त्र—राजनीति तथा आचार शास्त्र यूनानियों के लिये पृथक न थे जैसा कि आगे आने वाले विचारको ने समझाने का प्रयत्न किया। यूनान मे राज्य का उद्देश्य व्यक्ति को सच्चरित्रता, न्याय व ज्ञान का पाठ पढाना था, उसके ऐहिक सुख की सृष्टि करना ही राज्य का ध्येय न था। व्यक्ति को आदर्श जीवन प्रदान करना राज्य का परम धर्म समझा जाता था।

विचार स्वातन्त्र्य—पश्चिम मे वैयक्तिक स्वतन्त्रता की भावना का भी यूनान से ही आरम्भ हुआ। सुकरात ने दिखला दिया कि व्यक्ति को मृत्यु के सामने भी अपनी आत्म स्वतन्त्रता न छोडनी चाहिये। राज्य व्यक्ति की इस

स्वतन्त्रता पर नियंत्रण नहीं रख सकता कि वह जो चाहे विचारे और अपने विचारों को प्रकट करे।

वैयक्तिक समानता—स्टोइक विचारकों ने यह प्रतिपादन किया कि प्रत्येक मनुष्य समान है। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर एक ही विश्वात्मा का प्रकाश है और वह चाहे उस प्रकाश को बाहर लाकर अपने जीवन को उच्च से उच्च बना सकता है। व्यक्ति-व्यक्ति में कोई मौलिक ऊँच-नीच का भेद नहीं है, सब एक ही प्रकृति से नियमित है।

प्रजातंत्र—पश्चिम में प्रजातंत्र का सर्व प्रथम उदाहरण यूनानी नगर राज्यों में ही पाया जाता है। नागरिक समाज स्वयं ही अपने ऊपर शासन करे, कानून बनावे, राज्याधिकारी नियुक्त करे और न्याय-निर्णय करे, यह शुद्ध प्रजातंत्र यूनान के नगर राज्यों में ही सर्व प्रथम देखने को मिलता है और शायद वहीं यह सम्भव था। यूनानियों का दृढ़ विश्वास था कि राज्य व्यक्तियों की स्वेच्छा से बनाई हुई संस्था है जिसमें सब व्यक्ति मूलतः पारमार्थिक दृष्टि से समान हैं और सर्वस्वीकृत नियमों से नियंत्रित रहते हैं। सामाजिक व राजकीय जीवन में पशुबल का स्थान न था, बल्कि विचारों के आदान प्रदान द्वारा ज्ञान में सामञ्जस्य स्थापित कर और इस प्रकार सामाजिक जीवन को नियंत्रित कर सर्वोपयोगी बनाना ही आदर्श समझा जाता था। यूनानियों का जीवन अन्य लोगों की तुलना में अंधविश्वास, शास्त्र वचन के बन्धन और परिपाटी के नियंत्रण से मुक्त था। इस बौद्धिक स्वतन्त्रता के ही कारण वे दर्शन, राजनीति कला व साहित्य में अपने समय के महान निर्माता बन पाये। वैयक्तिक स्वतन्त्रता का वह विचार जिसे हम अब समझते हैं, जिसमें व्यक्ति ही ध्येय है राज्य साधन है यूनानियों की समझ में न आया था। उनके लिए राज्य उच्चतम ध्येय था। राज्य से पृथक या उसका मुकाबिला करने वाली वैयक्तिक स्वतन्त्रता का विचार उस समय परिपक्व न हो पाया था।

कानून की प्रभुता यूनानियों को मान्य थी न कि किसी पुरुष विशेष की इच्छा की। उनका राजकीय जीवन समाज से स्वतः नियन्त्रित जीवन था, उसमें किसी ऐसे एक व्यक्ति को स्थान नहीं था जो अपने को राजा होने के नाते सर्व-सत्ताधारी समझता और लोकनियमों से परे रहते हुये समाज पर अपनी इच्छा का अंकुश रखता। समाज सर्वोपरि समझा जाता था और समाज की इकाइयाँ प्राकृतिक नियमों के आधार पर अपने आपको एक संगठन में व्यवस्थित रखती थीं। राज्य समाज से पृथक न समझा जाता था न राज्य कोई ऐसी पृथक इकाई थी जिसका कोई कानूनी अस्तित्व हो और जो समाज से पृथक किन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अपनी सर्व प्रभुशक्ति का उपयोग करता हो।

कोमीटिया सेन्चूरियाटा (Comitia Centuriata) रखा गया। ईसा से ५०० वर्ष पूर्व राजतन्त्र का अन्त हो गया और गणतन्त्र की स्थापना हुई। उसके बाद उच्चवर्ग जो पैट्रीशियन (patrician) कहलाते थे और सामान्यवर्ग (plebian) में राज्यशक्ति के लिये पारस्परिक संघर्ष चलता रहा। कुछ समय बाद उसका परिणाम यह हुआ कि एक तीसरे वर्ग का जन्म हुआ जिसको समान नागरिक व राजनैतिक अधिकार प्राप्त थे। गणतन्त्र के स्थापित होने पर राजा के स्थान पर दो कौंसुल नियुक्त किये गये। इन कौंसुलों को सहायता देने के लिये मजिस्ट्रेट नियुक्त किये जाते थे। मजिस्ट्रेट के पद पर पहिले उच्चकुल के व्यक्ति ही नियुक्त होते थे किन्तु बाद में सामान्यवर्ग के लोग भी धीरे-धीरे नियुक्त होने लगे। एक नई असेम्बली की स्थापना हुई जिसका नाम कन्सीलियम प्लेबिस (Concilium Plebis) था। सामान्यवर्ग के ही लोग इसके सदस्य थे। इन्होंने अपने शासन अधिकारी नियुक्त करना आरम्भ कर दिया। सबसे मुख्य अधिकारी ट्रिब्यून कहलाता था। समय बीतने दोनों विरोधी वर्गों का सम्मिश्रण होगया और उनकी संस्थाओं का भी राज्य संगठन में किसी न किसी रूप में समावेश हो गया। सीनेट कुलीन वर्ग की ही संस्था रही जिसमें उच्च अधिकारी सदस्य होते थे। कौंसीलियम प्लेबिस विधान सभा बनी, और कोमिटिया सेंचूरियाटा युद्ध व सन्धि का निर्णय करती थी और सबसे उच्च अपराध-न्यायालय का काम करती थी। इन सब में सीनेट सबसे शक्तिशाली थी। वैदेशिक मामले इसी के हाथ में थे। जैसे-जैसे रोम का साम्राज्य बढ़ता गया सीनेट का महत्व भी अधिकाधिक ऊँचा होता गया।

रोम का साम्राज्य विस्तार—पैट्रीसीयन और प्लीबियन वर्गों का पारस्परिक संघर्ष मिटने पर रोम का आन्तरिक शासन सुदृढ़ और सुपरिचालित होगया। तब रोम निवासियों की स्वाभाविक चंचलता व कर्तव्यशीलता को अन्य दिशा में जाने की सूझी और इस प्रकार साम्राज्य विस्तार का आरम्भ हुआ। सबसे प्रथम अपने पड़ौसी राज्यों को रोम वालों ने अपने आधीन किया किन्तु इनको स्थानीय शासन की बहुत स्वतन्त्रता दी। रोम के निवासियों ने रूमसागर के अन्य स्थानों में जाकर उपनिवेश बसाये। यूनानी उपनिवेशों के समान रोम के उपनिवेश स्वतन्त्र नगर-राज्य न थे। रोम की सरकार उन पर सीधा शासन करती थी। यह शासन एक रोमन अधिकारी के आधीन होता था जिसे प्रिफेक्ट कहते थे। कार्थेज के नष्ट होने पर रोम के आधीन कई विदेश हो गये। उधर पूर्व में जब रोम ने सिकन्दर के यूनानी व एशियाई साम्राज्य पर अधिकार कर लिया, ईसा से पूर्व पहिली शताब्दी

के अन्त तक रोम का साम्राज्य दूर दूर तक फैल गया। इस साम्राज्य की सीमा उत्तर में राइन और डैन्यूब नदी तक थी, दक्षिण में सहारा के मरुस्थल तक, पूर्व में फरात नदी तक और पश्चिम में ब्रिटिश टापुओं तक।

साम्राज्य की शासन प्रणाली—इस विस्तृत साम्राज्य का शासन रोम से होता था। साम्राज्य प्रान्तों मे बाँट दिया गया था और प्रत्येक प्रांत का एक शासक नियुक्त किया जाता था जिसे सम्पूर्ण शासनाधिकार प्राप्त होते थे। यह एक प्रकार का निरंकुश शासक था। अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने से रोकनेवाला केवल एक ही भय था, वह यह कि अपने कार्य की अवधि समाप्त होने पर जब वह रोम वापिस जाता तो उस पर दु शासन का अपराधी ठहराकर दण्ड दिया जा सकता था। स्वय रोम म कौंसुल, ट्रिब्यून, सीनेट और असेम्बली द्वारा शासन व्यवस्था चल रही थी। आधीन देशो के नागरिकों को इस व्यवस्था म भाग लेने का कोई अधिकार न था क्योंकि नागरिकता का अधिकार रोम नगर निवासियों तक ही सीमित था। विजय और साम्राज्य की स्थापना से सेना का प्रभुत्व बढ गया था। लोक सभाओं का प्रभुत्व धीरे-धीरे कम होता गया। जो कोई भी सेना को व मतदाताओं को अपने पक्ष में कर लेता वही शासनशक्ति को अपने हाथ मे कर लता था और अपने प्रति-पक्षियो को फासी देकर तथा सम्पत्ति लूटकर सिपाहियो को इनाम के रूप म बाट देता था। साम्राज्य विस्तार के साथ-साथ रोम के व्यापार की वृद्धि भी हुई थी जिससे रोम के निवासी बडे धनी हो चले थे, और किसानो के स्थान पर अब जागीरदारी प्रथा चल पडी थी। ये जागीरें विजेता सिपाहियो को दी जाती थी। पैट्रीसियन और प्लीबियन वर्ग के सघर्ष मे एक सेनानायक अपने को सीनेट का समर्थक कहता और दूसरा सामान्य जनता का। सीनेट म धनी व कुलीन लोग ही सदस्य थे। जो सिपाहियो को अधिक से अधिक इनाम का वचन देता वही विजयी होता। तब लूट खसोट आरम्भ होती थी। यह गृहयुद्ध ही रोम के नाश का कारण बना। अन्त में ऑगस्टस ने अपने सब प्रतिद्वन्दियो को कुचल कर अपना अकेला आधिपत्य जमा लिया। मजिस्ट्रेट के सम्पूर्ण अधिकार उसने अपने हाथ में कर लिये। लोकसभाएँ शक्तिहीन करदी गई। सीनट को अब भी कुछ अधिकार थे किन्तु सम्राट स्वय उसके सदस्यो को नियुक्त करता था और उसके द्वारा सुझाये हुये विषयो पर सीनेट प्रस्ताव पास करती थी जो कानून के रूप में लागू होते थे। कुछ समय के बाद सम्राट के आदेश ही कानून समझे जाने लगे और सीनेट का प्रभाव ही नष्ट हो गया।

आरम्भ में स्टोइक दर्शन अधिक लोकप्रिय न था। यह निवृत्ति प्रधान समझा जाता था। इसके समर्थक व अनुयायी जगत की व्यावहारिकता से ऊपर रहना चाहते थे या ऐसे समझे जाते थे। यह ठीक है कि स्टोइक दार्शनिक आत्म-तुष्टि, मनोनिग्रह, कर्तव्य पालन और इन्द्रियदमन मनुष्य का सदाचार धर्म समझते थे। किन्तु वे जीवन-मुक्त सन्यासी न थे जिन्हें संसार से कोई वास्ता न हो। धर्म का परित्याग करने का उपदेश वे न देते थे। कर्तव्य पालन में ईश्वर की इच्छा पर अपने आप को छोड़ना और उसमें अपनी कामना न रख कर जो कुछ अपने हिस्से आवे उसे करना ही उनका ध्येय था। साधारण व्यक्ति के लिये ऐसा जीवन बिताना सम्भव नहीं है इसलिये स्टोइक विचारधारा लोकप्रिय न बन सकी थी। स्टोइकों का यह सिद्धान्त भी साधारणतः मान्य न था कि संसार में एक नैतिक नियम है जो सब स्थानों पर सर्वदा देखने को मिल सकता है। वास्तव में नीति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न जन समूहों में भिन्न-भिन्न विचार थे। उनको देखते हुए स्टोइक सिद्धान्त पर श्रद्धा होना कठिन था। स्टोइकों का विश्वास था कि मानव समाज का एक नैतिक उद्देश्य है, उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये मनुष्य में प्रकृति ने नैतिक बुद्धि की स्थापना की है। यह नैतिक बुद्धि बतलाती है कि क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये। इस नैतिक बुद्धि से स्थिर किये हुये कर्तव्या-कर्तव्य सब मनुष्यों पर लागू हैं। ये अटल नियम हैं इन्हें ईश्वरीय नियम समझना चाहिये। स्टोइक विचारकों के ये विचार साधारण मनुष्यों के मन में घर न करते थे। कम से कम रोम के कुलीन जिन्हें दर्शन के सूक्ष्म विचारों के समझने में न मन लगता था और न क्षमता ही, ये सिद्धांत अव्यावहारिक से प्रतीत होते थे। स्टोइक विचारों में कर्तव्य पालन, आत्म-नियंत्रण आदि पर जोर दिया गया था। वह रोम के कर्मशील लोगों के लिये आकर्षक था। वे यूनानी विद्या से बड़े प्रभावित थे। इसलिये स्टोइक दर्शन की ओर उनका अधिक झुकाव था। अपनी दिग्विजय की कामना में यदि उच्चादर्श का पुट जुट जाता तो उन्हें खून खराबी से उत्पन्न मन की अशांति मिटाने में सहारा मिलता था। स्टोइकों के विश्वराज्य के आदर्श ने यह सहारा दिया, साम्राज्य लिप्सा के स्वार्थ को विश्व राष्ट्र के सिद्धान्त ने सुन्दर बाना पहिना दिया।

पैनेटियस—स्टोइक दर्शन को रोम के अनुकूल बनाने में पैनेटियस ने बड़ा काम किया। पैनेटियस ने कहा कि शुष्क नैतिकता ही मनुष्य में सर्वोपरि नहीं है, केवल नीति से ही मनुष्य उच्च नहीं बनता, लोकोपयोगी भावनायें और मनोवेग भी मनुष्य को उच्च बनाते हैं। व्यक्ति का आदर्श केवल

अपने आप को आत्म-निर्भर ही बनाना नही है किन्तु उसे लोकोपकारी भी बनना है। मूल स्टोइक सिद्धान्त के विरुद्ध पैनेटियस का कहना था कि बुद्धिमान और मूर्ख सभी के लिये नैतिक बुद्धि समान रूप से आदेश करती है और सब व्यक्ति इस दृष्टि से समान हैं कि सब की उन्नति व गुण साधन के लिये कुछ सुविधायें आवश्यक हैं और राज्य का यह कर्तव्य है कि ऐसी सुविधायें प्राप्त कराये। जो राज्य इन सुविधाओ को प्रदान करता है वही राज्य कहलाने के योग्य है।

"मानव जाति की एकता राज्य मे व्यक्तियो की समानता तथा उनके साथ समान न्याय का बर्ताव, स्त्री पुरुष का समान मूल्य, स्त्रियो और बच्चो के अधिकारो का सम्मान, उदारता, प्रेम, कुटुम्ब मे शुद्धता, सहन-शीलता और अपने साथियो के प्रति दया, सब बातो मे मानव दयालुता, यहाँ तक कि अपराधियों को मृत्यु दण्ड देने मे भी इस दया भाव का बर्ता जाना—इन विचारो मे बाद में होने वाले स्टोइको के ग्रन्थ भरे हुए हैं।"[1]

पौलिबियस—पौलिबियस ने सबसे पहिले रोम का इतिहास व वहा की राजनीतिक संस्थाओ का ज्ञान कराया। पौलिबियस यूनानी था और युद्ध बन्दी की स्थिति में रोम पहुँचा था। वह स्टोइक विचारो का समर्थक था। रोम की शक्ति व उसके शासन-सगठन का उस पर बडा प्रभाव पडा और अपने देश वासियो को रोम की उन्नति के कारण समझा कर शिक्षा देने का उसका उद्देश्य था। उस समय रोम अपनी उन्नति के शिखर पर पहुँच गया था। यूनान पर रोम का आधिपत्य हो चुका था। उसने "रोम का इतिहास" नामक पुस्तक लिखी जिसमे उसने यह समझाया कि रोम किस प्रकार इतना बडा साम्राज्य बन गया। इस प्रयत्न में उसने राज्य की उत्पत्ति और सरकारो के वर्गीकरण के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रगट किये।

राज्य की उत्पत्ति व सरकारों का वर्गीकरण—पौलिबियस के विचार से राज्य की उत्पत्ति बल से हुई जब किसी शक्तिशाली पुरुष ने अन्य व्यक्तियो पर शासन करना आरम्भ किया। ये व्यक्ति एक समूह मे सगठित थे, अराजकता की स्थिति मे न थे। इनको सगठन मे बाधने वाली मनुष्य की वह प्रकृति है जो उसे अन्य लोगो के साथ रहने को प्रेरित करती है न कि कोई सामाजिक समझौता जिसके द्वारा व्यक्तियों ने अपने नैसर्गिक अधिकारो को समाज के सुपुर्द करने का इकरार किया हो। राजा का आधिपत्य पहिले भय से माना गया किन्तु जैसे जैसे ज्ञान की वृद्धि हुई और अनुभव से राज्य सगठन के लाभ प्रतीत हुये व्यक्तियों ने स्वेच्छा से राजा की आज्ञा पालन करना

[1] जैकेस डैनिस—हिस्तोरी देस थ्योरिज़, इत्यादि, (१८९६) पु०२, पृ०१८१

स्वीकार किया। इस प्रकार पुनः शुद्ध राजतन्त्र की स्थापना हुई। किन्तु धीरे-धीरे राजा स्वार्थी होकर अन्याय करने लगा तो राजतन्त्र का रूप बिगड़ कर अत्याचारी शासन की स्थापना हुई। इस अत्याचार से प्रकुपित होकर कुलीन वर्ग के व्यक्तियों ने विद्रोह किया और अत्याचारी शासक को सत्ताहीन कर कुलीनों की सत्ता स्थापित की। किन्तु कुलीनों में धीरे धीरे अवगुण आने लगे और वे भी अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने लगे जिससे सुकुलीन तन्त्र (Aristocracy), कुकुलीन तन्त्र (Oligarchy) में परिणत हो गया। कुकुलीनतन्त्र के विरुद्ध कालान्तर में विद्रोह खड़ा हुआ और सुप्रजातन्त्र की स्थापना हुई जिसमें साधारण जनता ने जन कल्याण के लिये शासन की बागडोर अपने हाथ में संभाली। किन्तु यह सुप्रजातन्त्र भी स्थिर न रह सका। विभिन्न वर्गों में संघर्ष उत्पन्न हुआ, मारकाट मची, रक्त पात हुआ। इस मारकाट और अंधा धुंधी में जिन लोगों ने रक्त की प्यासी भीड़ का नेतृत्व किया वे ही सत्ता के स्वामी बन बैठे। अन्त में हिंसा का चक्र पूरा चल कर ही माना और एक ही व्यक्ति ने अपने साथियों का विनाश कर सारी शक्ति हथियाली।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पौलिबियस ने अरस्तू के समान सरकारों का वर्गीकरण किया था। जिसे अरस्तू पोलिटी कहता था उसे पौलिबियस ने डेमोक्रेसी कह कर पुकारा और अरस्तू की डेमोक्रेसी के लिये एक नया नाम ओक्लोक्रेसी रखा। पौलिबियस का कहना था कि सरकारों के शुद्ध रूपों में स्थिरता नहीं रह सकती और उनका विकृत हो जाना अवश्यम्भावी है। उसका यह भी कहना था कि सरकार के रूपों का जो क्रमिक परिवर्तन होता है वह नैसर्गिक है और यह बराबर चलता रहता है। किसी भी रूप के विनाश के बीज उसी में निहित रहते हैं और समय तथा अनुकूल स्थिति में उस रूप की अवनति व विनाश होना आरम्भ हो जाता है। पौलिबियस का कहना था कि उत्पत्ति और विनाश का नियम इतिहास का अभिन्न अङ्ग है।

मिश्रित शासन में विधान—पौलिबियस के अनुसार यदि ऊपर बतलाया हुआ परिवर्तन रोकना है और क्रान्ति से समाज की रक्षा करनी है तो संविधान में राजतन्त्र, कुलीन तन्त्र व प्रजातन्त्र तीनों शुद्ध रूपों के तत्त्व वर्तमान रहने चाहियें। रोम के शासन संगठन की शक्ति का कारण उसके अनुसार यही था कि उसमें कौंसुल राज्य तन्त्र, सीनेट कुलीन तन्त्र और असेम्बली प्रजातन्त्र, इन तीनों तत्त्वों के प्रतीक थे और एक दूसरे पर नियन्त्रण रख कर शासन-संगठन में वह संतुलन रखते थे जिसके नष्ट होने से ही शासन पद्धति में परिवर्तन का चक्र चलता है। अरस्तू ने भी ऐसे संतुलन के पक्ष में विचार

प्रगट किये थे, किन्तु वह सतुलन समाज के विभिन्न अङ्ग का था, जैसे बहु-सख्यक वर्ग का विचारक असैम्बली में होना और अल्प सख्यक किन्तु सम्पत्ति शाली वर्ग का मजिस्ट्रेसी अर्थात् कार्यकारिणी में होना समाज मे सतुलन रख सकता है। पोलिवियस के अनुसार यह सतुलन समाज के अङ्गों में न होकर राज्य के सगठन की विभिन्न सस्थाओं में था। कोई भी अङ्ग बिल-कुल तन्त्र-हीन न था। मजिस्ट्रेट असैम्बली की शक्ति पर अकुश रखते थे और असेम्बली मजिस्ट्रेटों की शक्ति पर। इसी प्रकार की एक दूसरे पर रोक और सब की शक्ति में एक सतुलन अमरीका के शासन सविधान मे अपनाया गया। जिस समय पोलिवियस यह सब लिख रहा था उस समय रोम के शासन सविधान का रूप बदल चुका था। उसका सतुलन नष्ट हो कर राज्यतत्र के तत्त्व का प्रभुत्व हो चुका था, असैम्बली और सीनट की शक्ति नष्ट हो चुकी थी। इसलिये रोम के शासन-विधान के इस रूप की प्रशसा तथ्यहीन सी प्रतीत होती थी।

सिसरो—पोलिवियस के १०० वर्ष पश्चात् रोम का दूसरा स्टोइक दार्शनिक सिसरो हुआ। सिसरो के समय म रोम एक बडी साम्राज्य शक्ति बन चुका था। उसके निजी शासन सविधान म प्रजातत्री तत्त्व लुप्त हो चुका था। प्लीबियन और पैट्रीशियन दोनो में घोर वैमनस्य उत्पन्न होन पर सेना-नायकों न शासन शक्ति अपन हाथ म कर ली थी और कौंसुल, सीनेट तथा असैम्बली की शक्ति का सतुलन नष्ट हो चुका था। राजनीतिक व्यवस्था बिगड चुकी थी। पारस्परिक वर्ग सघर्ष से पोलिवियस कथित ओक्लोक्रेसी (भीडसत्ता) स्थापित हो चुकी थी। इस सत्ता के अधिनायक सेनानायक थे। इनमें पौम्पेई, मेरियस, जूलियस सीजार के नाम प्रसिद्ध हैं। पौम्पेई कुलीनो की अधिनायक सत्ता का प्रतीक था, मेरियस तथा जूलियस सीजर सम्पत्ति-हीना की सत्ता का नतृत्व करते थ।

रिपब्लिक—सिसरो इन दोनो के बीच म रहन के पक्ष म था। इसीलिये उसन पोलिवियस द्वारा प्रतिवादित मिश्रित सविधान का समर्थन किया। वह चाहता था कि रोम का गणतत्र अपन सत्यरूप म फिर स स्थापित हो जाय। 'रिपब्लिक' नाम की पुस्तक म उसने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिय अपने विचार प्रकट किय। सिसरो स्टोइक सम्प्रदाय का था। सिसरो का कहना था कि समाज मनुष्य को मिलकर रहने की प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप सग-ठित हुआ है। मनुष्य एकान्तवासी रह ही नही सकता, यह उसके स्वभाव के विरुद्ध है। स्टोइक मानव विवेक के अनुसार जीवनयापन करने को कहते थे इसलिये स्पष्ट है कि वे मनुष्य को समाज म रहने के पक्षपाती थ। जनद्वेपियो की तरह

सिसरो यह न समझता था कि राज्य केवल समुदाय की स्वार्थ सिद्धि के लिये है। स्टोइकों के विचारों में समाज और राज्य का भेद दृष्टिगोचर नहीं है किन्तु सिसरो के लिये राज्य समाज से पृथक है, यहाँ तक कि राज्य और सरकार को भी वह पृथक समझता है। सिसरो के लिये "राज्य वह सर्वोपभोग्यसम्पत्ति है जिसमें समाज के सब व्यक्तियों का हिस्सा है। किसी भी जनसमूह को समाज नहीं कह सकते। वही जनसमूह समाज कहलाने योग्य है जो सत्य के विषय में एकमत होने के कारण और हितों की समानता के कारण संघटित हो"। प्लैटो के समान सिसरो ने वार्तालाप की शैली द्वारा ही एक आदर्श राज्य का रूप स्थिर करना चाहा था। पोलिबियस के समान उसका भी विश्वास था कि मिश्रित संविधान जिसमें राजतंत्र, कुलीनतंत्र और प्रजातंत्र के तत्त्व मिलकर एक दूसरे पर नियन्त्रण रखते हुये विधान का संतुलन बनाये रखते हों, सबसे उत्तम है। वह यह भी मानता था कि संविधान के विभिन्न शुद्ध रूप समय बीतने पर स्वतः ही विकृतावस्था को प्राप्त होते हैं और दूसरे शुद्ध रूप को जन्म देते हैं। इन शुद्ध तथा विकृत रूपों का चक्र बराबर चलता रहता है। सिसरो इन सिद्धान्तों को रोम के संविधान और इतिहास में उतारना चाहता था और यह सिद्ध करना चाहता था कि किस प्रकार रोम का संविधान एक आदर्श संविधान है और किसी भी आदर्श संविधान की क्या पहिचान है। किन्तु वह इस कार्य में सफल न हो सका। वह यह न दिखला सका कि रोम की विभिन्न राजनैतिक संस्थायें उसके आदर्श मिश्रित संविधान के किस अङ्ग का प्रतीक थी। ऐसी स्थिति में मिश्रित संविधान की उसकी प्रशंसा कोरा वाग्जाल मात्र ही रह गया। इसी प्रकार शुद्ध और विकृत संविधानों का, एक के बाद दूसरे का आना, (राजतंत्र के बाद अत्याचारीतंत्र, अत्याचारी तंत्र के बाद सुकुलीनतंत्र, सुकुलीन तंत्र के बाद कुकुलीन तंत्र, कुकुलीनतंत्र के बाद सुप्रजातंत्र, सुप्रजातंत्र के बाद कुप्रजातंत्र, और कुप्रजातंत्र के बाद फिर राजतंत्र) यह सिद्धान्त भी रोम के इतिहास में पूरा न उतर सका जिससे उसका यह प्रयत्न व्यर्थ ही नहीं रहा किन्तु उसके इस प्रयत्न से इस सिद्धान्त का तार्किक सत्य भी उसके वर्णन में लोप हो गया।

प्राकृतिक विधान—सिसरो ने जो महत्वपूर्ण काम किया वह यह था कि उसने स्टोइक विचारकों के 'प्राकृतिक विधान' (Natural Law) को संस्कृत कर ऐसे पुष्ट रूप में सामने रखा जिसे अब तक उसी प्रकार समझा जाता है। इस सिद्धान्त के विचार सिसरो के विचार न थे, वे यूनानी स्टोइकों

---

१. रिपब्लिक, १ २५

के थे, किन्तु लेटिन भाषा में उसके द्वारा प्रस्तुत होने पर वे दूर-दूर तक फैल गये। सिसरो लिखित 'रिपब्लिक' के अंशो के उल्थे से इन विचारो के स्पष्ट होने मे सहायता मिलेगी —

"वास्तव में एक सत्य विधान की सत्ता है जिसे शुद्ध विवेक कह सकते हैं जो प्रकृति के अनुकूल है, सब मनुष्यो पर लागू होता है, अपरिवर्तनशील है और सदा रहने वाला है। यह विधान अपने आदेशो से मनुष्यो को अपने कर्तव्य पालन करवाता है, अपने निषेधो से उन्हे अपकार या अन्याय करने से रोकता है। इसके आदेश और निषेध केवल अच्छे मनुष्यो पर ही प्रभाव डालते हैं बुरो पर नही। इस विधान को मानव विधान से अमान्य करना नैतिक दृष्टि से ठीक नही है। इस विधान के व्यवहार क्षेत्र को सीमित करने की भी आज्ञा नही है, इसे बिलकुल रद्द करना तो असम्भव है। इस विधान को मानने के कर्तव्य से हम न सीनेट न समाज छुटकारा दिला सकती है। इसकी टीका करने के लिये किसी सैक्टस ऐलियस जैसे टीकाकार की आवश्यकता नही है। यह एसा नही करता कि रोम म एक नियम बनावे और एथिन्स म दूसरा और न यही कि आज एक नियम बनावे और कल दूसरा। किन्तु सर्वदा एक अपरिवर्तन शील नियम रहेगा जो सब समय सब लोगो पर समान रूप से लागू होगा और ईश्वर जो इस विधान का निर्माता, चालक और टीकाकार है, सब मनुष्यो का राजा तथा स्वामी है। जो मनुष्य इस विधान की अवज्ञा करेगा वह अपने उत्तमस्य को तिलाञ्जलि दे देगा और इस प्रकार मानव स्वभाव के विरुद्ध जाने पर कठोर से कठोर दड पायेगा चाहे वह समाज के बनाये हुये दण्डो से बच भी जाय।"[1]

उपर्युक्त से यह स्पष्ट होता है कि एक ईश्वरीय विधान है जो सर्वोपरि है और मनुष्य की सामाजिक प्रकृति तथा शुद्ध विवेक म इस विधान का आसन है। समाज के नियम इस विधान के अनुकूल हो तो वे अच्छे हैं अन्यथा बुरे समाज व राज्य के विधान इस उच्चतम विश्वविधान से नैतिकता प्राप्त करते हैं स्वय उसे विकृत नही कर सकते। यह विधान सब देशो म सब काल म एक सा ही रहता है।

सिसरो का कहना था कि मनुष्य की प्रकृति म परमात्मतत्त्व होने के कारण सत्य असत्य का निर्णय करने की विवेक बुद्धि प्रत्येक मनुष्य रखता है। इसलिये सब मनुष्य बराबर हैं। व्यक्तियो की समानता के सम्बन्ध म तो उसका यहा तक कहना था कि मनुष्य अपने समान उतना नही जितना कि

१. रिपब्लिक, भाग तीन, पृ० २२, सैवाइन द्वारा उद्धृत

वह अन्य सब मनुष्यों के समान है। भारतीय दर्शन की भाषा में इसे यों कह सकते हैं कि सब मनुष्यों की आत्माओं में जितना तादात्म्य है उतना एक व्यक्ति की आत्मा और उसके मन में नहीं है। यदि उनमें आपस की असमानता है तो वह उन विकारों के कारण जो बुद्धि में झूठे विचारों और बुरी आदतों से पैदा हो गये हैं। राज्य का ध्येय लोगों को एक समान धनी बनाना नहीं है वरन् उनकी सत् असत् की पहिचानने वाली बुद्धि को शुद्ध करना है। सिसरो ने यह नहीं बतलाया कि यह बुद्धि कैसे शुद्ध हो और मनुष्य किस परिस्थिति में अपने शुद्ध विवेक से काम लेते हैं। जिस प्रकार की समानता का सिसरो ने प्रतिपादन किया है वह नैतिक है, सामाजिक है। ऐसी नैतिक समानता वह आदर्श है जिसको प्राप्त करने के लिये साधारणतया अब समझी जाने वाली सामाजिक समानता आवश्यक समझी जाती है या जिस नैतिक मूल समानता के कारण सामाजिक समानता वांछनीय है। यदि इस नैतिक समानता को न मानें तो प्रजातंत्री भावना की जड़ ही कट जाय। प्रजातंत्री भावना में हम यह मानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तित्व आदर के योग्य है, कैंट के शब्दों में वह स्वयं साध्य है, साधन नहीं। सिसरो के कहने का भी कुछ ऐसा ही मतलब था। क्या अरस्तू भी यही सोचता था? शायद नहीं। उसके लिये दास मनुष्य नहीं केवल एक जीवित यंत्र था। इसलिये वह नागरिकता का अधिकार दासों को न देना चाहता था।

सिसरो के विचारों का निष्कर्ष—राज्य और व्यक्ति का उसमें क्या स्थान है इसके सम्बन्ध में सिसरो के विचारों का यह निष्कर्ष निकला कि राज्य एक नैतिक संस्था है। जो राज्य प्रजा के नैतिक स्तर को नहीं उठाता वह अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा करता है और असफल है। राज्य व्यक्तियों के लिये है। राज्य के विधान समाज में संगठित व्यक्तियों के विवेक से उत्पन्न नियम हैं। राज्य की शक्ति का स्रोत व्यक्तियों का संगठन है। व्यक्तियों का वही संगठन समाज कहला सकता है जो इस विषय में एक मत हैं कि न्याय-और अन्याय क्या है, सत असत् क्या है और जो यह चाहता है कि सब मिलकर संगठन का लाभ उठायें। राज्य की शक्ति सभी व्यक्तियों की सामूहिक शक्ति है, जब वह व्यक्तियों के हित में प्रयुक्त हो। राज्य और उसके विधान सर्वोपरि नहीं हैं, उनसे ऊपर सत्य का वह सर्वोच्च नियम है जिसे एक व्यक्ति की या किसी मानव समूह की इच्छा नहीं बदल सकती। राज्य की पाशविक शक्ति का प्रयोग तभी तक न्याय है जब तक इस सत्य को व्यवहार में लाने के लिये वह शक्ति प्रयोग की जाती है। स्वार्थी अत्याचारी शासक सर्वदा घृणा के योग्य है।

रोम के विधानज्ञ

ईसा से लगभग ४३० वर्ष पूर्व रोम के उन नियमों को जिनको मानने की पुरानी प्रथा चली आ रही थी एक जगह एकत्रित कर निश्चित रूप दे दिया गया। ये नियम अंगरेजी भाषा में "ट्वैल्व टेबिल्स" के नाम से प्रसिद्ध हैं। पहिले ये धार्मिक आज्ञाओं के रूप में समझे जाते थे, अब इनमें लौकिकता का पुट आगया। जब कभी इन नियमों में कमी पाई गई तब जन सम्मति के द्वारा नियम बना कर यह कमी पूरी हुई। इसके अतिरिक्त मजिस्ट्रेटों के निर्णयों और सम्राटों द्वारा घोषित विधानों ने भी इस कमी को पूरा किया।

रोम का साम्राज्य व शक्ति बढ़ने के साथ उसके व्यापार की भी उन्नति हुई। अनेक देशों के व्यापारी और निवासियों का रोम से सम्पर्क बढ़गया। ये लोग रोम में रहते और रोमनिवासियों से सम्पत्ति का आदान-प्रदान करते थे। रोम निवासियों और इन विदेशियों के सम्बन्धों को नियन्त्रित करने के लिये किसी न किसी विधान की आवश्यकता थी। यदि किसी विदेशी व्यापारी का रोमन व्यापारी से झगड़ा हो जाय तो उनमें न्याय किस विधान के आधार पर किया जाय यह समस्या सामने आने लगी। विदेशियों को रोम की भूमि पर वैयक्तिक स्वतन्त्रता व सम्पत्ति रखने के क्या अधिकार हैं यह भी निश्चय करना था। इन विदेशियों को रोम के घरेलू विधान से नियन्त्रित करना न सम्भव था, न वाञ्छनीय क्योंकि रोम का विधान वहा के निवासियों की ही पैतृक सम्पत्ति थी, विदेशियों के लिये वह उपयुक्त न हो सकती थी। इस पैतृक विधान में बहुत सा धार्मिक आडम्बर भी मिला हुआ था जो विदेशियों से मनवाना सम्भव न था। ऐसी स्थिति में मजिस्ट्रेटों को बाध्य होकर यह करना पड़ता था कि वे न्याय के उन सिद्धान्तों का प्रयोग करें जो विभिन्न देशों के विधानों में समान रूप से पाये जाते हों। इन सिद्धान्तों का वे अपने निर्णयों में समावेश कर देते थे। उसके अतिरिक्त रोम के आधीन उपनिवेशों के मुकदमे रोम के सम्राट् के पास अपील में आया करते थे। सम्राट् इन मुकदमों में जिन प्रश्नों पर निर्णय देना होता था उन्हें विधान के पण्डितों को उनकी राय के लिये भेजता था, और ये विधानज्ञ इन प्रश्नों पर राय देते समय ऐसे वैधानिक सिद्धान्तों को बना देते थे जो सब जगह सब पर लागू हों।

जस्टीनियन संहिता—ईसा से ५३३ वर्ष बाद ये सिद्धान्त एक जगह एकत्रित कर दिये गये और एक संहिता के रूप में सम्राट जस्टीनियन ने इन्हें प्रकाशित करवाया। ये सिद्धान्त उस समय तक वैसे ही मान्य समझे जाने लगे थे जैसा कि कोई सर्वमान्य विधान और न्यायाधीश उन्हें कानून मान कर

ही अपने निर्णयों मे प्रयोग करते थे । मजिस्ट्रेटों में परीप्रिनस का नाम प्रसिद्ध है जिसने एक नये विधान की रचना की जो 'जुस जेन्टियम' (Jus Gentium) के नाम से प्रसिद्ध हुआ उसने अपने निर्णयों में धीरे धीरे उन सिद्धान्तों को मानना प्रारम्भ कर दिया जो रोम के अधीन गये देशों के रीति-रिवाजों, कानूनों और सदाचार में पाये जाते थे। विधानज्ञों मे गैयस (Gaius) अल्पियन (Ulpian) मरसियन (Mercian) और फ्लोरेन्टीनस (Florentinus) का नाम प्रसिद्ध है। जस्टीनियन की संहिता में तीन प्रकार के वैधानिक नियमों का समावेश था। प्रथम विभिन्न सम्राटों की राजविज्ञप्तियां संक्षिप्त कर एकत्रित कर ली गई थीं जो कानून समझी जाती थीं, द्वितीय गयस आदि विधानज्ञों की वे सम्मतियां थीं जिन्हें उन्होंने विविध वैधानिक प्रश्नों पर प्रकट की थी और जो कानून के समान ही आदरणीय समझी जाती थीं। ये इन्स्टीट्यूट्स के नाम से प्रसिद्ध हैं। तीसरे, प्रसिद्ध न्याय-नेताओं के विधान-सम्बन्धी कथनों के चुने हुए पद हैं जो डाइजेस्ट (Digest) के नाम से सन् ५३३ में प्रकाशित किये गये थे।

रोम के विधानज्ञ और राज्यदर्शन—ऊपर जिन विधानज्ञों का नाम बतलाया जा चुका है वे दार्शनिक न थे और राज्यदर्शन के सिद्धान्तों का निकालना ही उन का मुख्य उद्देश्य न था। इसलिये उनसे किसी दार्शनिक सिद्धान्त की आशा न करनी चाहिये। उन्हें अपने वैधानिक सिद्धान्तों के लिये कुछ सामाजिक व नैतिक नियमों की आवश्यकता थी जो उस समय सर्वमान्य हों। इनके लिए उन्हें स्टोइक विचारों का सहारा लेना पड़ा जिससे यह प्रकट है कि व स्टोइक विचारों के समर्थक ही न थे किन्तु उस समय साधारणतया स्टोइक सिद्धान्तों को मान्य समझा जाने लगा था। रोम-विधान उस समय बौद्धिक विकास का एक बड़ा शक्तिशाली साधन बन गया था। इसलिये इन विधानज्ञों ने विश्व न्याय और भ्रातृभाव के सिद्धान्तों को अपने विधानों म साकार कर सारे पश्चिमी यूरोप और रूम सागर के देशों में फैला दिया।

विधानज्ञों द्वारा विधान के भेद—रोम के विधानज्ञ तीन प्रकार का विधान मानते थे जुस सिविलि (नागरिक विधान), जुस जेन्टियम (परदेशी सम्बन्धी विधान और जुस नेचुरल (प्राकृतिक विधान)। नागरिक विधान स्पष्ट है किसी राज्य विशेष का आन्तरिक विधान होता है। नागरिक विधान जुस सिविलि था यह विधान चाहे प्रचलित मान्य रीति रिवाज हो या किसी राजनीति संस्था द्वारा व्यवस्थित हो । रोमन विधान का थोडा ही अंश व्यवस्थित था, वह किसी विधान सभा द्वारा बनाया हुआ न था। नागरिक

विधान मे और दूसरे दो प्रकार के विधानों मे क्या अन्तर है यह अधिक स्पष्ट न था। इसी प्रकार परदेशी विधान मे तथा प्राकृतिक विधान का अन्तर आरम्भ मे विधानज्ञों को स्पष्ट प्रतीत नही होता। परदेशी विधान को उस समय के विभिन्न नागरिक विधानो का महत्तम समापवर्तक कह सकते हैं। रोम के न्यायकर्ताओ का यह कार्य स्वाभाविक था कि वे विभिन्न विदेशियों के नीति-नियमो के सामान्य नियमो को मालूम कर उनकी सहायता से उनके साथ न्यायनिर्णय करे। शायद यह सोचा गया हो कि जो नियम पृथक्-पृथक् सब देशो में उचित समझा गया हो वही प्राकृतिक नियम है किन्तु कुछ समय पश्चात् प्राकृतिक विधान और परदेशी सम्बन्धी विधान मे अन्तर किया प्रतीत होता है। एक नियम सब समाजो में समान रूप से व्यवहार में लाया जाता हो किन्तु वह अनुचित हो और बुद्धि सगत न हो। इसका उदाहरण दास प्रथा के सम्बन्ध मे देखने को मिलता है, उस समय दास प्रथा सब देशो मे प्रचलित थी। जुस जैन्टियम मे यह वैधानिक समझी जानी चाहिये थी, किन्तु रोम के विधानज्ञो ने दासो के हित में कुछ नियम घोषित किए जो शायद प्राकृतिक विधान के आधार पर आवश्यक थे।

कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि रोम के विधानज्ञ यह मानते थे कि जो दण्डात्मक विधान व्यवहार में लागू होता हो वही केवल विधान कहलाने के योग्य नही है अर्थात् व्यवहार्यता ही विधान की जान नही है। उससे ऊपर सत्य और न्याय के सनातन नियम ही व्यवहार में आने वाले नियमो को मान्यता दे सकते हैं। ये सत्य और न्याय के नियम बुद्धि सगत होते हैं और समय या स्थान के अनुसार परिवर्तित नही होते। ये ईश्वरीय नियम हैं जिनकी अभिव्यक्ति मानव की शुद्ध बुद्धि (गीता के शब्दो मे स्थिर बुद्धि) मे होती है। रोमन विधानज्ञो का विचार था कि नागरिक तथा परदेशी विधान को अधिक से अधिक इस प्राकृतिक विधान के अनुरूप होना चाहिये। प्राकृतिक विधान वह कसौटी है जिस पर नागरिक व परदेशी विधान की प्रामाणिकता कसी जानी चाहिये। समाज बना कर रहने वाला और विवेक युक्त प्राणी, जो मनुष्य है, उसके लिये उपयुक्त नीति का सिद्धान्त ही प्राकृतिक विधान का मूलमत्र समझा जाता था। रोम के विधानज्ञों के विचार इस विषय में स्पष्ट न थे कि न्याय क्या है। केवल यह कह देने से काम नहीं चलता कि प्रत्येक व्यक्ति के साथ न्याय किया जाय या उसके अधिकार की रक्षा की जाय। यह भी बतलाना चाहिये कि न्याय क्या है, अधिकार क्या है और क्यो हैं। रोम के विधानज्ञो ने न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म और सत्य-असत्य की परख कराने वाला कोई एक मूल सिद्धान्त न बतलाया हो किन्तु इतना

उन्होंने अवश्य किया कि उस समय के प्रचलित विधान से अधिक बुद्धियुक्त विधान का उन्होंने निर्माण किया। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप प्रचलित विधान को लागू करने में कुछ ऐसी बातों का ध्यान रखा जाने लगा जैसे, वचन का पालन, समानरूप से सब व्यक्तियों पर विधान को लागू करना, आचरण के पीछे उस का अभिप्राय देख कर न्याय करना, स्त्रियों की रक्षा का ध्यान रखना, रक्त-सम्बन्ध के आधार पर सम्पत्ति के स्वामित्व को मानना, इत्यादि। स्त्रियाँ व बच्चे अपनी सम्पत्ति के स्वयं स्वामी माने जाने लगे, इससे पूर्व पति व पिता का उनकी सम्पत्ति पर पूरा अधिकार माना जाता था।

राज्य सत्ता का स्रोत—रोम के विधान ने सिसरो के इस सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट कर दिया कि शासक को शासनाधिकार जनता से मिलता है। सिसरो ने केवल इतना ही कहा था कि "रिपब्लिक (राज्य) जनता की वस्तु है।" इससे यह सिद्धान्त निकल सकता है कि जनता ने ही शासक को अपने ऊपर शासन करने का अधिकार दिया है और जनता जब चाहे इस अधिकार को कम कर सकती है या एक व्यक्ति से छीन कर दूसरे को दे सकती है। रोम के विधानज्ञ यह मानते थे कि शासक का सब अधिकार जनता से प्राप्त होता है और जनता को यह अधिकार है कि वह शासन प्रभुता व शक्ति एक व्यक्ति से लेकर दूसरे को दे दे। अल्पियन का कहना था कि 'जनता ही वैधानिक सत्ता का स्रोत है'। अल्पियन के इस कथन का किसी रोमन विधानज्ञ ने विरोध नहीं किया कि 'सम्राट् की इच्छा में विधान का बल है क्योंकि जनता ने ही सम्राट् को साम्राज्य शक्ति सौंप कर अपनी सारी शक्ति और सत्ता से उसे विभूषित कर दिया। इस कथन के पहिले भाग से यह प्रतीत होता है कि रोमन विधानज्ञ शासक की निरंकुशता स्वीकार करते थे और दूसरे भाग से यह कि जनता ही सर्वप्रभु होने के कारण सम्राट् जनता का केवल प्रतिनिधि है। सेबाइन का कहना यह है कि दोनों ही अर्थ समीचीन नहीं हैं। उसके कहने के अनुसार इस कथन के मूल में केवल यही विचार है कि विधान संगठित समाज की सम्पत्ति है। सम्राट् की इच्छा में विधान का बल इसीलिये है क्योंकि सम्राट् को संगठित समाज ने ऐसा करने की स्वतन्त्रता दे रखी है। अन्यथा नहीं।' सम्राट् को विधान बनाने का वैसे ही अधिकार प्राप्त है जिस प्रकार कि असेम्बली, सीनेट या किसी मजिस्ट्रेट को प्राप्त था। ये सब संस्थायें जनता की सहमति से विधान बनाती थीं। इन संस्थाओं की इच्छा समाज की इच्छा थी। इसी प्रकार सम्राट् की इच्छा समाज की इच्छा समझी जाती थी। इसका अर्थ यह हुआ कि जब-तक संगठित समाज सम्राट् की इच्छा के विरुद्ध अपनी इच्छा का

प्रदर्शन न करे उसकी इच्छा सर्वमान्य है। सम्राट निरंकुश शासक नही ह, दूसरी ओर वह जनता का चुना हुआ कोरा प्रतिनिधि भी नही है जिसे जनता चाह तो अपन पद से हटा दे। बाद में कुछ विधानज्ञो न अल्पियन के कथन का यह अभिप्राय निकाला कि सगठित समाज ने सम्राट को सदा के लिय अपनी सत्ता सौप दी ह और इसलिय सम्राट जनता को किसी प्रकार उत्तरदायी नही है। इतनी समीक्षा के पश्चात भी यह कहे बिना नही रहा जाता कि इस विषय म रोमन विधानज्ञो के विचारो म विरोध का आभास अवश्य था। वे एक ओर यह मानते थ कि सम्राट की इच्छा ही विधान है, दूसरी ओर वे सम्राट की सत्ता का आधार जनता की सहमति कहते थे।

वैधानिकता—रोम न राजनैतिक क्षत्र म विश्व को जो विचारधारा प्रदान की वह रोम का विधान है। रोमन विधान के सिद्धान्तो को यूरोप के अन्य देशा न अपनाया और उसके बाद यूरोप के बाहर भी अब तक उन सिद्धान्तो को मान्य समझा जाता है। रोम के विधान में जिन सिद्धान्तो का समावेश था और जिन आदर्शो का अपनाया गया था उन्ही को दृष्टि में रखते हुय अन्य सामाजिक समस्यायो पर भी विचार आरम्भ हुआ। इस प्रकार रोम के विधान न उस समय विचारो के स्फुरण म बडा प्रभाव डाला। लोग विधानिक दृष्टि से प्रत्यक विषय पर विचार करन लगे। राज्य एक वैधानिक इकाई है जिसके अधिकार विधान द्वारा सीमित किय हुए ह, यह रोम के विचारको की ही सूझ थी। यूनान के राजनीतिज्ञ राज्य को नैतिक तथा सामाजिक दृष्टि स ही देखते थ उसके अधिकारो की वैधानिक सीमा का उन्हे भान ही न था। उनके लिय राज्य म व्यक्ति और धर्म सब समा जाते थ, रोम म व्यक्ति और धर्म राज्य से पृथक सत्ता रखते थ उनके अपने सीमित कार्य-क्षेत्र थे जिनमें राज्य हस्तक्षप करने का अधिकारी न समझा जाता था।

व्यवस्था—यूनानी स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र के विचारो के जन्मदाता थे, रोमी सगठन और व्यवस्था में पटु थ। सैनिक शक्ति के बल पर किस प्रकार एक बड साम्राज्य को व्यवस्थित रखा जा सकता है यह रोम के इतिहास से सीखा जा सकता है। रोम साम्राज्य में यूनानी नगर राज्य जैसी अन्तर्जनि एकता न थी। यह एकता सम्भव भी न थी इसे रखने के लिय सैनिक बल ही एक साधन था। विधान और सनिक शक्ति की सहायता से रोम साम्राज्य जीवित रहा। साम्राज्य को बनाय रखन में व्यक्ति और समूहो की स्वतन्त्रता का विचार नही रखा गया जिससे व्यक्ति व समाज का जीवन निष्प्राण होगया। फलस्वरूप व्यक्ति की वह योग्यता नष्ट हो गई जिसके बल पर वह

नई परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने में समर्थ होता है और बाधाओं पर विजय पाता है।

पृथकत्व की भावना का नाश—रोम साम्राज्य के कारण विभिन्न जाति समूहों में रोम के पूर्व जो भेद और घृणा का भाव रहता था वह बहुत कुछ मिट गया। विधान के सम्मुख सब जातियों के लोग एक समान हैं, यह रोम की देन थी। इस समानता की दृष्टि के कारण विभिन्न देशों के निवासियों में भ्रातृभावना जाग्रत हुई और ऊँचनीच का भाव कम हुआ। यूनानी पृथकत्व भावना मिटती गई। बाद में राष्ट्रीय राज्य की स्थापना के लिये यह सब आवश्यक था। एक विधान और एक राज्यसंगठन में विभिन्न देशों, परिस्थितियों और संस्कृतियों के लोग किस प्रकार रह सकते हैं, यह ऐसी व्यवस्था में क्या गुण और दोष हैं यह रोम साम्राज्य के इतिहास से जाना जासकता है।

अध्याय ६

मध्य युग का आरम्भ

रोम साम्राज्य और ईसाई धर्म

ईसाई धर्म के जन्म के समय राजनैतिक विचार—जिस समय रोम साम्राज्य में ईसाई धर्म का जन्म हुआ पढे लिखे लोगो के विचार पुरानी विचार परम्परा से दूर होते जा रहे थे। राजनैतिक जीवन और राज्य मानव-जीवन के चरम विकास के साधन है यह यूनानी धारणा निर्बल पडती जा रही थी। राज्य की सेवा करना जीवन का चरम उत्कर्ष अब न समझा जाता था। इस नई विचारधारा की झलक हमे सैनेका के विचारो मे मिलती है।

सैनेका—सिसरो के समान सैनेका भी स्टोइक दार्शनिक था। सिसरो की विचारधारा मे जहाँ लौकिक बातो पर अधिक जोर था सैनेका के दर्शन मे धार्मिकता की ओर प्रवृति दिखाई देती है। रोम की सस्कृति में स्टोइक विचारो के घुल-मिल जाने के बाद यह धारणा हो चली थी कि विश्व का एक नियामक है जो विश्व का नियत्रण करता है, वह पितावत् इस ससार के मनुष्यो के साथ व्यवहार करता है। मनुष्य एक दूसरे के इसलिये भाई हैं और एक विश्व कुटुम्ब के सदस्य है। विवेकशील होने के कारण ये सब समान हैं चाहे बोलचाल, रगरूप आदि के कारण वे एक दूसरे से भिन्न दिखाई पडते हो। मनुष्य का स्वभाव ऐसा है कि वह अपने विवेक के अनुसार कार्यकर्त्ता है और ईश्वरीय तथा मानवीय नियमो के पालन में ही अपने जीवन की सफलता समझता है। इन विश्वासो का विकास दो प्रकार से हुआ। एक ओर इस विचारधारा ने रोम के विधानप्रणाली पर प्रभाव डाला दूसरी ओर विधान और शासन की ईश्वरीय इच्छा का रूप देकर एक धर्म-सगठन के बनने मे सहायता दी। सैनेका दूसरी विचारधारा का प्रतीक था। सैनेका का कहना था कि मनुष्य बिना किसी राज्यकार्य किये भी समाज की सेवा कर सकता है। राज्य के अतिरिक्त मनुष्य बृहत्तर समाज का भी सदस्य है और इस समाज की सेवा वह राज्य शक्ति के न होने हुए भी कर सकता है। उसे शासक होने की ही आवश्यक नही है वह उपदेशक भी होकर अपना जीवन सफल कर सकता है। यह लौकिक जीवन से ऊबने वाली प्रवृति की द्योतक विचारधारा है। ईसाई धर्म के होने से पहिले ही लोगो में धार्मिक प्रवृति बढती जा रही थी। शरीर और आत्मा दोनो या कुछ पृथक-पृथक समझा जाने लगा था। राज्य शरीर के सुख से सम्बन्ध रखने वाला समझा जाता

था। आत्मा की शान्ति के लिये धर्म की आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी। राज्य लौकिक सुख के लिये और धर्म पारलौकिक कल्याण का साधन समझा जाने लगा था। इस धार्मिक प्रवृत्ति के फलस्वरूप किसी ऐसी संस्था की आवश्यकता थी जो लौकिक क्षेत्र में राज्य के समान पारलौकिक कल्याण के साधन जुटावे और मनुष्यों से इस सम्बन्ध में कर्त्तव्य सम्पादन करावे। ईसाई धर्मसंघ के रूप में यह संस्था उत्पन्न हुई। सेनेका का कहना था कि मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह समाज की किसी न किसी प्रकार सेवा करे किन्तु लौकिक सुख से आत्मा का आनन्द कहीं बढ़ कर है। वह नम्रता, मानव सहानुभूति, सद्भाव आदि गुणों को बहुत ऊँचा समझता था। अब वे गुण जो अच्छे नागरिक में पाये जाते हैं उनका इतना मूल्य न रह गया था जितना दया, प्रेम तथा सहानुभूति का था। सेनेका ने राज्य को नैतिक पूर्णता का साधन नहीं समझा। उसका यह विचार न था कि राज्य मनुष्य के पूर्ण विकास के लिये सबसे बड़ा साधन है। उसके अनुसार राज्य से पूर्व मनुष्य सब प्रकार से अच्छा था। उस प्राकृतिक स्थिति में मनुष्य निर्दोष और सुखी थे। जब वैयक्तिक सम्पत्ति का विचार जाग्रत हुआ और लोभ ने मानव पर आक्रमण करना प्रारम्भ किया तब राज्य की आवश्यकता हुई। पहिले उन्हें न विधान की आवश्यकता थी न शासक की। सम्पत्ति के लोभ ने उन्हें स्वार्थी बनाया और शासन की आवश्यकता हुई जिससे इस स्वार्थ पर समाज रक्षा के हेतु अंकुश रहे। यह विचार ईसाई मत के विश्वासों के अनुकूल था। वे भी यही समझते थे कि मनुष्य की एक ऐसी स्थिति थी जब किसी प्रकार के राज्य की आवश्यकता न थी और सब स्वभावत सत्यमार्गी और धर्माचारी थे। किन्तु इन विचारों से स्पष्ट है कि विचारों का परिवर्तन कितना महान था। जहाँ राज्य मनुष्य के विकास और पूर्ण जीवन का अन्य साधन समझा जाता था अब वह केवल ऐसा साधन भर रह गया जो मनुष्य की दुष्टता पर अंकुश रख कर जीवन को सुलभ बना दे।

ईसाई धर्म का जन्म—जिस समय रोम साम्राज्य में उच्चवर्ग के लोगों में उपयुक्त विचारों की धारा प्रवाहित हो रही थी उस समय साम्राज्य के एक एकान्त कोने में रहने वाले सीधे-साधे लोगों के बीच ईसाई धर्म का जन्म हुआ। जब तक रोम की शक्ति प्रबल रही और रोम समृद्धि तथा व्यवस्था के शिखर पर था तब तक ईसाई धर्म की उन्नति वेग से नहीं हुई, किन्तु जैसे-जैसे रोम की व्यवस्था बिगड़ती गई और समाज में अशान्ति का प्रादुर्भाव हुआ ईसाई मत के मानने वालों की संख्या बढ़ती गई। प्रारम्भ में ईसाई मत को निम्न वर्ग के लोगों ने अपनाया किन्तु बाद में उच्च वर्ग के लोग भी उसकी

ओर झुकने लगे। चौथी शताब्दी मे स्वय सम्राट कौन्सटैनटाइन ने इस धर्म को अपनाया और तब से यह साम्राज्य का धर्म बन गया। उस समय तक दूर दूर तक यूरोप मे ईसाई मत का प्रचार हो चुका था। प्राचीन धर्म मे अश्रद्धा होने लगी थी। इस मत का प्रभाव सम्राट् से मान्य होजाने के पश्चात् बहुत बढ गया। बर्बर जातियो मे भी इसका प्रचार बढने लगा। रोम सम्राट् की शक्ति ईसाई मत की वृद्धि से और बढ गई।

ईसाई धर्मसंघ का संगठन—ईसाई धर्मसघ का सगठन प्रारम्भ मे जनतन्त्री था। छोटे छोटे जाति समूहो का अपना सघ था और साधारण प्रश्नो का निर्णय स्थानीय सघ स्वय करता था। महत्त्वशाली प्रश्नो पर बड़े नगरों के धर्म सघो के निर्णयो का अधिक आदर किया जाता था। बडे नगरो के धर्म सघो के अतिरिक्त कुछ ऐसे धर्मसघ थे जिनकी स्थापना ईसा के शिष्यो द्वारा हुई समझी जाती थी।

जिस समय ईसाई धर्म साम्राज्य का राजकीय धर्म घोषित हुआ उसके पहिले से ही धर्म-सघ का सगठन ऐसा होने लगा था जिसमे एक के ऊपर दूसरा सघ अधिकारी होता था। सब का अधिकारी बिशप होता था। कई नगरो के बिशपो (पुरोहितो) पर एक प्रदेशीय बिशप और कई प्रदेशीय बिशपो के ऊपर एक प्रान्तीय बिशप होता था। प्रत्येक अपने आधीन बिशपो पर अनुशासन करता था और इस प्रकार प्रत्येक के पृथक-पृथक अधिकार और अपना गौरव था। जब ईसाई मत साम्राज्य का राजकीय मत घोषित हो गया, तब रोम का बिशप सब के मामलो में सम्राट् का सलाहकार बनाया गया। इससे रोम के बिशप का गौरव बढ गया। रोम का सघ ईसा के मुख्य शिष्य सट पीटर द्वारा स्थापित समझा जाता था जिस से रोम के सघ की बडी मान्यता थी। इस मान्यता के कारण भी रोम का बिशप सर्वोच्च समझा जाने लगा। सम्राट् को सघ के जो मामले निर्णय के लिए सौंपे जाते थ, उनमें रोम के बिशप का ही निर्णय होता था। स्वभावत रोम के बिशप को सर्वोच्च समझा जाने लगा। पश्चिमी यूरोप मे रोम के सघ ने प्रचारको को भेज कर और आर्थिक सहायता देकर धर्म प्रचार कराया था। जो नई जातियाँ ईसाई धर्म को अपनाती जाती थी वे रोम के सघ को ही अपना धर्म सघ समझती थी। इस प्रकार रोम के धर्मसघ और रोम के बिशप की प्रमुखता सर्वमान्य हो गई। रोम के शासन सगठन के समान ही सघ का सगठन हो गया।

रोम के बिशप की शक्ति में वृद्धि— जब तक योग्य व्यक्ति सम्राट् के पद को विभूषित करते रहे वे राजकीय व धर्मसघीय दोनो क्षेत्रों म अपना

प्रमुख सलाहकार रहते रहे। धर्म के मामलों में सम्राट् का निर्णय अन्तिम निर्णय होता था। रोम का बिशप केवल परामर्शदाता भर ही रहा। जब साम्राज्य की राजधानी रोम से हट कर कुस्तुन्तुनियाँ नगर में चली गई तब रोम के बिशप के ऊपर नियन्त्रण रखने वाली कोई शक्ति न रही और वह अधिक स्वतन्त्रता से काम करने लगा। वह रोम नगर का प्रधान अधिकारी समझा जाने लगा। और राज्य के कार्य में अधिक सक्रिय भाग लेने लगा। धीरे-धीरे बिशप रोम के आसपास के छोटे राज्य का शासक बन गया। इस का कारण यह भी था कि एक ओर पश्चिमी साम्राज्य के शासक अयोग्य व्यक्ति होते गये दूसरी ओर प्रतिभाशाली व्यक्ति बिशप के पद पर आरूढ हुये। सम्राट की अयोग्यता से लाभ उठा कर इन लोगों ने अपनी शक्ति बढ़ानी प्रारम्भ की।

बर्बर जातियों ने रोम साम्राज्य पर उत्तर की ओर से आक्रमण करना आरम्भ किया तो अराजकता और अशान्ति फैली। रोम की शासन व्यवस्था बिगड़ने लगी। उसकी राजनीतिक संस्थायें नष्ट-भ्रष्ट होने लगी या उनका रूप विकृत होने लगा। इसके विपरीत आक्रमणकारियों ने ईसाई संघ को छूआ तक नहीं। उसका संगठन ज्यों का त्यों बना रहा। जब सर्वत्र अराजकता के कारण त्राहि-त्राहि मची हुई थी, उस अंधेरे में ईसाई धर्मसंघ दीपक का काम कर रहा था। संगठन और व्यवस्था का वही उदाहरण बना हुआ था। पतनोन्मुखी समाज में ईसाई धर्म के सिद्धान्तों की ओर लोगों की प्रवृत्ति भी बढ़ रही थी। धीरे-धीरे संघ ने शान्ति स्थापित करने के लिए बहुत से वे काम अपने हाथ में ले लिये जिनका धर्म से कोई सम्बन्ध न था। धर्म-संघ का अधिकार लौकिक क्षेत्र में बढ़ने लगा। राज्य के अधिकारियों की अपेक्षा बिशपों का महत्त्व अधिक हो गया। आक्रमणकारियों के आधीन राज्यों में तो बिशप ही राज्य का सब कार्य करते थे।

धर्मसंघ में फूट—प्रारम्भ में ईसाई धार्मिक विचार सीधे-साधे थे। जब यूनानियों ने इस धर्म को अपनाया तो उन्होंने नये-नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना आरम्भ किया। इन सिद्धान्तों में प्राचीन धर्म के विचारों का भी समावेश हुआ। उत्तर की बर्बर जातियों ने जब इस धर्म को अपनाया तो उनके विश्वासों का भी ईसाई धर्म पर रंग पड़े बिना न रहा। परिणाम यह हुआ कि ईसाई धर्म विभिन्न सिद्धान्तों की खिचड़ी बन गया। ऐसी स्थिति में यह निश्चय करना आवश्यक हो गया कि शुद्ध ईसाई धर्म क्या है और उपासना का कौनसा ढंग मान्य है। आस्तिक और नास्तिक का झगड़ा चल पड़ा। नास्तिकों को दण्ड देने की आवश्यकता पड़ी। दण्ड के

लिये धार्मिक विधान की रचना हुई और दण्ड देने के अधिकारो की व्यवस्था हुई। यह विधान रोमन विधान के आधार पर बनाया गया और विशप इस विधान का उपयोग करने लगे। ऐरियन नास्तिकता ने जब ईसाई धर्म सघ में खलबली मचानी आरम्भ की तब चौथी शताब्दी मे सघ की एक कौंसिल ने रोम के विशप को यह अधिकार दे दिया कि वह आधीन विशपो के निर्णयो के विरुद्ध अपील सुन सकता है और अपना अन्तिम निर्णय दे सकता है। इस प्रकार रोम का विशप सघ का सर्वोच्च दण्डधर बन गया, जिस प्रकार सम्राट् राज्य का दण्ड धर था।

जब साम्राज्य की राजधानी कुस्तुन्तुनिया मे बनी तो वहाँ भी एक धर्म सघ की स्थापना हुई। यह सघ और इसका विशप सम्राट् के आधीन ही रहा, रोम की तरह स्वतत्र न हो पाया। पूर्व दिशा से ईसाई धर्म के विरुद्ध नास्तिकता का प्रचार होने के कारण सम्राट् की शक्ति का बराबर मुँह देखना पडा जिससे वहाँ का विशप रोम के विशप की तरह शक्तिशाली न बन सका। इन दोनो धर्म सघो मे भाषा और विचारो के कारण आरम्भ से ही बिलगाव था। सिद्धान्तो की विभिन्नता भी थी। आठवी शताब्दी म मूर्ति पूजा के प्रश्न पर दोनो सघो में फूट पड गई और वे हमेशा के लिये अलग हो गये। रोम के विशप को राजधानी से बाँधने वाला यह सूत्र भी टूट गया।

पोप के गौरव की उन्नति—राजधानी के पूर्व मे चले जाने के कारण, रोम के विशप को सारे साम्राज्य के धर्म सम्बन्धी मामलो मे अन्तिम निर्णय दिये जाने के कारण और बर्बर जातियो के आक्रमणो के फलस्वरूप पश्चिम में सम्राट् की शक्ति और अधिकार का ह्रास हो जाने से रोम के धर्मसघ और उसके विशप का अधिकार बढ गया। धार्मिक विषयों मे अधिक स्वतत्र होन के साथ साथ धर्मसघ अब लौकिक मामिलो मे अधिकाधिक प्रभुत्व जमाने लगा। रोम का विशप लौकिक शासक का पद लेने लगा और उसके आधीन पादरी राज्य कर्मचारी बनने लगे। गौथो को हरा कर इटैली के राज्यो के साम्राज्य में मिलाने के फलस्वरूप रोम नगर और उसके *आस पास के प्रदेशों* के लोगो का जीवन बिलकुल अस्त व्यस्त हो गया था। उसके बाद ही उत्तर से लम्बार्डी नाम के आक्रमणकारियो ने अपनी विनाश क्रिया आरम्भ की। सम्राट् अब इतना सबल न था कि रोम और इटैली की रक्षा करता। लम्बार्डी के राजा ने रोम को घेर लिया और उसके आस पास के प्रदेश पर अधिकार कर लिया। रोम के विशप ने राजा के इस प्रयत्न का विरोध किया कि रोम उसके राज्य में मिला लिया जाय, किन्तु सफलता न होने देख पोप ने पश्चिम में बसे हुये फ्रैंको से सहायता मांगी। ये लोग ईसाई धर्म के

अनुयायी थे। इनके सरदार चार्ल्स मार्टल और उसके पुत्र पीपिन ने सहायता दी, लम्बार्डों को मार भगाया और रोम के प्राचीन प्रदेश को वापिस पोप को दे दिया। इसके अतिरिक्त कुछ और प्रदेश भी जीत कर पीपिन ने पोप को भेंट कर दिये। पोप पहिले ही से व्यवहार में लोक शासक था अब प्रकट रूप से यह प्रदेश का स्वामी और शासक बन गया। बदले में पोप ने अनाधिकारी पीपिन को फ्रैंकों का राजा मान लिया और उसका राज्याभिषेक किया। उससे पूर्व अनाधिकारी होने के कारण उसे यह मान्यता प्राप्त न थी। अब पोप का प्रभुत्व राजाओं से भी अधिक हो चुका था। सन् ८०० में जब पीपिन का पुत्र शार्लमेन एक विशाल फ्रैंक राज्य का उत्तराधिकारी हुआ तो पोप ने उसे रोम का सम्राट घोषित किया। इस प्रकार पवित्र रोम साम्राज्य का आरम्भ हुआ।

पोप के पद पर नियुक्ति—पोप के पद पर रोम के निवासी और पादरी एक व्यक्ति को चुन कर नियुक्त करते थे। नये पोप के चुनाव के पश्चात् प्रायः विरोधी दलों में मारकाट हुआ करती थी। जब परिस्थिति बदली तो नगर के कुछ कुलीनों ने जिनका नगर में बड़ा प्रभुत्व था इस पद पर अपने अनुकूल व्यक्तियों को चुनना आरम्भ कर दिया। रोम के बाहर पोप का बड़ा गौरव था किन्तु स्वयं रोम में पोप इन कुलीनों की कठपुतली बना रहता था। ये लोग जब चाहते पुराने पोप को हटा देते और नये पोप को नियुक्त कर देते। कभी-कभी महा अयोग्य व्यक्ति इन कुलीनों के सहारे से पोप बन जाते थे। पोप के पद पर योग्य और पवित्र व्यक्ति ही नियुक्त हों इस अभिप्राय से सन् १०५९ में संघ की एक कौंसिल ने यह व्यवस्था कर दी कि पादरियों का एक निश्चित दल ही पोप को चुनें। उसके बाद यह भी निश्चित हुआ कि पोप के पद पर चुने जाने के लिये व्यक्ति का आचरण आदि कैसा हो।

ईसाई धर्म संघ के राजनैतिक विचार

ईसाई मत ने नये राजनैतिक विचारों को प्रचुर मात्रा में जन्म नहीं दिया। जिस समय इस धर्म का जन्म हुआ उस समय साधारणतया यह स्टोइक विचारधारा जम चुकी थी कि ईश्वर इस संसार का शासक है। प्राकृतिक विधान जो मानव की बुद्धि से व्यक्त होता है वह इस ईश्वरीय विश्वराज्य का नियन्त्रण करता है, ईश्वर की दृष्टि में सब मनुष्य बराबर हैं और राज्य तथा विधान का उद्देश्य न्याय की स्थापना है। इन विचारों को ईसाई मत के अनुयायी भी मानते थे और अन्य मतावलम्बी भी। ईसाइयों के विचार धार्मिक थे राजनैतिक न थे। वे अन्य मतावलम्बियों के समान ही प्रचलित

राजनैतिक विचारो को स्वीकार करते थे । केवल उनमे वे धार्मिक पुट दे देते थे । उदाहरण के लिये वे कहते थे कि विधान ईश्वर प्रेरित है और उनकी धर्म पुस्तको मे वह मिलता है ।

स्वय ईसा को राजनीति मे कोई मनलगाव न था । उसने जीवन के ऐसे सिद्धान्तो का उपदेश किया जिन पर चलने से राज्य के नियत्रण की आवश्यकता ही न हो । नैतिक आचरण को शुद्ध बनाना ही ईसा का उद्देश्य था, नैतिक आचरण जितना ही उच्च होगा राज्य के नियत्रण की आवश्यकता उतनी ही कम हो जाती है । सम्पत्ति तत्जनित अधिकार को हीन बतलाना और निर्धनता व नम्रता को सर्व श्रेष्ठ ठहराना राज्य की उपयोगिता को नष्ट करना है । इस लोक की अपेक्षा परलोक को अधिक महत्व देना भी राज्य के महत्व को कम करता है ।

न्यू टेस्टामेंट से हमे कुछ विचारो का पता चलता है जो ईसा के शिष्यो ने प्रतिपादित किये । पौल ने सब मनुष्यो की समानता दिखाते हुये कहा था "एक यूनानी है और दूसरा यहूदी, एक दास है और दूसरा स्वतत्र है यह स्त्री है और वह पुरुष है ऐसा कोई भेद वास्तव मे नही है क्योकि तुम सब ईसा मे सब एक रूप से अन्तर्भूत हो ।" इस उपदेश मे बाहरी विभिन्नता को गौड समझ कर मूल एकता को प्रधानता दी है । इसी विचार के आधार पर आगे चल कर सब मनुष्यो की मौलिक एकता पर विश्वास जम गया । ईसाई धर्मावलम्बी व्यावहारिक भेदो को मानने से इन्कार नही करते प्रतीत होते थे क्योकि दास प्रथा को वे अधार्मिक नही समझते थे । उनकी दृष्टि मे दास का शरीर बन्धन में है, आत्मा बन्धन में नही है, इसलिये दास और स्वतत्र व्यक्ति मे मूलत कोई भेद नही है ।

राज्य-सत्ता के आदेशो के आगे सिर झुकाना स्वय ईसा ने ही अपने आचरण द्वारा सिखाया । ईसा के ये शब्द प्रसिद्ध हो गये हैं कि "सीजर के प्रति वह बाते करो जो सीजर की है और ईश्वर के प्रति वे जो ईश्वर की हैं ।" यह राज्य के प्रति निष्ठा रखने और उसके आदेशो का पालन करने का सकेत है। सेंट-पौल का कहना था कि प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी सत्ता के आधीन रहे ।.सब प्रकार की सत्ता ईश्वरीय सत्ता है क्योकि ईश्वर की सत्ता के अतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता नही है । जो कोई भी इस सत्ता का विरोध करता है वह ईश्वर के आदेशो का विरोध करता है और जो ऐसा करेंगे वे दण्ड पायेंगे । शासक भलाई के लिये नही वरन् बुराई के घातक हैं । सेंट-पौल का यह उपदेश ईसाई धर्म का सिद्धान्त बन गया और सत्ता के प्रति निष्ठा तथा उसकी आज्ञा का पालन एक सद्गुण गिना जाने लगा । कुछ लोगो का

कहा गया है कि यह उपदेश तत्कालीन ईसाई समाज की न्यूनता हीनता को ध्यान में रख कर दिया गया था और उसका बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा।

राज्य के रूप के सम्बन्ध में न्यू टैस्टामैंट में लिखा है कि राज्य ईश्वर निर्मित संस्था है और राज्य शक्ति ईश्वर से प्राप्त होती है। रोम के विधानज्ञों का सिद्धान्त इससे विपरीत था। वे राज्य शक्ति को जनता द्वारा सुपुर्द शक्ति समझते थे। ईसाई शासक को ईश्वर का मंत्री समझते थे। शासक की आज्ञा इसलिये ईश्वर की आज्ञा समझी जाती थी। ईसाई धर्म प्रचारकों का इस प्रकार का उपदेश देने का तात्पर्य यह रहा हो कि वे रोम के शासकों के विरोध से बचे रहें। सम्भव यह भी है कि यदि वे अपने अनुयायियों को ऐसा उपदेश न देते तो विधर्मी शासक इस नये धर्म के प्रचार में बाधा अवश्य डालते। ईसाई धर्म का प्रचार प्रारम्भ में निम्न श्रेणी के लोगों में हुआ था। श्रद्धा के आधार पर उन्हें धर्म का उपदेश देना ही सुकर था। जब ईसाई धर्म का उच्चवर्गों में प्रचार हुआ स्टोइक विचारों व सिद्धान्तों से इस धर्म के फैलने में बड़ी सहायता मिली। उच्चवर्गों में स्टोइकों के ये सिद्धान्त मान्य हो चुके थे कि विश्व के सब मनुष्य एक विश्वराज्य के नागरिक हैं और आपस में समान हैं। इस विश्वराज्य के विधानों का अधिष्ठान मनुष्य की सद्विवेक बुद्धि है जो ईश्वर निर्मित है। असल में ईसा के शिष्यों के विचारों पर इन स्टोइक विचारों की छाप थी। या यों कहा जा सकता है कि उस समय का वातावरण स्टोइक विचारधारा के अनुकूल था। धर्मोपदेशकों ने जब साधारण लोगों के सामने ये विचार रखे तो उन्हें धार्मिक रूप दे दिया जिससे वे सहज ही श्रद्धोपयोगी बन गये।

एम्ब्रोस, ऑगस्टाइन और ग्रेगरी महान्

चौथी शताब्दी में जब ईसाई मत राजकीय मत घोषित हुआ उस समय तक ईसाई धर्म संघ एक बहुत बड़ा संगठन बन चुका था। संघ के पास बड़ी सम्पत्ति हो गई थी। यह सम्पत्ति मुख्यतया भूमि के रूप में थी। भूमि ही उस समय सम्पत्ति का सब से महत्त्वपूर्ण रूप था। संगठन का रूप शासकीय जैसा बन चुका था। धर्माधिकारियों की सीढ़ी बन कर महन्तशाही स्थापित में भी हो चुकी थी। ईसाई पुरोहित धर्मक्षेत्र के अतिरिक्त शासकीय मामलों में अपना अधिकार जताने लगे थे। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि निश्चित धार्मिक सिद्धान्तों का भी जन्म हो जिनके आधार पर संघ का धार्मिक शासन चल सके। नास्तिकता को रोकने के लिये इन सिद्धान्तों के पालन पर कड़ी दृष्टि रखी जाने लगी थी।

इसी समय एम्ब्रोस, ऑगस्टाइन और ग्रेगरी महान् हुये जिन्होंने अपने लेखो में सघ और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध और उनके कार्यक्षेत्र के बारे में अपने विचार प्रकट किये। एम्ब्रोस चौथी शताब्दी मे, ऑगस्टाइन पाचवी शताब्दी के आरम्भ मे और ग्रेगरी छठी शताब्दी में हुआ। इन्होने सघ और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धी कोई क्रमबद्ध सिद्धान्त स्थिर नही किये किन्तु जो विचार इनके द्वारा व्यक्त हुये वे बाद में इस विषय के प्रमाणभूत सिद्धान्त माने जाने लगे। एम्ब्रोस सघ की स्वायत्तता का बडा पक्षपाती था। उसका कहना था कि धर्म के मामलो मे सब लोगो पर सघ का पूर्ण अधिकार है यहाँ तक स्वय सम्राट् भी इन मामलो म सघ के अनुशासन में है। एक मामले मे उसने सम्राट् वैलेन्टीनियन से कहा था कि धर्म के मामले मे पादरी सम्राट् का न्याय करेंगे न कि सम्राट् पादरियो का। जब वैलेन्टीनियन ने एम्ब्रोस को यह आज्ञा दी कि वह एक गिरजा घर को ऐरियनो को दे दे तो उसने ऐसा करने से मना कर दिया और कहा कि सम्राट् महलो का स्वामी है पादरी गिरजाघर का। उसका कहना था कि धर्म का एक निश्चित क्षेत्र है जिसमें राजा हस्तक्षेप नही कर सकता। लौकिक मामलो म वह राजा की सत्ता स्वीकार करता था। राजा कर वसूल कर सकता है, सघ की भूमि भी ले सकता है परन्तु गिरजाघर नही ले सकता। वह ईश्वर का गृह है, जो ईश्वरीय वस्तु है, उस पर सम्राट् का आधिपत्य नही हो सकता। यह सब कहते हुये भी एमब्रोस सम्राट् के आदेशो के पालन को बलपूर्वक रोकने के पक्ष में न था। वह सम्राट् के विरुद्ध जनता को भडकाने के विरुद्ध न था। वह सम्राट् की अनधिकार चेष्टाओ को धार्मिक ढग से आत्मा के बल से रोकना चाहता था। उसके अनुसार पादरी का यह धर्म था कि वह सदाचार के सम्बन्ध में सम्राट् की भी भर्त्सना करे। सम्राट् थियोडोसियस की नरहत्या के अपराध के कारण एम्ब्रोस ने बडी भर्त्सना की। अन्य लौकिक विषयो मे वह सम्राट् की आज्ञापालन का विरोध करना ठीक न समझता था।

ऑगस्टाइन ने अपनी पुस्तक 'ईश्वरीय नगर" म मानव इतिहास का महत्त्व और उद्देश्य बतलाते हुये कहा है कि ईसाई तत्र मनुष्य के आध्यात्मिक विकास की चरम सीमा है। मनुष्य की प्रकृति का दो प्रकार का रूप है, एक जड जो शरीर के रूप में व्यक्त है और दूसरा चेतन जो आत्मा के रूप में स्थित है। इस द्विविधा प्रकृति के कारण मनुष्य दो समाजो का अग है, एक लौकिक समाज का जिसका सम्बन्ध शरीर के भरण, पोषण, रक्षा आदि से है, और दूसरे दैवी समाज का जहा आत्मिक शान्ति और अमरत्व प्राप्त रहता है। रोम साम्राज्य उसके अनुसार शैतान का राज्य था। ईश्वर का

साम्राज्य यह तब से हुआ जब उसमें ईसाई धर्म मान्य हो गया। पहिले में समाज संगठन का आधार मनुष्य की वासनायें थी, दूसरे का आधार आत्मा की शान्ति और अमरत्व है। आगस्टाइन इन दो प्रकार के समाजों के पारस्परिक संघर्ष को ही मानव इतिहास मानता था। मनुष्य के लौकिक और पारलौकिक जीवन म पारलौकिक जीवन को वह अधिक महत्त्व देता था। इसलिये वह राज्य को जिसका सम्बन्ध लौकिक जीवन से है ईश्वरीय राज्य से नीचा गिनता था। लौकिक जीवन में मनुष्य को कभी शान्ति नही मिल सकती, पारलौकिक जीवन ही मनुष्य का अन्तिम ध्येय है। यह पारलौकिक जीवन ईसाई संघ द्वारा ही सम्भव है। *सेबाइन का कहना है कि यह मानना* ठीक नही है कि आगस्टाइन ईसाई संघ को ईश्वरीय राज्य न समझता था और लौकिक सत्ता को वह शैतान का राज्य मानता था।

राज्यशक्ति को आगस्टाइन ईश्वरप्रदत्त मानता था जैसा कि अन्य ईसाई विचारक मानते थे। राज्य मनुष्य के पाप को दबाने के लिये बल का प्रयोग करता है, राजा की आज्ञा मानना धर्म है क्योंकि पाप का प्रायश्चित होकर मनुष्य पुण्यात्मा बनता है। आगस्टाइन के अनुसार राज्य वही है जो ईसाई मत को मानता है जिसमे शारीरिक वासनाओं की पूर्ति की अपेक्षा आत्मिक शान्ति पर अधिक ध्यान दिया जाता है और जहा एक धर्म को मानते हुये श्रद्धा पूर्वक सब लोग एक भाव से रहते हैं। इस प्रकार आगस्टाइन ने धर्म और राज्य का भेदहीन मेल कर दिया। धर्म और राज्य की एक रूपता का विचार तब से कई शताब्दियों तक लोगो के मन से न हटा, और आज भी *यह बिलकुल हट गया है यह कहना असम्भव है। आगस्टाइन सिसरो व अन्य* विधर्मी विचारकों के इस सिद्धान्त को न मानता था कि राज्य का कर्तव्य न्याय की स्थापना करना है। इसका कारण वह यह बतलाता था कि विधर्मी राज्यो में ऐसा कभी सम्भव ही नही हुआ। ईसाई मत को मानने वाले राज्य म ही यह सम्भव होने से यह कहा जा सकता है कि ईसाई धर्म्म ही न्याय की स्थापना कर सकता है। आगस्टाइन युद्ध म हार को ईश्वर से दिया हुआ पापो का दण्ड समझता था। इसी आधार पर युद्ध में हारे हुये लोगो को दास बनाना बुरी बात न थी, दास अपने पापो का फल भोगता है।

ग्रैगरी के अनुसार प्रजा को यह अधिकार नही है कि वह राजा की आज्ञा की अवज्ञा करे चाहे राजा कितना ही अनाचारी क्यो न हो। यदि राजा दुराचारी है तो वह ईश्वर से दण्ड पावेगा। इस लोक में राजा के ऊपर ईश्वर के सिवाय और कोई सत्ता नही है। पादरी भी केवल असन्तोष प्रकट कर सकता है, राजा की आज्ञा का उल्लघन नही कर सकता।

इन तीनों विचारकों में से आगस्टाइन के विचारों का प्रभाव बहुत पड़ा। आगे आने वाले अन्य विचारकों ने आगस्टाइन के विचारों को बहुत कुछ अपनाया। ब्राइस के कथनानुसार आगस्टाइन की "ईश्वरीय नगर" की पुस्तक के आधार पर "पवित्र रोम साम्राज्य" की स्थापना हुई। शार्लमेन इसी पुस्तक की शिक्षा को मानकर अपने साम्राज्य में ईश्वर की इच्छा को शासक का रूप देना चाहता था।

ट्यूटन जातियों के राजनैतिक विचार

छठी शताब्दी तक पश्चिमी यूरोप पर रोम के विचारों का प्रभुत्व था। विचारक और लेखक सब के सब राज्य तथा विधान के सम्बन्ध में एक से ही विचार रखते थे जो प्राचीन रोम में मान्य हो गये थे। रोम की परम्परा ईसाई मत के फैलने के बाद भी ज्यों की त्यों चली आ रही थी। किन्तु जब से उत्तरी आक्रमण-कारियों ने अपना प्रभुत्व जमाना आरम्भ किया रोमन विचारों और संस्थाओं पर आक्रमण कारियों के विचारों और संस्थाओं की छाप पड़ने लगी। छठी और नवीं शताब्दी के बीच पश्चिमी यूरोप से रोम का प्रभाव हट गया। साम्राज्य की राजधानी हटने से रोम पर सम्राट् का प्रभुत्व न रहा। न रोम के धर्मसंघ का पूर्वीधर्म संघ से सम्बन्ध रहा। रोम का बिशप इटली के एक बड़े भाग का स्वयं शासक था और रोम सम्राट् के स्थान पर पश्चिम में फ्रैंकों के राजा से अधिक निकट रहने लगा था। आक्रमणकारियों के हमलों के कारण एक स्थान से बहुत बड़े राज्य पर शासन करना कठिन हो रहा था। दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी में हूणों के फिर आक्रमण हुये और अराजकता फैली। ऐसी अशान्ति के समय में राजनीतिज्ञों और विचारकों का होना सम्भव न था। किन्तु नवागन्तुकों की संस्कृति का पुरानी रोमन संस्कृति के मेल होने से विधान और राज्य के सम्बन्ध में कुछ नवीन धारणायें उत्पन्न हुईं।

ट्यूटन लोग व्यक्ति की स्वतन्त्रता को बहुत महत्त्व देते थे। राज्य का वैसा महत्त्व न था जैसा रोम साम्राज्य में था। इस वैयक्तिक स्वतन्त्रता का प्रभाव आगे चल कर सामन्तवादी प्रथा के जमने में पड़ा। यह वैयक्तिक भावना इन लोगों के विधान सम्बन्धी विचारों में भी पाई जाती थी। विधान राज्य की सम्पत्ति न होकर उस व्यक्ति समूह की सम्पत्ति समझी जाती थी जो उससे नियन्त्रित होता था। इसका अर्थ यह हुआ कि जहाँ कहीं भी यह समूह जाता था अपना विधान अपने साथ ले जाता था। जब ये लोग रोम साम्राज्य में आये तो रोम के विधान को न मानते थे। इसी धारणा के कारण ट्यूटन राज्यों में रोमन लोगों पर ट्यूटन विधान लादना ठीक नहीं समझा

गया, परन्तु रोम के विधान ही उन पर लागू होते थे। धीरे धीरे रोमन विजेताओं ने ट्यूटनों के प्रचलित रीति रिवाजों को लिपिबद्ध किया। ट्यूटन और रोमन व्यक्तियों के मामलों के लिये ऐसे सामान्य विधानों की रचना हुई जो सब जातियों पर लागू होते थे। कुछ समय के पश्चात् यह धारणा मिट गई कि विधान किसी जाति विशेष की निजी वस्तु है और यह माना जाने लगा कि विधान प्रादेशिक है। वह एक प्रदेश में रहने वाले सब लोगों पर समान रूप से लागू है। सारे राज्य में एक विधान की कल्पना अभी न हुई थी। एक ही राज्य में विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न विधान थे। व्यवहारात्मक विधान की राज्य में सर्वमान्यता इस बात पर निर्भर करती थी कि राजा कहां तक सारे राज्य पर अपनी शक्ति या प्रभाव रख सकता था। स्थानीय विधान राजा के विधान से और सामान्य विधान से प्राय: भिन्न होते थे।

विधान निर्माण—विधान क्या है इसके सम्बन्ध में भी ट्यूटनों के विचार रोमन विचारों से भिन्न थे। वे विधान को मानव-निर्मित न समझते थे। वे यह कल्पना न कर सकते थे कि विधान को किसी व्यक्ति या समूह ने बनाया है। इसके विपरीत व्यक्ति या समूह विधान निर्मित समझा जाता था। विधान की कल्पना वैसी ही थी जैसी प्राचीन धर्मशास्त्रों में धर्म की थी। धर्म सब जगह प्रोत-प्रोत, अमर और अटल समझा जाता था। अनादिकाल से जो रीति-रिवाज चले आ रहे हैं वही धर्म है, विधान है, ऐसी सर्वमान्य धारणा थी। इस धारणा के होते हुए यह कैसे कहा जा सकता था कि विधान का निर्माण कोई राजा या विधानज्ञ या प्रगल्भवती करती है। नई परिस्थिति का सामना करने के लिये नए विधान के बनाने की आवश्यकता न थी, प्रचलित विधान का मूल अभिप्राय मालूम कर केवल इतना कहना ही आवश्यक माना जाता था कि विधान क्या होना चाहिये। इस अभिप्राय को कोई विधानज्ञ या राजा मालूम न करता था। विधान सारी जनता की सम्पत्ति समझी जाती थी और आवश्यकता पड़ने पर वही यह निश्चित करती थी कि विधान क्या है। इस प्रकार यह धारणा सर्वमान्य हो चुकी थी कि विधान में उलट-फेर करना या उसके संदिग्ध रूप को निश्चित करना सारे समाज का काम है जिसमें वह विधान व्यवहृत है।

विधान और शासक—जिस विधान का स्वरूप इतना व्यापक था शासक उससे बाहर न रह सकता था, राजा का काम इतना भर था कि वह समाज के प्रमुख जानकार व्यक्तियों से सलाह लेकर यह घोषित कर दे कि प्रचलित विधान क्या है। वह विधान का निर्माता न समझा जाता था। वह विधान से ऊपर न था वरन् उस समाज का सदस्य होने के नाते उस पर भी

विधान लागू होता था। राजा प्रचलित रीति-रिवाज के अनुसार ही शासन कर सकता था। वह उनकी अवज्ञा कर उनके विरुद्ध कोई कार्य न कर सकता था। प्रचलित रीति रिवाजो के अनुसार समाज के जीवन को संगठित करना ही उसका कर्तव्य था। राजा का शासनाधिकार देश के विधानो से नियन्त्रित है इस सिद्धान्त का मूल इसी प्राचीन धारणा म था। इस धारणा के रहते हुए राजा कभी निरकुश नही हो सकता। रोमन विधानज्ञो के अनुसार राजा को शासन का अधिकार मिलने के पश्चात् सब तरह की वैधानिक प्रभुता प्राप्त हो जाती थी, किन्तु मध्ययुग के इस सिद्धान्त के अनुसार राजा को प्रतिक्षण प्रजा के साथ सहयोग करने की आवश्यकता पडती है। वह प्रजा की इच्छा व उनके सनातन धम्मा के विरुद्ध नही चल सकता। ट्यूटन राज्यो मे शासन शक्ति रोमन शासको की तरह केन्द्रित न थी जहाँ सीनेट, सम्राट् या विधानज्ञो के आदेशो के द्वारा शासन होता था। इन ट्यूटन राज्यो मे न एक विधान था न एक व्यक्ति पूर्ण अधिकारी शासक। शासन शक्ति सारे सगठित समाज में थी और स्थानीय रीति रिवाजो का नियम न था। जो व्यक्ति शासन करते थे या शासन मे भाग लेते थे उनकी शासन शक्ति केवल इसीलिये मान्य न थी कि वे राज्य मे ऐसा अधिकार पाये हुए है और राजा के कर्मचारी है। किन्तु समाज म एक विशिष्ट स्थान प्राप्त होने के कारण ही वे इस शासन के अधिकारी समझे जाते थे। राजा द्वारा नियुक्ति होने की उन्हे आवश्यकता न होती थी। इससे स्पष्ट है कि शासन-शक्ति विभिन्न स्थानो व व्यक्तियो मे विकेन्द्रित रहती थी। इन ट्यूटन राज्यो मे रोमन सम्राट् की तरह शासन सत्ताधारी जैसा राजा मध्ययुग के आरम्भ में न था।

राजा की नियुक्ति—ट्यूटन जातियाँ अपने नेता को अर्थात् शासक को चुना करती थी। यह प्रथा पुरानी रही होगी क्योकि ये लोग कुशल योद्धा के नेतृत्व में लडने वाले लोग थे। जब विजय के पश्चात् इनके राज्य बस गये तब शायद राजा का अधिकार वशागत होने लगा। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस के बाद भी यह धारणा बनी रही कि राजा प्रजा द्वारा चुना जाता है। तत्कालीन राज्याभिषेक घोषणाओ से यह निष्कर्ष निकलता है कि मध्ययुग के आरम्भ मे राजा को दो प्रकार का अधिकारी माना जाता था। वह राज्य का उत्तराधिकारी और प्रजा से चुना हुआ समझा जाता था। चुनाव वास्तव में आजकल की तरह न होता था न सब व्यक्ति राजा को चुनने में भाग लेते थे। समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति यदि राजा के उत्तराधिकारी को राजा मान लेते थे तो वह राजा बन जाता था। इन प्रतिष्ठित व्यक्तियो

की मान्यता प्राप्त होना आवश्यक था और यह मान्यता सारी जनता की मान्यता समझी जाती थी। ये प्रतिष्ठित व्यक्ति साधारण निर्वाचित रूप से यह मान्यता न देते थे, किन्तु जिस वर्ग या सम्प्रदाय में प्रतिष्ठाप्राप्त होते थे उसकी ओर से यह मान्यता प्रदान की जाती थी।

सामन्त-वादी प्रथा— मध्ययुग में राज्य व्यवस्था का रूप सामन्तवादी था। यह ऐसा युग था जब चारों ओर अव्यवस्था और अशान्ति के कारण बड़ी शासन व्यवस्था स्थापित करना कठिन था। भूमि ही उस समय एकमात्र जीविका का सहारा थी और यही सम्पत्ति थी। आजकल का जैसा न उद्योग था न व्यवसाय। गाँव ही उस समय शासन की छोटी इकाई थी। भूमि पर सारे गाँव वालों का स्वामित्व था और प्राचीन रीति-रिवाजों के अनुसार इस भूमि का उपयोग होता था। गाँव को स्वयं ही अपनी रक्षा का प्रबन्ध करना पड़ता था, क्योंकि उस समय आने-जाने के सुगम साधन न थे और कोई केन्द्रीय राज्य सत्ता न थी जो व्यवस्था बनाये रखती। गाँव की रक्षा का भार जमींदार या यों कहिये गाँव के सबल व्यक्ति पर ही पड़ता। यह यह भार तब तक न उठा सकता था जब तक कि अपने से बलवान किसी अन्य व्यक्ति का सहारा न पा ले जो आवश्यकता पड़ने पर उसकी सहायता कर सके। रक्षा की इस सहायता के बदले में छोटा जमींदार बड़े जमींदार का आसामी बन जाता था, अर्थात् जमीन पर अपना स्वामित्व अपने रक्षक को सौंप कर स्वयं उस पर कृषि करता और अपने रक्षक को उपज का भाग देता था। रक्षक और रक्षित का यह सम्बन्ध वैयक्तिक था, इसका रूप राजकीय न था। इन रक्षित कृषकों के अतिरिक्त कुछ ऐसे व्यक्ति थे जो वीर लड़ाकू थे, किन्तु जीविका का साधन उनके पास न था। ये लोग किसी बड़े जमींदार के पास रहते और भरण-पोषण के बदले में उसकी युद्ध में सहायता करते थे। प्रत्येक छोटा जमींदार अपने से बड़े जमींदार, बड़ा जमींदार अपने से अधिक बड़े जमींदार और इसी तरह इन पारस्परिक सम्बन्धों की लड़ी बनी हुई थी। यह सिलसिला राजा तथा पादरी तक चलता था। राजा या पादरी भी अपनी भूमि को सामन्तों में बाँट देते थे और ये सामन्त राजा या पादरी को सैनिक सहायता देने को वचन बद्ध हो जाते थे। फिर सामन्त बड़े जमींदार को बाँटते, बड़े जमींदार छोटे जमींदार को, इस प्रकार सीढ़ी के अन्तिम डंडे पर जमीन का जोतने वाला किसान होता था। प्रत्येक अपनी भूमि को अपने से छोटे व्यक्तियों को पट्टे पर उठाये रहता था। पट्टे की यह प्रथा धर्मसंघ की भूमि-वितरण में भी प्रचलित हो गई थी। इस प्रकार भूमि के पट्टे के और सैनिक सहायता के वचन के आधार पर ऊपर से नीचे तक सब व्यक्ति एक दूसरे से जुड़े हुए थे।

जहाँ इस प्रकार की व्यवस्था हो वहां स्पष्ट है कि कोई इस प्रकार की सेना राज्य मे नही हो सकती जो पूरी तरह से राजशक्ति के आधिपत्य में हो । आवश्यक्ता पडने पर एक दूसरे से सैनिकों की मांग करता था तब कही सेना तैयार होती थी । यह स्वाभाविक था कि ऐसी व्यवस्था में राजा शक्तिशाली न हो सकता था क्योकि उसे सामन्तो का मुँह देखना-पड़ता था। यही बात धन के सम्बन्ध मे भी सच थी। कर लाने की प्रथा न थी और राजा प्रजा पर कर लगा कर राज्य कार्य के लिये धन एकत्रित न कर सकता था। कर के स्थान पर राजा के आसामी निश्चित अवसरो पर भेंट दिया करते थे और राजा की आमदनी का यही साधन था। इसके अतिरिक्त राजा की दण्डशक्ति भी परिमित थी। उसके आसामी अपनी ज़मीदारी में स्वय दण्डधर का काम करते थे, मुकदमे तय करते और दण्ड देते थे। राजा इस काम मे हस्तक्षेप करने का अधिकारी न समझा जाता था। इस वर्णन से स्पष्ट है कि राजा की सैनिक, आर्थिक और शासन शक्ति कितनी विश्रखलित और निःशक्त थी । वह अपनी प्रजा पर अपने कर्मचारियो द्वारा शासन नही कर सकता था। परिणाम स्वरूप लोगो के मन से एक देश और एक शासक की भावना बहुत दूर थी । राजा के आसामी राज के आधिपत्य को उस प्रकार भी न मानते थे जिस प्रकार कि आधुनिक राज्य में केन्द्रीय शासन का आधिपत्य स्थानीय शासन मानते हैं। उनका राजा से सम्बन्ध बहुत कुछ पारस्परिक समानता और मित्रता पर आधारित होता था। स्वामी और आसामी के अधिकार और कर्तव्य निश्चित सीमा के भीतर थे। इस सीमा के बाहर स्वामी आसामी के प्रभुत्व में हस्तक्षेप न कर सकता था, आसामी के सेवक आसामी के प्रति निष्ठ रहते थे न कि उसके स्वामी के प्रति। आसामी की सम्पत्ति पूर्णरूप से आसामी की रहती थी, स्वामी उसे न छीन सकता था। आसामी स्वामी का आधिपत्य निश्चित शर्तों पर मानता था जिनमें एक शर्त यह भी थी कि स्वामी आसामी की रक्षा का भार ले। यदि स्वामी रक्षा न कर सकता था तो आसामी उस आधिपत्य से स्वतन्त्र हो सकता था। पारस्परिक सेवा का वचन जो स्वय बिना किसी राज्यशक्ति के अकुश मे पूरा होता था या पूरा न होने पर जिसके लिये राज्य दण्ड की व्यवस्था न थी इस सामन्तप्रणाली का मूलमन्त्र था। शासन के अधिकारी भी सामन्तो के समान अपने पद को वशागत समझते थे। एक ही कुटुम्ब के लोग राज्य पदो पर काम करते चले जाते थे। आसामी लोग भी भूमि के पट्टे के बदले में कुछ सेवायें करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि राजकर्मचारी अपने को राजा का भृत्य न समझते थे किन्तु राजकीय पद पर उनका अधिकार समझा जाता था क्योंकि वे अमुक गांव के जमीदार हैं, कर वसूल

करने वाले थे या प्रमुख प्रान्त के दण्डनायक थे। इस प्रकार की सामन्तवादी प्रथा में आधुनिक काल की प्रभुता और उससे निसृत विधान सम्बन्धी धारणा न जम सकती थी। न कोई एक व्यक्ति सर्वप्रभु था न उसका आदेश विधान हो सकता था। विधान का रूप तत् गांव या तत् प्रदेश में प्रचलित रीति रिवाज ही विधानों के समान माने जाते थे। जैसा पहिले कहा जा चुका है विधान की घोषणा का मतलब यही होता था कि जानकार व्यक्तियों ने ढूंढ कर यह निश्चित किया है कि रीति रिवाज का असली रूप अमुक है। विधान किसी मजिस्ट्रेट की दण्डात्मक आज्ञा न होती थी। आगामियों के न्यायालयों में इन्ही रीति रिवाजों के अनुसार झगड़ों का निपटारा होता था। राजा का न्यायालय स्वयं राजा का दरबार ही होता था। दरबारी राजा के आगामी सामन्त लोग होते थे। राजा और सामन्तो के पारस्परिक झगड़ों का निपटारा इस दरबार में ही होता था। इस निर्णय को दरबारियों की सामूहिक शक्ति ही कार्यान्वित करती थी। यह सामूहिक शक्ति राजा पर भी नियत्रण करती थी। यदि राजा दरबारियों के अधिकारों में हस्तक्षेप करता तो दरबारी सामन्त मिल कर अपनी शक्ति से राजा को ऐसा करने से रोक सकते थे।

मध्ययुग के सामन्त-वादी राज्यों में राजसत्ता का यद्यपि व्यक्ति से सीधा सम्बन्ध न था, उस पर राजा की आज्ञा लागू न होती थी, न राजा उसको दण्ड दे सकता था, फिर भी सब लोगों म यह धारणा जमी हुई थी कि राजा सर्वश्रेष्ठ है और पृथ्वी पर ईश्वर का दूत है। उसके ऊपर सिवाय परमेश्वर के किसी अन्य का नियत्रण नहीं हो सकता, यह भावना धीरे धीरे दृढ होती गई और व्यक्ति यह समझने लग गया कि सामान्त के अतिरिक्त राजा के प्रति भी उसका कोई कर्तव्य है। राजाओं ने भी इस भावना से लाभ उठा कर सामन्तों की शक्ति पर नियत्रण रखने का प्रयत्न किया। दूसरी ओर व्यापार और व्यवसाय की उन्नति से सामन्तवादी प्रथा का बन्धन ढीला पड़ने लगा। इस प्रकार कई कारणों के मिलने से सामन्तवादी राज्य मिलकर एकक्षत्र राष्ट्रीय राज्य बन गये।

पवित्र रोम साम्राज्य

पश्चिमी यूरोप में बर्बर जातियों के आक्रमणों के कारण रोमन सम्राट् का प्रभुत्व वहां से जाता रहा। किन्तु रोम के धर्मसघ का प्रभुत्व ज्यों का त्यों जमा रहा। पोप ने इन आक्रमणकारियों के राज्यों म धर्म प्रचारकों द्वारा ईसाई धर्म का खूब प्रचार कराया। इन असभ्य जातियों में धर्म के प्रति पहिले से ही बहुत श्रद्धा थी। इसलिये शासकीय असैम्बलियों में धर्मसघ के बिशपों को स्थान प्राप्त रहता था और उनका बड़ा प्रभुत्व था। कहीं-कहीं

स्थानीय शासन कर्मचारी भी बिशप ही होते थे। इस प्रकार रोम साम्राज्य की शासन एकता के स्थान पर ईसाई धर्म की शासन एकता स्थापित होती जा रही थी जो विभिन्न राज्यो को एक धर्मसघ के शासन के एक सूत्र में बाँधती थी। रोम साम्राज्य की शासन पद्धति की देखा-देखी रोमन कैथौलिक धर्मसघ में केन्द्रीय-करण हो चुका था। अकेले पोप की सत्ता में धर्मसघ का सगठन हो चुका था। पोप ने पूर्वी रोमन सम्राट् का आधिपत्य अस्वीकार कर दिया था। वह स्वय एक प्रदेश का शासक बन गया था और लौकिक तथा धार्मिक क्षेत्र में पूर्वी सम्राट् का प्रभुत्व न मानता था। धर्मसघ और उसके अधिष्ठाताओ की प्रवृत्ति अधिकाधिक लौकिक शासको के नियनण से अलग होने की ओर होती जा रही थी। पीपिन और शार्लमिन को जब पोप ने राजतिलक करके फ्रैको का सम्राट घोषित किया तब शार्लमिन यह न समझा होगा कि पोप द्वारा राजतिलक कराने की प्रथा में कितने महत्व-शाली परिवर्तनो का बीज निहित है। इसके बाद पश्चिमी यूरोप मे यह भावना सब के मन में घर कर गई थी कि पोप जिसको राजमुकुट पहना देगा वही रोमन सम्राट् कहलायेगा। रोम साम्राज्य की धाक सबके मन मे ऐसी जमी हुई थी और उस नाम के लिये लोगो मे इतनी श्रद्धा और आदर था कि महत्त्वाकाक्षी राजा रोमन सम्राट् की पदवी के लिये लालायित रहते थे। शार्लमिन के बाद उसका साम्राज्य फिर छिन्न भिन्न हो गया और सब सामन्त स्वतन्त्र होकर छोटे-छोटे राजा बन बैठे। उसके पश्चात् सन् ६६२ ई० में जर्मनी के राजा ओटो को पोप ने सम्राट् घोषित किया और उसे राज-मुकुट पहिनाया। कितना परिवर्तन हो गया! जहाँ लौकिक शासक धर्म के मामलो में भी सर्वोपरि माना जाता था वहा वह अपने अधिकार को पोप द्वारा प्रदत्त समझने लगा। उसकी सत्ता की मान्यता पोप के आशीर्वाद से होने लगी। १० वी शताब्दी में ओटो के सम्राट् बनने के बाद पवित्र रोमन साम्राज्य का आरम्भ माना जाता है। इस साम्राज्य में इटैली के छोटे-छोटे नगर राज्य थे और जर्मनी के सामन्ती राज्य थे जो ओटो की प्रमुखता मानते हुये एक सघ में सगठित थे। ओटो व उसके बाद होने वाले सम्राट् अपने को रोमन सम्राट् अवश्य कहते थे किन्तु प्राचीन रोम सम्राटो की तरह साम्राज्य मे उनका प्रभुत्व न था। सामन्तवादी प्रथा के रहते हुये वे सर्वप्रभु न माने जा सकते थे। सामन्त अपने अपने राज्यो म अपनी-सत्ता जमाये हुये थे और सम्राट् का आधिपत्य सब लोग न मानते थे। इसके अतिरिक्त इटैली के नगर-राज्य और सामन्त जर्मनी के सम्राटो से घृणा करते थे। वे जर्मनो को बर्बर असभ्य समझते थे और अपने को उच्च समझते हुये उनके आधिपत्य के

विरुद्ध विद्रोह किया करते थे। पोप भी यह चाहते थे कि सम्राट् उनके साथी भले ही रहें, अधिक शक्तिशाली बन कर उनपर प्रभुत्व न करने लग जायें। इस अभिप्राय से सम्राट की शक्ति को वे निर्बल करने के प्रयत्न में लगे रहते थे। उन्होंने सर्वदा सम्राट के इस प्रयत्न को विफल किया कि जर्मनी और इटली एक सूत्र में बँध जायें। इसलिये प्राचीन रोमन साम्राज्य जैसी एकता और सगठन इस पवित्र साम्राज्य में न थी। फिर भी इसे साम्राज्य कहा जाता था क्योंकि यह विचार लोगो के मन में जम गया था कि रोमन साम्राज्य और रोमन ईसाई धर्मसघ मानव विकास की अन्तिम सीढ़ी है और ये दोनो एक ही सत्य के दो रूप हैं, एक लौकिक और दूसरा दिव्य। सम्राट् मनुष्यो के लौकिक जीवन पर शासन करता था और पोप आध्यात्मिक जीवन पर। उस समय पोप और सम्राट् में विरोध की कल्पना भी नही की जाती थी वह एक ही कागज के दो पृष्ठ समझे जाते थे जहाँ एक है वहाँ दूसरा भी है। सम्राट् लौकिक क्षेत्र में राजा था। पोप आध्यात्मिक क्षेत्र में शासक बन चुका था। आध्यात्मिक क्षेत्र में पोप की एकता अक्षुण्ण थी किन्तु लौकिक क्षेत्र में यह एकता उतनी दृढ न थी। धीरे-धीरे सम्राट् में और पोप मे विरोध बढता गया और एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी बन गये। इस प्रतिद्वन्द्वता में लौकिक और आध्यात्मिक सत्ता का सघर्ष हुआ। मध्य-कालीन राजनैतिक विचार इन दो सत्ताओ में कौन बडा है, इस प्रश्न से सम्बन्धित तर्क से भरे हैं।

अध्याय ७

मध्यकालीन राजनैतिक चिन्तन

मध्यकालीन युग ११ वी शताब्दी से लेकर १५वी शताब्दी तक माना जाता है। इसको दो भागो में बाँटा जा सकता है। पहिला काल तब से आरम्भ होता है जब पोप ग्रेगरी सातवे और सम्राट् हैनरी चतुर्थ मे सघर्ष हुआ। पोप बौनीफेस आठवें के समय तक यह काल रहा। इस काल में सम्राट् और पोप के सघर्ष में पोप की विजय हुई। दूसरा काल १४वी शताब्दी से प्रारम्भ होता है जब नये राष्ट्रीय राज्यो ने पोप की सत्ता के विरुद्ध झण्डा उठाया और धर्म सुधार तथा विचार जाग्रति का युग आरम्भ हुआ।

मध्य-कालीन राजनैतिक दर्शन का भार केवल यह था कि राजा बडा है या पोप। किसी विचारक ने राजा को बडा ठहराया किसी अन्य ने पोप को। दोनो के समर्थको ने जो तर्क प्रस्तुत किये वे बडे भ्रम-पूर्ण थे। इस भ्रामकता का कारण यह था कि ये विचारक अपने तर्क को तीन आधारो पर प्रतिष्ठित करते थे। किसी बात मे वे यहूदी धर्मतन्त्र को मानने वाली बाइबिल का सहारा लेते, कही रोमन एकतन्त्रात्मक विधान को मानते और कही अरस्तू के ग्रथ पौलिटिक्स को प्रमाण उपस्थित करते। इन तीनो के मूल में सिद्धान्त की एकता न थी, विभिन्न परिस्थितियो में जन्म लेने के कारण यह एकता या समानता हो भी न सकती थी। अरस्तू के विचार जो उस समय विकसित हुये थे जब राज्य और धर्म ऐसी दो पृथक इकाइयाँ न थी और ये विचार मध्यकाल की स्थिति म सच्चे न उतर सकते थे।

मध्यकाल में चिन्तन आधुनिक युग के चिन्तन की तरह वैज्ञानिक ढग का न था जिसम प्रदना पर इस दृष्टि से विचार किया जाय कि वे इतिहास की कसौटी पर सच्चे उतरते हैं या बुद्धि-सगत और तर्कयुक्त है या नही। मध्यकाल बुद्धि और गवेषणा का युग न था। वह श्रद्धा का युग था। कुछ बातो पर अटूट श्रद्धा और विश्वास था और उन विश्वासो की कसौटी पर प्रत्येक विचार कसा जाता था। अधिकतर चिन्तन पारलौकिक था। राजनीतिक न था। न इस चिन्तन का राज्य या समाज की सस्थाओं पर कोई प्रभाव पडा। असल म यूनानी नगर राज्यो के पतन से राष्ट्रीय राज्यो के उत्थान के समय तक कोई ऐसा चेतनापूर्ण राजनैतिक चिन्तन न हुआ जिसने समाज व राज्य की सस्थाओं पर प्रभाव डाला हो। केवल रोम का न्यायशास्त्र ही इस विषय

में एक अपवाद कहा जा सकता है। मध्यकाल में ईसाई पादरी ही समाज के शिक्षक थे। ईसाई विहारों में विद्याध्ययन होता था और पादरी इस विद्या का रूप निश्चित करते थे। ज्ञानोपार्जन का मतलब यही समझा जाता था कि ज्ञान का भिक्षु ईसाई शास्त्रों और धर्मगुरुओं से निश्चित सिद्धान्तों की जानकारी प्राप्त कर ले। विद्वानों की विद्वत्ता इसी से समझी जाती थी कि वे शास्त्र वचनों का उन्हें कितना ज्ञान है और उन वचनों की खाल की खाल निकालने में वे कितने निपुण हैं। किसी बात को सिद्ध करने के लिये शास्त्र-वचन प्रमाण माना जाता था। तर्क करना नास्तिकता समझी जाती थी जिस के लिये संघ की ओर से कड़े से कड़े दण्ड की व्यवस्था थी।

राजनीति के सम्बन्ध में इस समय के विचारकों के मन पर प्राचीन रोम की एकता की छाप गहरी पड़ी हुई थी। यह धारणा सर्वमान्य हो गई थी कि सब मनुष्य एक राज्य की प्रजा और एक धर्म के अनुयायी हैं। रोमन राज्य वह राज्य है और ईसाई धर्म वह धर्म है। रोमन साम्राज्य और ईसाई धर्म एक ही तराजू के दो पलड़े समझे जाते थे। दोनों ही दैवी हैं और दोनों में सत्ता एक अधिपति में केन्द्रित होनी चाहिये तभी व्यवस्था रह सकती है और वे आदर्श संस्थायें बन सकती हैं। पवित्र रोम साम्राज्य ईसाई धर्म संघ की रक्षा और वृद्धि के लिये समझा जाता था। धर्मसंघ और राज्य एक ही कागज के दो पृष्ठ समझे जाते थे। जहां एक है वहां दूसरा भी है। किन्तु यह मत सर्वमान्य था कि राज्य और धर्मसंघ इन दो पृथक् पृथक् सत्ताओं के द्वारा समाज का नियन्त्रण होता है। द्वैतात्मक समाज शासन का यह मत पाँचवी शताब्दी में ही प्रतिपादित हो चुका था। पोप गिलेसियस ने सन् ४९४ में सम्राट् को एक पत्र में यह लिखा बताते हैं कि "इस विश्व का शासन दो सत्ताओं द्वारा होता है एक पुजारियों की सत्ता दूसरी राजा की सत्ता। इन दोनों में से पुजारियों का महत्व अधिक है क्योंकि अन्त में ईश्वर के सामने वे राजाओं के कृत्यों के लिये भी उत्तरदायी होंगे।" जिस प्रकार सूर्य दिन का स्वामी है और चन्द्रमा रात का, इसी प्रकार ईश्वर ने मानव समाज में राज्य और धर्म नामक दो सत्तायें बनाई हैं। क्योंकि शरीर और आत्मा पृथक्-पृथक् हैं इसलिये उन दोनों के कल्याण के लिये दो प्रकार की सत्ताओं की आवश्यकता है। धर्मसंघ की सत्ता आत्मा के पारलौकिक कल्याण की व्यवस्था करती है, राज्य ऐहिक शारीरिक सुख की वृद्धि। ऐहिक और पारलौकिक का भेद ईसाई धर्म का सर्वमान्य सिद्धांत हो गया था। राजा का पुजारी होना विधर्म समझा जाता था। इन दो सत्ताओं के पृथक्-पृथक् रहते हुए भी यह माना जाता था कि एक को दूसरे की आवश्यकता है। ईश्वर की यह इच्छा समझी

जाती थी कि राज्य और ईसाई धर्मसंघ मिलकर पृथ्वी पर शासन करें। यह कहा जाता था कि अपने आत्म कल्याण के लिये सम्राट् को पादरी की आवश्यकता है और व्यवस्था बनाये रखने के लिये पादरी को सम्राट् की आवश्यकता है। इन दोनों की सत्ता मान्य तो थी किन्तु उस समय यह किसी को न सूझता था कि दोनों के क्षेत्रों की सीमा भी निश्चित कर दे। शायद उस समय किसी को इसकी आवश्यकता प्रतीत न हुई। यह कमी तब खटकी जब एक ने दूसरे के क्षेत्र में अधिकार जमाने का दावा करना आरम्भ किया। दोनों ही शास्त्र वचन का प्रमाण देते थे। यह दोनों चाहते थे कि दूसरा रहे अवश्य। 'सम्राट् की सत्ता के समर्थक धर्मसंघ को आधीन बना कर राज्य को ही धर्मसंघ बनाना चाहते थे, पोप के समर्थक राज्य को आधीन बनाकर धर्मसंघ को राज्य का रूप देना चाहते थे।'[1]

ऐहिक और पारलौकिक सत्ताओं का संघर्ष—जब सम्राट् राज्य व धर्मसंघ दोनों का अधिपति समझा जाता था तब भी संघ के अधिकारियों को यह अधिकार मिला हुआ था कि वे आचार सम्बन्धी कुकृत्यों के लिये धर्म के अनुयायियों को दण्ड दे सकें। इसी अधिकार का प्रयोग कर संघ ने कुकर्मियों को संघ से बहिष्कृत कर दण्ड देना आरम्भ कर दिया। जब संघ का प्रभुत्व बढ़ा तो संघ के पादरियों ने इस अधिकार का प्रयोग राजाओं के विरुद्ध भी किया। कभी कभी एक पादरी दूसरे पादरी के विरुद्ध भी इस अस्त्र का प्रयोग करता था। संघ का संगठन केन्द्रीय होने के कारण इस बहिष्कार का परिणाम बड़ा गम्भीर होता था, और इसका दण्ड का प्रभाव धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित न रहता किन्तु दण्डित व्यक्ति सब बातों में गर्हित होकर समाज की दृष्टि में पतित समझा जाता था। पोप ने सम्राटों को नीचा दिखाने में इस अस्त्र का अधिकाधिक प्रयोग किया। जब कभी कोई राजा या सम्राट् पोप की आज्ञा की अवहेलना करता पोप उसको संघ से बहिष्कृत कर देता। कुछ समय बाद यह सिद्धान्त मान्य होगया कि बहिष्कृत राजा प्रजा की निष्ठा का अधिकारी नहीं है। सामन्तवादी प्रथा में जब सामन्त सम्राट् के आधिपत्य से निकलने का अवसर ढूँढा ही करते थे, पोप के हाथ में बहिष्कृत करने का यह दण्ड बड़ा प्रभावशाली बन गया। सेना की शक्ति पास न रहते हुए भी पोप इसी दण्ड के सहारे धर्मसंघ में ही नहीं बल्कि राज्य-क्षेत्र में भी सर्व प्रभुत्व शाली बन बैठा।

ऐहिक और पारलौकिक सत्ताओं की पहिली मुठभेड़ नवीं शताब्दी में हुई

---

1. सी० डी० बर्न्स—पोलिटिकल आइडियल्स, पृ० १०३

जब पोप निकोलस प्रथम ने लोरेन के राजा को अपनी परित्यक्ता स्त्री को फिर से स्वीकार करने पर विवश किया। स्वयं सम्राट् और वे पादरी जिन्होंने तलाक का समर्थन किया पोप के विरुद्ध थे किन्तु सब को हार माननी पड़ी।

पवित्र रोमन साम्राज्य के स्थापित होने पर यद्यपि पोप ने ओटो को सम्राट् मान्य किया किन्तु अभी तक यह निश्चित धारणा न उत्पन्न हुई थी कि सम्राट् पोप के आधीन है या पोप सम्राट् के आधीन। इस सम्बन्ध में विचारों का कुछ स्पष्टीकरण न हो पाया था। संघ और राज्य दोनों एक ही सत्ता के दो मुख समझे जाते थे। जैसा पहिले कह चुके हैं, सामन्तवादी प्रथा के कारण और लेटिन-जर्मन विरोधी भावना के परिणामस्वरूप सम्राट् की शक्ति निर्बल होती गई। दूसरी ओर संघ की शक्ति राज्य-क्षेत्र में बढ़ती गई।

ग्यारहवीं शताब्दी में पोप और सम्राट् में फिर झगड़ा हुआ। उस समय पोप के पद पर ग्रेगरी सप्तम था। उस समय तक धर्मसंघ के अधिकारियों को राज्य के अधिकारी ही चुन कर उनके पद पर विभूषित करते थे। सम्भवतः इस अधिकार का दुरुपयोग होने लगा और ये पद बेचे और खरीदे जाने लगे। ग्रेगरी ने यह आज्ञा निकाल दी कि कोई राजा या सरदार किसी पादरी का उसके पद पर अभिषेक करने का अधिकारी न होगा। इस आज्ञा का प्रभाव यह होता कि राज्य शक्ति नष्ट हो जाती। राज्य की अधिकतर भूमि संघ के अधिकार में थी। संघ के अधिकारी इस भूमि पर राज्य के आसामी समझे जाते थे और सम्राट् को अपना अधिपति समझते थे। ग्रेगरी की आज्ञा से ये पादरी सम्राट् के अधिपत्य से बाहर हो जाते और पोप को सर्वप्रभु समझने लगते। सम्राट् ने इस आज्ञा को मानने से इन्कार कर दिया और अपने अनुकूल रहने वाले पादरियों की एक कौंसिल बुलाकर यह निर्णय करा दिया कि पोप गद्दी से उतार दिया गया। पोप ने बदले में सम्राट् को बहिष्कृत घोषित कर दिया और उसकी प्रजा को सम्राट् के प्रति निष्ठा शपथ से मुक्त कर दिया। पोप ने सम्राट के आधीन सामन्तों को भड़काया। अन्त में सम्राट् को नीचा देखना पड़ा। पोप की धाक जम गई और सम्राट् नाम के लिये सम्राट रह गया। पोप इन्नोसेंट तृतीय ने खुले शब्दों में कहा कि यदि एक राजसिंहासन के लिये दो अधिकारियों में झगड़ा हो तो पोप ही उस झगड़े का निबटारा करेगा। उसने इंगलैण्ड के राजा जौन को पोप की आधीनता स्वीकार करने पर विवश किया। स्पेन और पुर्तगाल में मुसलमानों से जो प्रदेश जीत में प्राप्त हुए वे पोप के आधीन ले लिये गये। इस प्रकार पोप ईसाई मत के मानने वालों की दुनिया का सर्वप्रभु बन गया।

किन्तु इन्नोसैन्ट के सौ वर्ष बाद पोप की सत्ता की अवनति आरम्भ हो गई। यह अवनति तब आरम्भ हुई जब सामन्तवादी राज्यो के स्थान पर राष्ट्रीय राज्य स्थापित होने लगे। राजाओ ने सामन्तो की शक्ति को कुचल कर प्रजा पर सीधा अपना अधिपत्य जमा लिया जिसमे विद्रोही सामन्तो वाला पोप का अस्त्र हाथ से निकल गया। पोप बोनीफेस और नवे लुई मे जब सघ की भूमि को कर से मुक्त करने के प्रश्न पर झगडा चला तो पोप को हार माननी पडी। इसके बाद पोप की शक्ति घटती गई और राज्य का प्रभुत्व बढता गया।

धर्मसंघ की प्रधानता के अनुकूल युक्तियाँ

मध्ययुग के विचारको के चिन्तन का मुख्य विषय यही था कि ऐहिक सत्ता राज्य और पारलौकिक सत्ता धर्मसघ में कौन प्रधान है और इन दोनो में क्या सम्बन्ध होना चाहिये। उस युग में अधिकतर शिक्षित व्यक्ति धर्माधिकारी ही होते थे। श्रद्धा और विश्वास ही धर्म की आधार शिला थी। इसलिये पारलौकिक सत्ता की अर्थात् पोप की प्रधानता को सिद्ध करने के लिये श्रद्धा और धार्मिक विश्वासो का ही सहारा लिया गया। वातावरण भी इसके लिये अनुकूल था। लोग श्रद्धालु अधिक थे विचारक कम, प्राचीन परिपाटी का बडा सम्मान था और लौकिक की अपेक्षा पारलौकिक सुख पर अधिक दृष्टि रहती थी। धर्मसघ और पोप का उस युग में बडा प्रभाव था। पादरी विचारको ने इस प्रभाव से पूरा लाभ उठाया और बाइबिल तथा अन्य धर्मग्रथो के वचनो का प्रमाण देकर पोप की प्रधानता का एक दृढ सिद्धांत स्थित कर दिया। इन विचारको म पोप ग्रेगरी सप्तम, हिंकमार, सैलिसबरी, सैंट बर्नार्ड, टोमस एक्वीनास आदि थे। पोप की प्रधानता के समर्थको ने अपने मत की पुष्टि के लिय धर्मसघ के प्रमुख प्राचीन महापुरुषो के वचन एकत्रित किये। यह ग्रथ ग्रेशियन के डिक्रिटम के नाम से प्रसिद्ध है। इन वचनो से पोप की प्रधानता की पुष्टि की गई और धर्मसघ के सीढीबद्ध सगठन को एक वैज्ञानिक रूप दिया गया। इस ग्रथ में कौन्सटैंटाइन का वह अधिकार पत्र भी सम्मिलित था जिसमे कौन्सटैंटाइन ने सम्राट् की राजधानी रोम से हटा कर पश्चिमी साम्राज्य की सत्ता पोप को सौप दी थी। इस अधिकार पत्र को पोप के विरोधियो ने जाली घोषित किया किन्तु मध्ययुग के अत में जाकर ही लोगो की इस पर से श्रद्धा उठी। इससे पहिले यह सच्चा ही माना जाता था। इस अधिकार पत्र का सहारा लेकर पोप के समर्थक कहते थे कि सम्राट् की सत्ता का पोप ही उत्तराधिकारी है और वही प्रधान है। सामान्य निम्नलिखित युक्तियो

के आधार पर ही नवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक पोप के धर्म-सघ की प्रधानता का समर्थन किया गया —

(1) यह धारणा प्राचीन थी कि धर्मसघ आत्माओं पर शासन करता है सम्राट् शरीरों पर। आत्म-कल्याण शारीरिक सुख से श्रेष्ठ समझा जाता था। आत्मा शरीर की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ समझी जाती थी। इस विश्वास के आधार पर यह दावा किया जाता था कि जो धर्मसघ वस्तुतः में आत्म कल्याण का सहायक है वह किसी भी लौकिक सत्ता से श्रेष्ठ है। पोप सम्राट् से ऊपर है। सम्राट् को भी अपनी आत्मा की मुक्ति के लिये पोप के पास जाना पड़ेगा। इसलिये पोप की धार्मिक सत्ता सम्राट् की लौकिक सत्ता से ऊपर है और माननीय है।

(२) बहुत पहिले से ही सघ में सामान्य गृहस्थों और पादरियों में अन्तर माना जाने लगा था। सामान्य गृहस्थ सघ की पूजा में सक्रिय भाग न ले सकते थे न अन्य सघ शासन सम्बन्धी बातों में इन्हें हाथ डालने दिया जाता था। इस भेद के आधार पर यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया कि सम्राट् और अन्य लौकिक शासक गृहस्थों की तरह पापनिमज्जित होने से धर्माधिकारियों का यह अधिकार है कि वे उन पर नियन्त्रण रखें और धर्मा-चरण न करने पर दण्ड दें।

(३) यह कहा जाता था कि परमात्मा से निर्मित धर्मसघ ही सच्चा राज्य है और उसी को धार्मिक तथा लौकिक सत्ता ईश्वर से प्राप्त है। पोप ईसामसीह का प्रतिनिधि है जो मृत्युलोक में आचार्य, राजा, विधानकर सब कुछ है। ईसा ने स्वय धर्मसघ को यह अधिकार दिया था कि वह पारस्परिक झगड़ों को निबटाये और यह भी कहा था 'कि जिसको तुम इस पृथ्वी पर बाध दो। वह स्वर्ग में भी बँध जायगा और जिसको तुम यहा मुक्त कर दोगे वह स्वर्ग में भी मुक्त हो जायगा'। जब धर्मसघ स्वर्ग तक में अपना प्रभाव रख सकता था तो मृत्युलोक में तो उसे सर्वप्रभु होना ही चाहिये।

(४) ग्रगरी सप्तम आदि पीटर सिद्धान्त के प्रतिपादकों का कहना था कि ईसा ने स्वय कहा था कि 'मेरी भेड़ों का पालन करना"। इसका यह अर्थ लगाया गया कि यह एक ऐसा भार धर्मसघ पर डाला गया जिसके अन्तर्गत सम्राट् और राजा भी आते हैं। पोप के समर्थकों ने ओल्ड टेस्टामेंट के वचनों का सहारा बहुत अधिक लिया। उसमें कहीं लिखा है कि परमात्मा ने जैरमाया पैगम्बर से कहा "मैंने आज तुम्हे राज्यो और मानव समूहो के ऊपर अधिपति बना दिया है, तुम उन्हे समूल नष्ट कर सकते हो गिरा

सकते हो, नष्ट कर सकते हो, बना सकते हो, और स्थापित कर सकते हो"। इस वचन की ओर दृष्टि आकर्षित कर धर्मसंघ का सर्वोपरि प्रभुत्व बताया गया। यहूदियों के इतिहास का सहारा लेकर यह युक्ति प्रस्तुत की गई कि ईसा ने धार्मिक सत्ता को ईसाई धर्मसंघ में साकार किया और धर्मसंघ ने अपनी रक्षा के लिये राज्य की व्यवस्था की। कौन्स्टैन्टाइन से पूर्व कोई ईसाई, अर्थात् वास्तविक राजा थे ही नहीं। इन सब युक्तियों से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया कि राज्य सत्ता धर्मसत्ता से निकली है और उससे कनिष्ठ है।

(५) महापुरुषों के वचनों और धर्मग्रंथों के अतिरिक्त इतिहास और व्यवहार का आश्रय भी लिया गया। प्राचीन रोमन साम्राज्य के पतन के पश्चात् धर्मसंघ ही सारे पश्चिमी यूरोप को एक सूत्र में बाँध कर रखने वाली सत्ता थी। इसलिये यह कहा जाता था कि रोमन साम्राज्य की शक्ति तथा प्रभाव का उत्तराधिकारी धर्मसंघ है और वह बाद के बनने वाले राज्यों से उच्च है। पोप ने शार्लीमेन का जो राज्याभिषेक किया उसका यह अर्थ लगाया गया कि पोप सम्राट् से ऊँचा है। वही सम्राट् को शासनाधिकार सौंपता है। जब शासनाधिकार दिया जा सकता है तो वापिस भी लिया जा सकता है।

(६) ग्रेगरी सप्तम के पश्चात् धर्मसंघ ने अपनी सर्वोच्च प्रभुता का दावा इस बात से किया कि संघ सम्राट् व राजाओं को भी अपनी आज्ञाओं के मानने पर बाध्य कर सकता है। संघ का दण्ड बहिष्कार था। इस प्रकार का दण्ड पाने पर ईसाई विश्व में किसी व्यक्ति का कल्याण न था। राजा व प्रजा सभी इससे डरते थे क्योंकि इस बहिष्कार से जीवन बड़ी आपत्ति में पड़ जाता था। राजाओं के विरुद्ध तो इसका परिणाम और भी भयानक होता था। बहिष्कार करके पोप सामन्तों को राजा के प्रति निष्ठा की शपथ से मुक्त कर देता था जिससे वे उसके आधिपत्य को ठुकरा सकते थे। ऐसी स्थिति में राजा सिंहासन छोड़ने पर बाध्य हो जाता था। शपथ में ईश्वर का नाम रहने से शपथ धर्मसंघ की सम्पत्ति थी और धर्मसंघ शपथ से सम्बन्धित सब मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकारी समझा जाता था।

लौकिक सत्ता की प्रधानता के अनुकूल युक्तियाँ

जिन विचारकों ने लौकिक सत्ता की प्रधानता का समर्थन किया उन्हें भी धर्म ग्रन्थों का सहारा लेना पड़ा क्योंकि धर्म व श्रद्धा की प्रधानता के युग में तर्क का सहारा लेकर विरोधियों का सामना न कर सकते थे। उनकी तर्क

सका। पुरोहितों का कोई प्रभाव न पड़ता। धर्मग्रन्थ धर्मगुरुओं के बनाये हुए थे और उन पर जो टीकायें हुईं वे भी शिक्षित पादरियों ने की थीं। अपने अनुकूल टीका करना स्वाभाविक था। इसलिये लौकिक सत्ता को प्रबल बनाने वालों को धर्म ग्रन्थों से अधिक सहायता न मिली। दूसरे व्यवहार में धर्मसंघ की शक्ति सब क्षेत्रों में स्पष्ट दिखाई देती थी। धार्मिक मामलों में सब निर्विवाद रूप से उसका पूरा ही अधिकार रहता था। लौकिक मामलों में जहाँ कहीं ईश्वर सदाचार, पाप-पुण्य का प्रश्न उठ सकता वहीं धर्माधिकारी अपना नियन्त्रण रखने का दावा करते थे। ऐसी स्थिति में राज्य की प्रधानता के समर्थकों की युक्तियाँ संरक्षणात्मक थीं। वे अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये अधिक उत्सुक थे। धर्मसंघ पर अपना अधिकार जमाने का दावा न करते थे हालांकि वे इसके लिये पूर्व इतिहास का प्रमाण दे सकते थे।

(१) *इन लोगों का कहना था कि राज्य की सृष्टि स्वयं ईश्वर ने की।* राजा का अधिकार उसे सीधे ईश्वर से प्राप्त हुआ है न कि धर्मसंघ के द्वारा, और उस अधिकार का उपयोग *राजा सीधे प्रजा पर कर सकता है। यह* सिद्धान्त तत्कालीन प्रचलित इस विश्वास के अनुकूल था कि दो सत्तायें एक ही व्यक्ति के हाथ में नहीं रह सकतीं। यदि राजा के हाथ में दोनों सत्तायें नहीं रह सकतीं तो पोप के हाथ में भी नहीं रह सकतीं। इसलिये धर्मसंघ और पोप को लौकिक मामलों में राजाओं पर अनुशासन रखने का कोई अधिकार नहीं है। इन मामलों में राजा ईश्वर का उत्तरदायी है अन्य किसी का नहीं। सम्राट् के समर्थक यह मानते थे कि सम्राट् का यह कर्तव्य है कि वह न्याय-पूर्वक राज्य करे और धर्मसंघ तथा धर्माधिकारियों की रक्षा व पोषण का प्रबन्ध करे, किन्तु यदि वह ऐसा न कर पावे तो उससे सत्ता छीनी नहीं जा सकती। वह ईश्वर के सम्मुख कर्तव्य विमुखता का अपराधी है और ईश्वर ही उसे दण्ड दे सकता है। कहा जाता था कि अच्छा और बुरा शासक मिलना भी ईश्वर की ही इच्छा है। जब ईश्वर दण्ड देना चाहता है बुरा राजा देता है जब वह प्रसन्न होता है अच्छा राजा देता है। इस विचारधारा को संक्षेप में हम सब "राजाओं का दैवी अधिकार" कह कर पुकारते हैं।

(२) बारहवीं शताब्दी में जब रोमन विधान का पुनः अध्ययन आरम्भ हुआ और लोग वैधानिक सिद्धान्तों व नियमों के अध्ययन में मन लगाने लगे तब लौकिक सत्ता की प्रधानता का समर्थन धर्मवचनों के अतिरिक्त वैधानिक सिद्धान्तों के आधार पर भी होने लगा। रोमन विधान में सम्राट् की इच्छा ही विधान समझी जाती थी। इसी सिद्धान्त को मान कर जर्मनी व इटैली के *राजाओं ने यह दावा किया कि उनकी सत्ता के ऊपर धर्मसंघ का नियन्त्रण*

नही रहना चाहिये। कुछ लोगो ने नये सम्राटो को प्राचीन रोमन सम्राटो का उत्तराधिकारी कह कर यह दावा किया कि प्राचीन सम्राटो की तरह वे भी निरकुश हैं। उन पर किसी बाहरी सत्ता का नियन्त्रण नही रह सकता।

(३) कुछ विचारको ने प्लैटो और अरस्तू की तरह यह कहा कि राज्य का ध्येय सत्य और न्याय की स्थापना करना है। इसलिये सदाचार और धर्मानुकूल व्यवहार कराना धर्मसघ का ही काम नही है राज्य का भी काम है। इस कर्तव्य के पालन मे धर्मसघ का राज्य के ऊपर किसी प्रकार का नियन्त्रण रखना या उसके काम में हस्तक्षेप करना उचित नही है।

(४) लौकिक सत्ता के समर्थको ने पौल के इस वचन का सहारा भी लिया "सब सत्ता ईश्वर निर्मित है और जो कोई इस सत्ता का विरोध करेगा वह ईश्वर की आज्ञा का विरोध करेगा"। इस वचन के आधार पर कहा गया कि राजा सारी प्रजा की निष्ठा का अधिकारी है। अधिकार को पोप या उसके अधिकारी मिटा नही सकते। राज-सत्ता ईश्वर निर्मित होने के कारण राजा ईश्वर को ही उत्तरदायी है अन्य किसी को नही। जिसने सत्ता सौंपी है केवल वही इसे छीन सकता है अन्य कोई नही।

पोप की सत्ता सर्वोच्च है या धर्मसघ की इस प्रश्न पर जो युक्तियाँ मध्य युग में दी गई उन पर हमने एक विहगम दृष्टि डाली। अब उस समय के कुछ मुख्य विचारको का अध्ययन करेंगे जिन्होने पोप के समर्थन मे या राज्य सत्ता के समर्थन मे अपने विचार प्रकट किये।

ग्रेगरी सप्तम

ग्रेगरी (१०७५-१०८०) का पहिला नाम हिल्डीब्रैंड था। पोपसत्ता के समर्थकों में वह सबसे प्रमुख था। वह पोप को सारे धर्म सघ का सम्राट् समभता था। पोप के न्यायालय में जो प्रश्न एक बार आ जाता उस पर अन्य कोई सत्ता आदेश नहीं दे सकती थी। पोप की आज्ञाओ को रद्द करने का किसी को अधिकार न था। उसके अनुसार सघ के सारे अधिकारी पोप के आधीन हैं। पोप ही सघ की कौसिल को बुला सकता था और उसके निर्णयो व आदेशो को कार्यान्वित कर सकता था। इससे स्पष्ट है कि वह धर्मसघ राजतन्त्र अर्थात् एकाधिकार का समर्थक था जहाँ पोप को रोमन सम्राट् के समान असीमित अधिकार हो, सामन्तवादी प्रथा की तरह उसकी सत्ता बिखरी हुई न हो। इसी सिद्धान्त के आधार पर उसने यह आज्ञा निकाल दी थी कि पादरियो के अभिषेक में किसी राजा या सरदार का हाथ न होना चाहिये। जो राजा किसी पादरी को उसके पद से विभूषित करता ग्रेगरी उसको अप-

कार्य समझता था और इस अपराध का दण्ड केवल यही न था कि राजा का संघ से बहिष्कार कर दिया जाता किन्तु ग्रेगरी का कहना था कि बहिष्कृत व्यक्ति राजा होने के योग्य नहीं है। ग्रेगरी का कहना था कि धर्मसंघ सब लोगों पर नैतिक नियन्त्रण रख सकता है। उसके अनुसार राजा ईसाई धर्म का अनुयायी होने के कारण धार्मिक विषयों में संघ के आधीन है। ग्रेगरी धर्मसंघ को राजसत्ता से ऊँचा समझता था। वह राजसत्ता का उतना विरोधी न था जितना धर्मसंघ की उच्चता और स्वतन्त्रता का समर्थक। वह धर्मसंघ और राज्य में मेल और उद्देश्य की एकता चाहता था। उसका विश्वास था कि धर्मसंघ का उद्देश्य सत्य की स्थापना करना है और राज्य इस उद्देश्य की पूर्ति का साधन मात्र है।

सेण्ट बर्नार्ड और जॉन सालिसबरी

सेण्ट बर्नार्ड और जान सालिसबरी दोनों ही धर्मसंघ की प्रधानता के समर्थक थे किन्तु दोनों में बहुत कुछ विचार वैषम्य था। सेन्ट बर्नार्ड के विचार निवृत्ति प्रधान थे जान के प्रवृत्ति प्रधान। बर्नार्ड धार्मिक मामलों में ईसाई धर्म की प्रारम्भिक सन्यासवृत्ति की पुनःस्थापना करने के पक्ष में था वह संसार में फँसाने वाली बातों से दूर रहना चाहता था। उसे श्रद्धा पर अधिक भक्ति थी बुद्धि पर कम। उसके अनुसार मनुष्य में श्रद्धा का प्रादुर्भाव पहिले होता है बुद्धि तर्क बाद में उत्पन्न करती है। श्रद्धा का स्थान तर्क की अपेक्षा ऊँचा है। इसीलिये बर्नार्ड कोरे पाण्डित्य को महत्व न देता था। उसके समय में धर्म के अतिरिक्त अन्य विषयों के अध्ययन की जो प्रवृत्ति बढ़ रही थी वह उसे अच्छी न लगती थी। अपने सम्प्रदाय का कट्टर पंथी होते हुए भी वह धर्म में प्रवृत्ति विषयक बातें आती जा रही थीं उनका वह बड़ा विरोधी था। उस समय पोप और धर्मसंघ का महत्व धर्मयुद्धों (क्रूसेड) के कारण बहुत बढ़ गया था, और धर्मसंघ राजनीति की उन सब चालों का अखाड़ा बन गया था जो एक राजदरबार में पाई जाती है। पोप की शान शौकत, ठाट बाट सब राजाओं जैसा हो गया था। बर्नार्ड इससे बहुत क्षुब्ध था। उसका कहना था कि पोप को इन सब सांसारिक पचड़ों में पड़ना और उनमें अधिकाधिक फँसना शोभा नहीं देता। इस दलील का उत्तर देते हुए कि सांसारिक बातों में भाग लेना सब और नीति के हित में है, उसने तिरस्कार पूर्वक कहा था कि पोप के दरबार में जस्टीनियन की नीति का बोल-बाला है, ईश्वरीय न्याय की प्रतिष्ठा नहीं है। यद्यपि बर्नार्ड धर्मसंघ की प्रधानता मानता था तब भी उस प्रधानता का मतलब उसके लिये यह न था कि

सासारिक मामलो में धर्म पुजारी अवश्य ही अपना प्रभुत्व स्थापित करें। धर्म पुजारियो को धार्मिक कृत्य ही अधिक शोभा देते हैं। पापियो को तारने का काम उसकी दृष्टि में राज्यो के बटवारे के पचडो के निबटाने से कही महत्वपूर्ण था। वह चाहता था कि धर्मसघ का लौकिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करना अपने महत्व को नीचे गिराना है। दो सत्ताओ की प्रतीक दो तलवारो के विषय मे उसका कहना था कि यह सत्य है कि दोनो तलवारें धर्मसघ को सोपी गई थी किन्तु उनमे से एक का प्रयोग धर्म के हित मे सघ द्वारा होना चाहिये, दूसरी का प्रयोग सम्राट् के आदेश पर सैनिक द्वारा धर्म के हित में होना चाहिये।

जॉन सालिसबरी भी इस विषय मे बर्नार्ड के विचारो का जो समर्थक था। वह राजा को धर्म पुजारी का आदेश पालक मानता था। राजा उन कार्यों को करता है जो पुजारी के हाथो करने के योग्य नही हैं। अपराधो के लिये दण्ड देना निकृष्ट कार्य है जिसे राजा को ही करना चाहिये पुजारी को नही। इस प्रकार जॉन उस समय की प्रचलित धारणा का ही समर्थक था कि धर्म पुजारी शासक से ऊँचा है। जॉन ने यूनानी दार्शनिको का अध्ययन किया था और उनसे प्रभावित भी हुआ प्रतीत होता है क्योकि अपने विचारो के समर्थन में धार्मिक सिद्धान्तो के साथ-साथ इन यूनानी और रोमन विचारको के कथनो की भी ओर ध्यान आकर्षित किया है। शायद उस समय वातावरण ऐसा हो गया था कि जब विचारक धर्म पुस्तको को पढते समय सिर उठा कर इतिहास का मनन भी करने लगे थे। जॉन ने सन् ११५९ मे "पोलीक्रैटीकर्स" नामक पुस्तक लिखी। मध्य युग में शायद यह पहिला ग्रथ था जिसमे राजनीति पर विचार प्रकट करने का प्रयास किया गया था। इस प्रयास मे लेखक ने राजनीति के सम्बन्ध में प्रचलित धार्मिक विचारो का प्राचीन यूनानी और रोमन विचारो से मेल करने का प्रयत्न किया है। फिर भी दृष्टिकोण शुद्ध-नैतिक अधिक था राजनैतिक कम। राज्य के रूप और व्यक्ति का राज्य मे स्थान इन विषयो पर कोई सिद्धान्त स्थिर करने का प्रयत्न नही किया गया। मध्ययुग की भावना के अनुकूल राजसत्ता ही मान्य थी। किन्तु यह राजसत्ता सामन्ती ढग की न थी, रोमन ढग की थी जिसमे राजा प्रजा के ऊपर अपनी सारी सत्ता का उपयोग स्वय सीधे करता है, सत्ता को सामन्तो मे बखेर नही देता।

विधान को वह राजा प्रजा सब का नियामक समझता था। किन्तु यह विधान मानव-निर्मित नही दैवी-विधान था। यह विधान शुद्ध सनातन सत्य-

में नियम हैं जिनके आधार पर विश्वनियामक विश्व का नियन्त्रण करता है। राज्य का ध्येय यह है कि इस सत्य को समाज के व्यवहार में उतारे। जान के अनुसार धर्मसंघ इस शुद्ध सत्य का साकार रूप है, राज्य व्यावहारिक सत्य का रूप है। व्यावहारिक सत्य शुद्ध सत्य से कनिष्ठ श्रेणी का होने के कारण राज्य धर्म संघ से नीचा है और राज्यसत्ता को धर्मसत्ता का नियन्त्रण मान कर चलना चाहिये। जान का कहना था कि राज्य का वह विधान जिस पर दैवी विधान की छाप नहीं और जो धर्मसंघ की आज्ञाओं के अनुकूल नहीं, श्रद्धा और आदर के योग्य नहीं है।

इसी प्रकार जान का विचार यह भी था कि राजा पृथ्वी पर ईश्वर का रूप है और उसे उसी प्रकार व्यवहार करना चाहिये। यदि वह ऐसा न करे, अर्थात् दैवी नियमों के अनुसार न व्यवहार करे तो उसकी सत्ता का नैतिक आधार नष्ट हो जाता है और वह राजा रहने योग्य नहीं है। किन्तु ऐसे अत्याचारी राजा को हटाने में उन्हीं उपायों को काम में लाना चाहिये जो धर्म और औचित्य का उल्लंघन न करें। विष का प्रयोग तो करना ही नहीं चाहिये क्योंकि ऐसा करना धर्मग्रंथों में वर्जित है, सबसे अच्छा साधन तो प्रार्थना है जिसके फलस्वरूप ईश्वर प्रसन्न होकर अत्याचारी राजा को उठा लेगा। ईसाई धर्म में यह विश्वास किया जाता था कि जब ईश्वर क्रुद्ध हो जाता है तो अत्याचारी शासक भेज कर प्रजा का पीडन कराता है।

सेण्ट टॉमस एक्वीनास

सेण्ट एक्वीनास के विचारों को समझने के पूर्व उस समय के वातावरण की जानकारी कर लेना आवश्यक है। बारहवीं शताब्दी में पुन एक बौद्धिक जाग्रति हुई। इस जाग्रति के स्वरूप प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन बड़े परिमाण में होने लगा और दर्शन तथा धर्म-शास्त्रों के सम्बन्ध में विचारों के आदान-प्रदान की मात्रा बढ़ गई। ईसाई संघ के डोमिनीकन और फ्रांसिस्कन सम्प्रदाय के सन्यासियों ने विश्वविद्यालयों के विकास में बड़ा सहयोग दिया। इन विश्वविद्यालयों में विद्वान् अध्यापक और जिज्ञासु विद्यार्थी विभिन्न दर्शनों का अध्ययन करने लगे थे। प्राचीन पुस्तकों का अध्ययन इस जाग्रति का पहला परिणाम हुआ। प्लैटो और अरस्तू के ग्रंथों का अरबी भाषा में उल्था हो चुका था, यहूदियों ने इन अरबी उल्थों के आधार पर लेटिन भाषा में इन ग्रन्थों को परिणत किया। ये लेटिन उल्थे स्पेन के विश्वविद्यालयों से पश्चिमी यूरोप में पहुँचे। धर्मयुद्धों में (क्रूसेड) से जब ईसाई विद्वान पूर्व की ओर गये तो उन्हें मूल यूनानी दर्शन ग्रन्थों के अध्ययन करने का अवसर मिला। अरस्तू के ग्रंथों

और उन पर यहूदियो तथा अरबी विद्वानो की टीकाओ का विशेषकर अध्ययन हुआ। इस समय तक ईसाई धर्म के सिद्धान्त जो इतस्ततः आप्त वचनो के रूप मे बिखरे पडे थे, एक क्रमवद्ध रूप मे टीकाकारो ने प्रस्तुत कर दिये थे। इस प्रकार उस समय के विद्वानो और जिज्ञासुओं को दोनो प्रकार की विचार परम्परा ग्रन्थो के रूप मे उपलब्ध थी। एक परम्परा आदर्शवादी, लोकोत्तर, मताग्रही और अपरिवर्तनशील विचारोकी थी। यह ईसाई धर्म-शास्त्रो में प्राप्त थी। दूसरी तर्क प्रधान, अनुभवमूलक, वैज्ञानिक, प्रगतिशील अरस्तू के ग्रन्थो मे प्राप्त थी। सेण्ट टॉमस ने राजनीति पर विचार करने में उस समय की प्रचलित रीति के अनुसार इन दोनो प्रकार की विचार धाराओ में सामञ्जस्य उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। पादरी होने के नाते सेण्ट टॉमस धर्म-ग्रन्थो मे लिखित वचनो की अवज्ञा करने का साहस न कर सकता था। उसे यह तो मानना ही पडा कि धर्मशास्त्रो के वचन प्रमाण है किन्तु इन वचनो का तात्पर्य निकालने मे उसने अरस्तू के तर्क प्रधान विचारो का उतना ही आश्रय लिया जितना कि ईसाई धर्म गुरुओ का। सेण्ट टॉमस का अधविश्वास के उस युग मे ऐसा करना बडा साहस का काम था और यह उसके बुद्धिवादी होने का प्रमाण है।

सेण्ट टॉमस के हाथो मे राजनीति शास्त्र एक बार फिर एक स्वतन्त्र शास्त्र बनने के मार्ग पर चलने लगता है। फिर भी आचार शास्त्र से इसका सम्बन्ध पूरी तरह न टूट सका। टॉमस के अनुसार आचार शास्त्र और राजनीति शास्त्र पृथक्-पृथक् नही हैं। आचारनीति राजनीति पर विभिन्न राज्य व समाज की सस्थाओ के द्वारा अकुश रखती है। राजनीति पर टॉमस लिखित "डि रैजीमिन प्रिंसिपम" अर्थात् राजा का शासन, नामक ग्रन्थ महत्वपूर्ण है। किन्तु पूरा ग्रन्थ टॉमसका लिखा हुआ नही है, केवल दो ही स्तवक टॉमस लिखित है, शेष उसके शिष्य के लिखे हुये बताये जाते है।

विधान और न्याय—इस ग्रन्थ मे विधान के सम्बन्ध में टॉमस ने लिखा है कि विधान उस व्यक्ति की बुद्धि से सार्वजनिक हित मे निकाला हुआ अध्यादेश है जिसको किसी जनसमूह का योग क्षेम का भार सुपुर्द है। टॉमस ने विधान के चार रूप बताये है। (१) शाश्वत, (२) प्राकृतिक, (३) मानव और (४) दैवी। शाश्वत विधान वह है जो सम्पूर्ण सृष्टि का नियमन करता है और सृष्टि की बुद्धि से निसृत है। प्राकृतिक विधान शाश्वत विधान का वह अग है जिसकी सहायता से मनुष्य की शुद्ध-नैतिक बुद्धि सत्य-असत्य का निर्णय कर अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति का मार्ग खोजती है। मानव विधान

प्राकृतिक विधान का वह भाग है जिसे मनुष्य समाजोपयोगी समझ कर बनाता है। दैवी विधान वह ईश्वर प्रेरणा है जिससे मनुष्य अपनी मानसिक व वासनात्मक बुद्धि की अपूर्णता दूर करता है। प्राकृतिक विधान और दैवी विधान में क्या अन्तर है, यह स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। शायद यह बेकार थोपा गया है और इसका कारण यह प्रतीत होता है कि टॉमस बुद्धि का प्रयोग करते समय ईसाई धर्म की तत्कालीन धारणा को न भूल सका। विधान की परिभाषा में टॉमस ने विधान की कल्पना को कुछ और आगे बढ़ा दिया। "यूनानी दर्शन में विधान पर किसी व्यक्तित्व की छाप न होती थी, शुद्ध तर्क का निर्णय ही इसका रूप था उसमें किसी व्यक्ति की इच्छा का समावेश न माना जाता था, रोमन विधान वैयक्तिक इच्छा या शुद्ध तर्क से उत्पन्न समझा जाता था। सेण्ट टॉमस के अनुसार विधान शुद्ध तर्क का निर्णय और तर्क करने वाले की इच्छा का परिणाम है"।[1] यूनानी विचारक यह नहीं मानते थे कि कोई ईश्वर या शासक मनुष्य के जीवन पर प्रभाव डालता है इसलिए उनकी कल्पना में ईश्वर की या सम्राट् की इच्छा को कोई स्थान प्राप्त न था। रोमनकाल में सम्राट्, और ईसाई धर्म के फैलन पर ईश्वर जब मनुष्य का भाग्य निर्माता माना जाने लगा तब विधान की कल्पना में इन दोनों की इच्छा के तत्व का समावेश समझा जाने लगा। यूनानी और रोमन विचार इस विषय में स्पष्ट न थे कि किसकी बुद्धि विधान का निश्चय करती है। टॉमस ने इस विचार को स्पष्ट कर दिया। उनका कहना था कि यह तर्क उस व्यक्ति का होगा जिसके सुपुर्द किसी समाज का पोषण कार्य है, चाहे वह राजा हो या पुजारी। तर्क के साथ साथ सार्वजनिक हित की इच्छा भी होनी चाहिये। टॉमस मानव विधान को प्राकृतिक विधान का ही अंग मानता था। इस विधान में नियमन के वे ही सिद्धान्त हैं जो प्राकृतिक विधान में हैं। यह नियमन मानव बुद्धि से होता है। मानव बुद्धि जीवनरक्षा चाहती है और उसके लिये समाज की आवश्यकता हुई। इस समाज के हित में जो नियम हों वे ही मानव विधान कहलाने योग्य हैं। तभी सार्वजनिक हित को टॉमस की परिभाषा में प्रधानता है। इस परिभाषा से यह भी स्पष्ट है कि *यह विधान प्रख्यापित होना चाहिये अर्थात् किसी अधिकार प्राप्त व्यक्ति* द्वारा इसकी घोषणा होनी चाहिये।

प्राकृतिक विधान और मानव विधान में भेद—अपने पूर्ण विकास के लिये अपने जीवन के परम उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये क्या करना अच्छा

---

१ डनिंग पौलिटिकल थ्योरीज पृ० १६३

है क्या करना बुरा है यह जानना प्राकृतिक नियम है। सब विवेकशील मनुष्यों की वुद्धि अच्छे और बुरे की पहिचान कर सकती है। इस अच्छे और बुरे के भेद के ज्ञान पर ही समाज के नियम बने हुए हैं। किसी एक ही समय में विभिन्न जातियों के इन सामाजिक नियमों में भेद हो सकता है, या एक ही जनसमूह में एक समय परिस्थिति के अनुकूल किसी बात को बुरा और दूसरे समय में अच्छा माना जा सकता है। उदाहरण के लिये हत्या करना प्राकृतिक विधान की दृष्टि में बुरा है। किन्तु युद्ध में दूसरे मनुष्यों को मार डालना मानव विधान के विरुद्ध नहीं समझा जाता। मानव विधान बदलता रहता है किन्तु उन परिवर्तनों के मूल में प्राकृतिक विधान सदा अपरिवर्तनशील बना रहता है। टॉमस द्वारा प्रतिपादित यह भेद भविष्य में राजनीतिज्ञों को भी मान्य हुआ।

संक्षेप में शासक जिस विधान की सहायता से शासन करता है वह बुद्धि की सहायता से मालूम किया हुआ वह नियम होना चाहिये जो मनुष्य के सत-असत के ज्ञान पर आश्रित हो और समाज के हित में वर्तमान परिस्थिति के अनुकूल हो। विधान निर्माता का अधिकार उसकी इस योग्यता पर आश्रित है कि वह प्राकृतिक विधान को समझता है और समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल उसे रूप दे सकता है। शासक और शासित दोनों ही विधान के नियन्त्रण में रहते हैं। विधान श्रद्धा और तर्क दोनों की सन्तान है। श्रद्धा बुद्धि में अभिव्यक्त ईश्वर की इच्छा का आभास है, तर्क बुद्धि के भले बुरे की पहिचान है। टॉमस की विशेषता यही है कि यूनानी तर्क के साथ उसने ईसाई धर्म सम्मत ईश्वर की इच्छा को भी विधान का निर्माता बताया।

राज्य का रूप व कर्तव्य—टॉमस के अनुसार मनुष्य सामाजिक प्राणी है इसलिये समाज नैसर्गिक है मनुष्य के स्वभाव के अनुकूल है। किन्तु मनुष्य प्रकृति की माग को पूरा करने वाले राजनैतिक समाज में शासन सत्ता संगठित समाज का दान नहीं किंतु वह ईश्वर प्रदत्त है। इस प्रकार अरस्तू के सिद्धान्त के साथ इस ईसाई धर्म सिद्धान्त का मेल कर दिया कि सब सत्ता ईश्वरीय सत्ता है। राज्य इस लिये नैसर्गिक कहा जा सकता है कि पाप नैसर्गिक है और इस पाप पर नियन्त्रण रखने के लिये राज्य-सत्ता की आवश्यकता है। प्लेटो और अरस्तु टॉमस के विरुद्ध मनुष्य प्रकृति को पापमय न समझते थे वे मनुष्य को मूलतः सदाचारी समझते थे।

राज्य का कर्तव्य सामाजिक जीवन को सुखी और सदाचारी बनाना है। यह अरस्तू का विचार भी था। सुखी जीवन के लिये संगठन, एकता और शांति आवश्यक है और टॉमस का कहना था कि शासक आन्तरिक शांति

बनाये रखे और बाहरी आक्रमणों से प्रजा की रक्षा करे। राज्य का उद्देश्य प्रजा की सांसारिक आवश्यकताओं को पूरा करके जीवन को सुखी बनाना है। जनहित के लिये ही राज्य की स्थापना होने के कारण राज्य को वही करना चाहिये जो प्रजा के हित में हो। राजा प्रजा से उतनी ही सम्पत्ति कर के रूप में ले सकता है जितनी सार्वजनिक हित के सम्पादन में आवश्यक हो। ये महाभारत के से वचन हैं। राज्य का उद्देश्य सुखी व सदाचारी जीवन की सृष्टि करना है। यहां तक टॉमस अरस्तू का अनुचर है। किन्तु वह और आगे बढ़ जाता है। यह सदाचारी जीवन स्वर्गीय जीवन प्राप्त करने की सीढ़ी है, हिन्दू दर्शन के शब्दों में मोक्ष प्राप्ति का साधन है। इस अन्तिम उद्देश्य की पूर्ति टॉमस के मत में ईसाई पुजारी ही करा सकता है। राजा तो केवल शांति व सुव्यवस्था के द्वारा सदाचार पूर्ण जीवन मत्र के लिये सुलभ करदे। इस सुखी व सदाचारी जीवन के लिये राजा सड़क बनवाये और सुरक्षित रखे, माप और तोल का प्रबन्ध करे, सिक्का चलावे, निर्धनों के लिये दान का प्रबन्ध करे, न्यायालयों का प्रबन्ध करे, इत्यादि। इन सामाजिक सेवाओं की आवश्यकता टॉमस ने केवल इसी कारण से नहीं दिखलाई कि ये सामाजिक जीवन के लिये आवश्यक हैं किन्तु प्रत्येक सेवा के लिये धर्म शास्त्रों की आज्ञा भी है। स्थान-स्थान पर तर्क के साथ धर्माज्ञा का समर्थन अवश्य दिया गया है।

सरकारों के भेद—*टॉमस* ने अरस्तू के समान ही सरकारों के भेद किये हैं। वह प्रजातन्त्र की अपेक्षा राजतन्त्र को पसन्द करता था। समाज में एकता और शांति स्थापित करने के लिये राजा ही उपयुक्त है। जिस प्रकार ईश्वर अपनी सृष्टि में और हृदय शरीर में सब पर नियन्त्रण रख व्यवस्था बनाये रखता है वैसे ही समाज में एक राजा ही व्यवस्था कर सकता है। जो स्वयं एक है वही ऐक्य स्थापित कर सकता है। प्रजातन्त्र में फूट और झगड़ा बहुत रहता है। मध्ययुग में अराजकता और फूट वैसे ही बहुत थी इसलिये व्यवस्था और एकता पर दृष्टि होना स्वाभाविक था। किंतु राजा अत्याचारी हो सकता है। अत्याचारी राजा के सम्बन्ध में जान सालिसबरी और टॉमस एक मत थे। किन्तु जिन साधनों से अत्याचारी राजा से पीछा छुड़ाया जाय इस बात में दोनों एक मत न थे। टॉमस का कहना था कि वे साधन ऐसे हों जिनसे इतना अहित न हो जो अत्याचारी के शासन के अहित से अधिक हो, राजविरोध सदाचारी जीवन के लिये आवश्यक है। जब तक इस उद्देश्य से सारी प्रजा राज विरोध करती है वह राजद्रोह नहीं कहा जा सकता। किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह को यह अधिकार प्राप्त नहीं समझना चाहिये

कि वह अत्याचारी राजा की हत्या कर दे। जिस राजा का शासन नीति पूर्ण नही है वह अनाचारी और अत्याचारी है। नीतिपूर्ण शासन क्या होगा इसके बारे मे टॉमस ने कुछ नही कहा किन्तु सम्भवतः नीति पूर्ण शासन से अभिप्राय उसी शासन से है जिसमें सार्वजनिक हित पर सर्वदा दृष्टि रहे। तभी टॉमस का कहना है कि राजा की शक्ति पर अकुश होना चाहिये। किस सीमा तक प्रजा शासक की आज्ञा माने, कब राजा अत्याचारी हो जाता है, और यह कौन निश्चित करेगा कि अब राजा जनहित की अवहेलना करता है इसके सम्बन्ध मे कोई सिद्धान्त टॉमस ने स्थिर नही किये। हा, इतना अवश्य कहा है कि जहां शासक का अधिकार प्रजा से प्राप्त हो वहां जिन शर्तो पर यह अधिकार दिया गया हो उनके तोडे जाने पर शासक का विरोध करना चाहिये।

टॉमस पुरोहित सत्ता को राजसत्ता से उँचा समझता था। उसके विचार मे जीवन के कुछ सत्य सिद्धान्तो की अभिव्यक्ति तर्क से न होकर भगवद् कृपा से ही होती है, इसलिये इन सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे पुरोहित की आज्ञा सर्वोपरि है। अरस्तू के लिये जीवन का उद्देश्य सदाचारी जीवन था, टॉमस के लिये अनन्त स्वर्गीय सुख। अरस्तू के तर्क के अनुसार नियन्त्रण का अर्थ जीवन के अन्तिम उद्देश्य तक पहुँचना है इसलिये इस स्वर्गीय जीवन की प्राप्ति अरस्तू के सिद्धान्त के अनुसार भी आवश्यक है और पुरोहित इस उद्देश्य प्राप्ति का एक मात्र अन्तिम साधन है। राजा का अधिकार पुरोहित के अधिकार से गौण है। किन्ही परिस्थितियो में राजा को अपने पद से हटाया जा सकता है, इस प्रकार पुरोहित सत्ता और राजसत्ता के सम्बन्ध में टॉमस के विचारो में कोई नवीनता न थी। केवल पुराने सिद्धान्तो को यूनानी दार्शनिक तर्क से ठीक ठहरा दिया गया।

दांते

दांते फ्लोरेंस (इटैली) का निवासी था। उसके राजनैतिक विचारो का पता उसकी पुस्तक "डि मोनार्किया" से चलता है। यह पुस्तक लेटिन भाषा में न लिख कर साधारण लोगो की इटेलियन भाषा में लिखी गई है। दांते के समय मे इटैली मे बडी अशान्ति थी। पोप और सम्राट् के समर्थक गुटो में प्राय झगडा रहता था और सब शहरो में अशांति का राज्य था। इस अराजकता के परिणाम स्वरूप स्वय दांते को फ्लोरेंस से भागना पडा। इसी अशांति के कारण दांते की यह धारणा हो गई कि सब से मुख्य वस्तु शांति है। यह शांति तब तक स्थापित नहीं हो सकती जब तक कि पोप की शक्ति कम नही होती। पोप सम्राट् और सामन्तों ने अपनी शक्ति को अक्षुण्ण

रखने के लिये सहायता करना था। इस लड़ाई का अन्त तभी हो सकता है जब एक सार्वभौमिक सम्राट् की सत्ता सब का नियन्त्रण करे।

दांते का कहना था कि मनुष्य विवेक पूर्ण प्राणी है, समाज का संगठन किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिये होता है, और यह उद्देश्य ऐसे जीवन की सृष्टि करना है जिसमें विवेक की पूर्ण अभिव्यक्ति हो, विवेक की पूर्ण अभिव्यक्ति तभी हो सकती है जब समाज में व्यवस्था व शान्ति का राज्य हो। इसलिये शासक का कर्तव्य इस व्यवस्था और शान्ति को स्थापित करना है। यह शान्ति तभी स्थापित हो सकती है जब समाज में एक से अधिक सत्ताओं को समाप्त कर दिया जाय और सारे समाज का नियन्त्रण एक सत्ता के हाथ में हो। सारी मानव जाति का कल्याण तभी हो सकता है जब उसके ऊपर शासन करने वाला ही एक विश्व सम्राट् हो। ऐसा सम्राट् ही छोटे छोटे राजाओं के पारस्परिक झगड़ों को निबटा सकता है और स्वयं निःस्वार्थ रह कर न्याय तथा शान्ति की स्थापना कर सकता है। ऐसे विश्व सम्राट् की उपमा ईश्वर से दी है जो द्वेष, क्रूरता, अभिलाषा, महत्वाकांक्षा से ऊपर रहता हुआ सत्य और न्याय की सृष्टि करता है। एक ही सम्राट् के आधिपत्य में वह उद्देश्य की एकता और इच्छा की दृढ़ता रह सकती है जिस के बिना न शान्ति सम्भव है न स्वतन्त्रता। ऐसा सम्राट् सारे विश्व में शान्ति स्थापित कर सकेगा, उसके आधीन छोटे शासक अपने अपने राज्य का सचालन अपने विशिष्ट विधानों द्वारा करते रहेंगे। दांते यह न चाहता था कि सारा विश्व एक विधान से नियन्त्रित हो और छोटे शासक समाप्त कर दिये जायें। दांते 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाले सिद्धान्त का समर्थक होता प्रतीत होता है। सत्य उसकी ओर है जो युद्ध में विजयी है। रोमनों ने अन्य जातियों को युद्ध में हरा कर एक साम्राज्य की स्थापना की यह सब ईश्वर की इच्छा से हुआ। ईश्वर की इच्छा मानव इतिहास में व्यक्त है। जो संघर्ष में विजयी होता है उसी के पक्ष में न्याय है। संघर्ष चाहे शारीरिक शक्ति का हो या बुद्धि बल का न्याय का अन्तिम निर्णायक होता है। इसलिये रोम का साम्राज्य उचित था, न्यायपूर्ण था, और ईश्वर की इच्छा के अनुकूल था। टॉमस की तरह दांते ने अपने सिद्धान्तों की पुष्टि में तर्क का ही अवलम्बन नहीं किया किन्तु, धर्मशास्त्रों का भी सहारा लिया। रोमन साम्राज्य को न्यायपूर्ण ठहराने के लिये उसने यह भी कहा कि स्वयं ईसा ने रोमन साम्राज्य शक्ति के द्वारा ही बलिदान होकर मानवजाति के पापों का स्वयं प्रायश्चित करना उचित समझा। इससे स्पष्ट है कि दांते का आदर्श एक विश्व साम्राज्य था।

यह आदर्श उसे मोहित कर रहा था जब यूरोप म ,एक से अधिक राष्ट्रीय राज्य स्थापित होने जारहे थे।

पुरोहित और शासक में दाते शासक को अधिक महत्व देता था। पुरोहित केवल आत्मदर्शन के सहारे मनुष्य को स्वर्गीय जीवन प्राप्त करा सकता है। लौकिक सुख और कल्याण के लिये उसे मनुष्यो पर नियत्रण रखना उचित नही है न यह उसका कर्तव्य है। इस लौकिक कल्याण के लिये सम्राट् पर्याप्त है जो लौकिक विज्ञजनो की सहायता से, न कि पुरोहित के परामर्श से, इस सुख की सृष्टि करा सकता है। इस प्रकार पुरोहित का क्षेत्र बहुत ही सकुचित कर दिया गया। दाते का कहना था कि सम्राट् रोमन सम्राटो का उत्तराधिकारी है और रोमनसम्राटो के समान वह सर्वोपरि है। उसके अनुसार सम्राट् को शासन अधिकार ईश्वर से सीधा प्राप्त है न कि पोप की मध्यस्थता से। पोप के आदेश जिन्हे धर्मसघ के वकीलो ने एक क्रमबद्ध विधान का रूप दे दिया था दाते को मान्य न थे। वह धर्मशास्त्रो तथा धर्मपरिषदो की आज्ञाओ को पोप की आज्ञाओ से ऊँचा स्थान देता था। उसकी इस दलील में कि कोन्सेन्टाइन को साम्राज्य सत्ता के विभाजन करने का कोई अधिकार न था क्योकि सत्ता विभाजित नही की जा सकती, वैधानिक त्रुट था। यही वैधानिक त्रुट इस दलील में था कि जब पोप लौकिक सत्ता का स्वामी न था तो यह कहना कि उसने शार्लीमेन को लौकिक सत्ता अर्पण की गलत है। इस प्रकार दाते ने धर्मसत्ता की प्रधानता की दो आधारशिलाओ को उखाड फेंका।

मार्सीलिओ और ओकम

मार्सीलिओ इटॅली का निवासी था किन्तु चिकित्सा शास्त्र का ज्ञाता होने के कारण पैरिस के विश्वविद्यालय का कुलपति नियुक्त किया गया था। उसी विश्वविद्यालय में विलियम ओकम नामक एक अगरेज विचारक और लेखक भी था। इन दोनो विचारको को अपने क्रान्तिकारी विचारो के कारण विश्वविद्यालय छोडना पडा और ये जर्मन सम्राट् लिविस की सरक्षता मे रहने लगे जहाँ इनके अतिरिक्त अन्य वे सन्यासी थे जो फ्रासीसियन नाम से प्रसिद्ध थे।

मार्सीलिओ ने अपनी पुस्तक "डिफेन्सर पैसिस" अर्थात् शान्ति का रक्षक नामक ग्रथ में सम्राट् की सत्ता का समर्थन किया। मार्सीलिओ ने अपने समय की अव्यवस्था तथा भ्रष्टाचार पर खेद प्रकट किया और सम्राट् की प्रधानता का समर्थन किया। उसका कहना था कि समाज म शान्ति और व्यवस्था न रहने का यह कारण है कि पादरी राज्य के नियत्रण से बाहर हैं और

पोप अपने को राज्यसत्ता से ऊँचा समझता है। उसका यह भी कहना था कि सम्पत्ति, [illegible] और विलासप्रियता बहुत सी सामाजिक बुराइयों की जड़ है इसलिये इसे दूर करने का एकमात्र उपाय है फ्रांसीसियन संन्यासियों का सा सीधा सादा जीवन।

राज्य व धर्मसंघ के संगठन के सम्बन्ध में मार्सीलियो के विचार अपने समय से बहुत आगे बढ़े हुए थे। उन्हें हम आधुनिक कह सकते हैं। इसीलिये उन विचारों का तत्कालीन समाज पर प्रभाव बहुत कम पड़ा। १६वीं शताब्दी के विचारकों ने ही इन विचारों की खोज कर प्रतिपादन करने में सफलता प्राप्त की। अरस्तू के समान मार्सीलियो का सिद्धान्त था कि राज्य की उत्पत्ति मनुष्य की सामाजिक प्रकृति से हुई है और समाज को बनाये रखने के लिये एक नियामक की अर्थात् राज्य की आवश्यकता है। राज्य का उद्देश्य समाज में शान्ति व व्यवस्था स्थापित कर सब व्यक्तियों को अपने विकास का पूरा अवसर देना है जिससे सबको अधिक से अधिक सुख व कल्याण की सिद्धि हो। राज्य एक सजीव वस्तु है जिसके विभिन्न अवयव अवयवी के अस्तित्व को बनाये रखने के लिये अपना अपना कार्य करते हैं। जब सब अवयव अपना निर्धारित कार्य करते रहते हैं तो अवयवी स्वस्थ, शान्त और सुखी बना रहता है अन्यथा राज्य में अव्यवस्था और अशान्ति फैल जाती है। राज्य का विकास कुटुम्ब से प्रारम्भ होकर नगर में पूर्णता को प्राप्त होता है राज्य में व्यक्ति को ऐहिक सुख और पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति होती है। कृषक तथा कारीगर समाज की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, योद्धा और पुजारी सामाजिक जीवन को पुष्ट कर राज्य के उद्देश्य की सिद्धि करते हैं।

विधान (कानून) और प्रभुता—विधान के सम्बन्ध में मार्सीलियो के विचार आधुनिक से प्रतीत होते हैं। विधान दो प्रकार का होता हैं, एक दैवी और दूसरा मानवी। दैवी विधान ईश्वर का आदेश है जिसका पालन मनुष्य स्वेच्छा से करता है और जिसके पालन से परलोक में उसका कल्याण होता है। इस लोक में इस विधान के पालन न करने पर कोई दण्ड नहीं मिलता। यहाँ तो उस विधान की अवज्ञा से दण्ड मिलता है जो सब नागरिकों ने मिल-कर बनाया हो। इसे वे लोग विचार-विमर्श के द्वारा बनाते हैं जिन्हें विधान बनाने का अधिकार प्राप्त है। इस विधान का उद्देश्य इस लोक में व्यक्ति के हित की सिद्धि कराना होता है। जो इस प्रकार के विधान की अवज्ञा करता है उसे दण्ड मिलता है। किसी अधिकारी व्यक्ति या समूह की इच्छा और इस इच्छा के आधार पर निकला हुआ आदेश तथा इस आदेश की अवज्ञा पर

दण्ड की व्यवस्था ये तीन बातें विधान का स्वरूप निश्चित करती है। विधान की चौली पर ही राज्य का चक्र घूमता है इसलिये विधान निर्माता राज्य का मुख्य अंग है। विधान का निर्माण कौन करता है ? सारा समाज या उसके बहुसख्यक व्यक्ति। इस प्रकार राज्य की सत्ता सारे समाज या उसके बहुसंख्यक व्यक्तियो के हाथ मे है। ये लोग एक सभा मे बैठकर अपनी इच्छा से स्पष्ट शब्दो में जब यह निश्चय करते है कि सामाजिक जीवन मे अमुक-अमुक काम किया जाय या न किया जाय और इस निश्चय के प्रतिकूल आचरण करने वाले को अमुक दण्ड दिया जाय, तब विधान की सृष्टि होती हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि राज्य वह जन-समूह है जो अपने बनाये हुए नियमो से स्वय नियत्रित होता है। राज्य की आधारभूत सत्ता ऐसे जनसमूह की इच्छा मे ही निहित है। इसी को हम लोकसत्तात्मक राज्य कहते है। यूनानी नगर राज्यो मे जिस लोकतत्र का प्रचार था उस पर मार्सीलिग्रो की दृष्टि रही होगी। किन्तु कुछ अधिक ध्यान से अध्ययन करने पर मार्सीलिग्रो के विचार शुद्ध जनतत्रात्मक प्रतीत नही होते। उसके अनुसार सब नागरिक ही नही किन्तु उनमे से वे व्यक्ति ही जिनकी बात का सब पर प्रभाव पडता हो विधान बना सकते हैं। अर्थात् सख्या प्रधान नही थी। एक व्यक्ति दूसरे के समान न था। जिन व्यक्तियो का प्रभाव अधिक हो चाहे वे सख्या म कम ही हो विधान के निर्माता हो सकते थे, हालांकि यह प्रतीत होता है कि अभिप्राय यह था कि इस अल्पसख्यक प्रभावशाली समूह का निर्णय सम्पूर्ण जनता का निर्णय है, और जनता के नाम म ही उस निर्णय का कार्यान्वित किया जा सकता है। विधान सत्ता ऐसी स्थिति में इस प्रभावशाली जनसमूह को जनता से प्रदत्त समझी जा सकती है।

मार्सीलिग्रो ने राज्य और सरकार मे भेद दिखलाया है। सरकार राज्य का वह अग है जिसे विधान निर्माता स्थापित करते हैं। सरकार की शक्ति और सब अधिकार नागरिक अर्थात् विधान-निर्माताओ से प्राप्त रहते हैं और इसीलिये सरकार इन दिये हुए अधिकारो की सीमा का उल्लघन नही कर सकती। वह अपने कामो के लिये जनता को उत्तरदायी है। यदि सरकार अपने कर्तव्य का पालन नही करती तो वह जनता द्वारा पदच्युत की जा सकती है। राज्य की कार्यकारिणी शक्ति एक सगठित इकाई होनी चाहिये जिससे वह एक सकना सर्वोच्च शासन शक्ति का प्रयोग निश्चित मन से तथा असदिग्ध रूप से कर सके। इस कार्यकारिणी मे दलबन्दी को स्थान न रहना चाहिए। मार्सीलिग्रो ने सर्वप्रभु वशागत राजतत्र या सम्राट्तत्र की अपेक्षा निर्वाचित सम्राट्तत्र को अधिक पसन्द किया। इस सम्राट् का कर्तव्य विधान

बनाना नहीं था, वरन् जनमत द्वारा बने विधान को कार्यान्वित करना भर था। वह समाज की इच्छा का कार्यवाहक ही रह गया स्वामी न रहा।

इस प्रकार मार्सीलियो ने एक ऐसे समाज का रूप सामने रखा जो सब प्रकार से पूर्ण हो। ऐसा समाज अपने आप ही अपनी लौकिक न कि पारलौकिक आवश्यकताओं को अपने ही बनाये हुए नियमों के अन्तर्गत स्वयं अपने नियामकों को नियुक्त कर तथा उनके नियन्त्रण में रह कर पूरा करता है। यही लौकिक धर्मनिरपेक्ष राज्य की पहिचान है। धर्म पुजारियों का इस राज्य में क्या स्थान है? मार्सीलियो के मत में धर्म का सम्बन्ध मनुष्य के पारलौकिक जीवन से है। यदि धार्मिक दृष्टि से कोई मनुष्य अपराध करता है तो उसका दण्ड उसे परलोक में मिलेगा। यहां इस लोक में उसे दण्ड देने के लिये न कोई नियम है न दण्ड देने वाले अधिकारी हैं। यदि अधार्मिक कार्यों के लिये राज्य में व्यवस्था है तो वह व्यवस्था राज्य की है धर्म की नहीं। जो नियम इस व्यवस्था के लिये बनाये गये हैं वे भी राजकीय हैं, मानव विधान के नियम हैं और इस विधान को कार्यान्वित करने वाले अधिकारी भी राज्य के भृत्य हैं। इससे स्पष्ट है कि ईसाई धार्मिक पुजारी राज्य में उसी प्रकार कृत्यकारी हैं जैसे कृषक और कारीगर, धार्मिक विधान (कैनन-ला) राज्य विधान का ही एक भाग है और पुजारियों को दण्ड देने का अधिकार राज्य से ही प्राप्त अधिकार है। मार्सीलिओ ने ईसाई धर्मसंघ को राज्य का ही एक अङ्ग बना दिया। धर्मसंघ की स्वतंत्र सत्ता उसे मान्य न थी। अरस्तू के विचारों से प्रभावित होने के कारण मार्सीलिओ का आदर्श यूनानी नगर-राज्य जैसा था जिसमें मानव जीवन का प्रत्येक अङ्ग राज्य से नियंत्रित होता था धर्मसंघ कोई स्वतंत्र सत्ता न थी। धर्मपुजारी समाज की एक आवश्यकता की पूर्ति करते थे किन्तु वे सब प्रकार से राज्यशक्ति के अधीन थे। इस दान के बदले में उपासना करने का कार्य उनसे बलपूर्वक कराया जा सकता था और यदि आवश्यकता पड़े तो ये पादरी पोप इत्यादि राज्य द्वारा अपने पद से हटाये जा सकते थे। वे उपासना सम्बन्धी अपना कार्य करने के बदले में समाज से वेतन के रूप में दान सम्पत्ति पाते थे। धर्मसंघ का दान या अन्य सम्पत्ति पाने का अधिकार राज्य को मान्य होना चाहिये, अन्यथा वह अधिकार अवैध है। धर्मसंघ की सम्पत्ति पर अन्तिम अधिकार राज्य का है। वह सम्पत्ति राज्य कर से तब तक मुक्त नहीं है जब तक कि राज्य में संगठित समाज ऐसी मुक्ति प्रदान न कर दे।

यह मत प्रतिपादन करते हुए भी मार्सीलिओ धर्म को आधुनिक ढंग पर केवल वैयक्तिक श्रद्धा और विश्वास का विषय न मान सका। धर्मसंघ को

वह शासन से पृथक सामाजिक सस्था मानने को तैयार न था। धर्मसघ को राज्य के आधीन मानते हुए भी उसे यह बात स्वीकार थी कि धार्मिक प्रश्नों पर अन्तिम निर्णय देने के लिये राज्य के समान ही किन्तु उससे पृथक एक सगठन होना चाहिये। किन्तु मार्सीलिओ पोप तथा पादरियो के श्रेणीवद्ध सगठन को धर्मसगठन मानने को तैयार न था। पुजारियो का यह सगठन धर्मसघ नही है, न उसके अधिकारियो अर्थात् पुजारियो में कोई ऐसा आध्यात्मिक अन्तर है जिससे एक छोटा और दूसरा बडा पुजारी कहा जा सके। पुजारियो का विभिन्न श्रेणियो मे विभाजन दैवी न होकर मानवीय है। आध्यात्मिक दृष्टि से सब पुजारी समान अधिकारी हैं। पोप धर्मसघ का स्वामी सर्वसत्ताधारी नही हैं, अन्य पादरियो के समान वह भी एक पादरी है, इस प्रकार विभिन्न सत्ताधारी पादरियो के श्रेणीबद्ध सगठन की जड खोदकर, उसने ईसाई धर्म के सब अनुयायियो के समुदाय को, चाहे वे पुजारी हो या गृहस्थी, धर्मसघ का नाम दिया। जिस प्रकार अन्य सामाजिक कार्यों के लिये सब व्यक्ति सामूहिक रूप से एक समाज में सगठित है और राज्य उस सगठित समाज के उद्देश्यो को पूरा करने वाली एक कृत्यकारी सस्था है, उसी प्रकार सब अनुयायी एक धार्मिक समाज में सगठित है और इस समाज को धर्मसघ कहना चाहिये। यह धर्मसघ ही धार्मिक प्रश्नो पर अन्तिम निर्णय देने के योग्य है, कोई विशिष्ट पादरी ऐसा करने के बिलकुल अयोग्य हैं। यह काम धर्मसघ स्वय कर सकता है या एक निर्वाचित धर्मपरिषद को यह कार्य सुपुर्द किया जा सकता है।

इस प्रकार मार्सीलिओ ने जो लोकसत्तात्मक रूप राज्य को दिया वही रूप धर्मसघ को भी देने का प्रयत्न किया। किन्तु धर्मसघ को वह एक राज्य की सीमा म न बाँध सका। चौदहवी शताब्दी में ऐसा करना सम्भव भी न था। धर्मसघ राष्ट्रीय न रह कर विश्व-व्यापी ही रहा। अनुयायियो की सख्या और उनके विस्तार के कारण उनको सगठित करने के लिये प्रतिनिधिक प्रणाली का सहारा लिया गया था, राज्य के सगठन में ऐसा नहीं किया गया था। उसका कहना था कि ईसाई धर्म को मानने वाली दुनियां के प्रमुख प्रदेश अपनी जनसख्या ही नही वरन् उनकी श्रेष्ठता (क्या श्रेष्ठता का कोई मापयन्त्र है ?) के अनुपात से अपने-अपने प्रतिनिधि चुनें। पुजारी ही प्रतिनिधि न हो वरन् गृहस्थी भी हो और य सब मिलकर धर्म सम्बन्धी प्रश्नो पर विचार करें और अपना निर्णय दिया कर, जिससे इन प्रश्नो के सम्बन्ध में ईसाई विश्व में मतभेद न रह और पारस्परिक फूट समाप्त हो जाय। ये निर्णय सब पर एक समान लागू होग। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि

प्रतिनिधियों का चुनाव प्रदेश के शासकों के आदेश से हुआ माना गया था। इसलिए राज्यों की सहमति से ही धर्मपरिषद् का संगठन हो सकता था और परिषद् के निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिए तथा अपराधियों को दण्ड देने के लिए राज्य ही एक साधन था। न तो परिषद् का दण्ड देने का अधिकार माना गया और न पुजारियों की प्रभुता स्वीकार की गई। जिस परिषद् के निर्णयों का कार्यान्वित होना विभिन्न स्वतंत्र राज्यों के शासकों की इच्छा पर निर्भर हो उसमें संगठन से न बल रह सकता है न एकता रह सकती है। इसलिये मार्सीलियो का सुझाव कोरा बुद्धि विलास ही रह गया, वह व्यवहार में न लाया जा सका।

मार्सीलियो ने तर्क का सहारा लेकर राज्य के व धर्मसंघ के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, किन्तु कोई भी विचारक अपने समय की प्रचलित भावनाओं से ऊपर नहीं उठ सकता। वह धर्म को वैयक्तिक न मान सका और धर्म तथा राज्य का गठबन्धन न तोड़ सका। राज्य में सम्राट् अर्थात् सरकार को चुनने में ईसाई धर्मावलम्बी ही चुने जा सकते थे, विधर्मी नहीं। धर्माधिकारियों को पुरुष ही चुन सकते थे स्त्रियां नहीं चुन सकती। सब प्राचीन समय से चला आने वाला यह विश्वास कि मानव समाज में दो सत्ताओं का आधिपत्य रहना है मार्सीलियो को न छोड़ सका तभी उसने अपने राज्य के नागरिक को लौकिक समाज तथा धार्मिक समाज का सदस्य ठहराया। मार्सीलियो के विचार तर्क की मांग और प्रचलित भावना में समझौता करके निसृत हुये और प्रत्येक समझौते की स्वाभाविक निर्बलता मार्सीलियो के सिद्धान्तों में वर्तमान रही।

विलियम ओक्म—(१२८०-१३४७)—विलियम ओक्म का जन्म ब्रिटेन में हुआ था, किन्तु फ्रांस में उसने शिक्षा पाई थी। वह प्रधानतः धर्म शास्त्रज्ञ था, राजनीतिज्ञ न था। उसके लेखों का ढंग बातचीत जैसा है जिसमें राज्य सत्ता और धर्मसंघ की सत्ता का रूप स्थिर करने का प्रयत्न किया गया है। दोनों सत्ताओं की प्रधानता के अनुकूल व विरोध में जितनी दलीलें उस समय तक दी जा चुकी थीं व सब ओक्म ने अपने लेखों में दीं। उसने उन दलीलों को सामने रख कर ही संतोष किया, अपना मत या निर्णय प्रकट करने का साहस नहीं किया। किन्तु ओक्म पोप की सत्ता का विरोधी था और पोप के विरोध में ही उसकी लेखनी चली थी।

पोप से वैयक्तिक मामले पर झगड़ा होने के कारण विलियम पोप की प्रभुता का कट्टर विरोधी था। उसका कहना था कि पोप ने ईसाई धर्म की सत्ता को अपने एकाधिकार में कर नास्तिकता का उदाहरण प्रस्तुत किया है

जिससे पारस्परिक फूट और अशान्ति को प्रोत्साहन मिला है। ओकम पोप की निरंकुशता को नष्ट कर शुद्ध ईसाई धर्म की स्वतन्त्रता का समर्थक था। पोप की सत्ता के विरोध मे उसने साम्राज्य की शक्ति का यहाँ तक प्रतिपादन किया कि सम्राट् को अधिकार है कि वह धर्मसघ की बुराइयो को दूर करने के लिये पोप के कार्यों मे हस्तक्षेप करे। पोप के स्थान पर ओकम धर्मपरिषद् का सगठन करने के पक्ष मे था। ईसाई धर्म के सब अनुयायियो का एक निश्चित समाज है। इस समाज मे समाज द्वारा चुनी हुई परिषद् का नियन्त्रण होना चाहिये। प्रत्येक गाँव के अनुयायी मिल कर निर्वाचक सभा के लिये अपने प्रतिनिधि चुने। एक राज्य या प्रदेश मे ऐसी एक सभा चुनी जाय। ये सभायें फिर धर्मपरिषद् के लिये अपने प्रतिनिधि चुनकर भेजें। धर्मसघ की यह परिषद् वास्तव मे धर्म सघ का प्रतिनिधित्व करेगी, चाहे पोप इस परिषद् को बुलाये या न बुलाये।

ओकम ने पोप का जो घोर विरोध किया उसके मूल मे यह भावना थी कि सब अधिकार, चाहे वह पोप का हो या सम्राट् का, न्यायपूर्ण, सद्भावना से प्रेरित और समाज के हित में होना चाहिये। ये तीनो गुण किसी भी अधिकार को पवित्र करते हैं। पोप ने धर्मग्रयो के विरुद्ध सिद्धान्त स्थिर कर, नरेशो के अधिकारो को छीनकर और धर्म के अनुयायियो की स्वतन्त्रता छीन कर और अपने अधिकार का दुरुपयोग कर महापाप किया है।

ओकम के लेखो से यह आभास मिलता है कि वह यह न मानता था कि सम्राट् का शासनाधिकार उसे पोप से प्राप्त हुआ है, और पोप द्वारा राज-मुकुट पहिनाये जाने से सम्राट् का अधिकार अधिक पवित्र और न्यायानुकूल हो जाता है। वह यह मानता प्रतीत होता है कि सम्राट् का जनता के प्रति-निधियो द्वारा चुने जाने पर वह जनता से अपना अधिकार प्राप्त करता है।

किन्तु सम्राट् की शक्ति निरकुश नही है। उसे अपना अधिकार विधान की सीमा के भीतर ही काम मे लाना चाहिये। विधान क्या है? धर्मग्रथो मे लिखित दैवेच्छा, प्राकृतिक नियम सद्बुद्धि का निर्णय और विभिन्न जातियो तथा जनसमूहो के विशिष्ट रीति रिवाज। इन सब से सम्राट् की शक्ति सीमित रहनी चाहिये। सम्राट् का शासन न्यायपूर्ण और प्रजा के हित मे होना चाहिये। वह प्रजा से कर के रूप में उतनी ही सम्पत्ति ले सकता है जितनी कि समाज के हित मे आवश्यक है। ऐसा प्रतीत होता है कि मार्सी-लियो के समान ओकम को यह विश्वास न था कि जनता नरेश पर सर्व हित-कारी नियन्त्रण रख सकती है इसलिये उसने प्राकृतिक विधान का नियन्त्रण

इसको अधिक उपयुक्त समझा। अरस्तू के विचारों से ओकम प्रभावित तो अवश्य हुआ किन्तु मार्सीलियो के समान वह प्रजातन्त्री विचारों में बहुत आगे न बढ़ा। तत्कालीन विद्वानों से वह ऊपर न उठ सका, और तर्क के वशीभूत होकर मार्सीलियो के उन राजनैतिक सिद्धान्तों पर न पहुंचा जो उस समय के लिये उच्च आदर्श ही कहे जा सकते थे, व्यवहार में न लाये जा सकते थे। किन्तु मार्सीलियो के समान ओकम यह मानता था कि तत्कालीन बड़े राज्यों में नगर-राज्यों जैसी ही राजनैतिक स्थिति है, केवल नये राज्यों का विस्तार ही बड़ा है, इसलिये जो सिद्धान्त नगर-राज्यों में लागू होते थे उन्हीं के अनुसार बृहत् राज्यों में शासन किया जा सकता है। राज्य का कर्तव्य सदाचार की वृद्धि और न्याय की स्थापना करना है। अपराधियों को दण्ड देना राज्य का मुख्य कर्तव्य है। राज्य के नियमों के विरुद्ध आचरण करने पर पोप और पादरी सब राज्य के न्यायालयों के आधीन हैं। राज्य धर्मसंघ की सम्पत्ति पर कर वसूल कर सकता है। केवल राजा ही बल प्रयोग कर सकता है, धर्म-पुजारियों को बल प्रयोग करने का अधिकार नहीं है।

अध्याय ८

मध्य युग का अन्त

चौदहवीं व पन्द्रहवीं शताब्दी में यूरोप में ईसाई धर्मसंघ के विरुद्ध विद्रोह की भावना तीव्र हो गई थी और यूरोप के ईसाई विश्व में धर्मसंघ का प्रभाव घटता जा रहा था। लोगों की श्रद्धा घटने के कई कारण बतलाये जाते हैं। स्वयं धर्मसंघ में बहुत सी बुराइयाँ आगई थीं। धर्मसंघ के पुजारी अपार सम्पत्ति के स्वामी बन गये थे और सम्पत्ति के स्वामित्व के अनुगामी विषय-भोग, ईर्ष्या, द्वेष, भ्रष्टाचार आदि ने धर्म पुजारियों पर अपना आधिपत्य जमा लिया था। एक ओर ईसाई धर्म के प्रवर्तक का त्याग और दूसरी ओर इन धर्मगुरुओं की सम्पत्ति तथा ऐश्वर्य की भूख अनुयायियों को भ्रम में डाल देती थी। वे यह न समझ पाते थे कि सत्य किसमें है, धर्मशास्त्रों के वचनों में या पोप के फतवों में। शिक्षा के प्रचार से बाइबिल का पढ़ना अधिकाधिक होने लगा जिसका परिणाम यह हुआ कि लोग पादरियों के भुलावे में न आने लगे। यही नहीं, वे इन पादरियों के मिथ्याचार से परिचित हो गये। उनके द्वारा प्रचलित सिद्धान्त के अनुसार वे इनको धन देकर पापों की क्षमा-याचना करा लेते थे किन्तु उन्हें इस कृत्य में श्रद्धा न थी। धर्मगुरुओं के सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप करने से जो कलह और अशान्ति फैली हुई थी उससे लोग क्षुब्ध थे। उस हस्तक्षेप में धर्मसंघ की स्वार्थपरता और शक्ति-लोलुपता स्पष्ट दिखाई देती थी। नरेशों के हाथ बँधे हुये थे। उनके राज्य की भूमि के अधिकांश पर धर्मसंघ का स्वामित्व था जिसकी आय पोप के पास पहुँचती थी। नरेश यह चाहते थे कि पोप का यह स्वामित्व किसी तरह समाप्त हो और यह भूमि उनके हाथ में आवे जिससे वे अधिक सम्पन्न होकर अपने को सुदृढ़ शासक बना सकें। वे यह भी चाहते थे कि पोप के प्रति अश्रद्धा फैले और धर्मसंघ की अन्तर्राष्ट्रीय प्रभुता समाप्त हो जिससे उनकी प्रजा की भक्ति उनके प्रति बढ़े और वे स्वयं पोप के आधिपत्य से निकल जायँ।

ऐसी स्थिति में उस समय जो विचारक हुए उन्होंने पोप की शक्ति का खण्डन, नरेशों के अधिकारों का मण्डन और धर्मसंघ में सुधार करने के सुझाव दिये। इन विचारकों में दो का नाम प्रसिद्ध है। एक विक्लफ और दूसरा हुस। दोनों मार्सीलियो और ओकमके लोक-सत्तात्मक विचारों से प्रभावित हुए थे।

विक्लिफ—विक्लिफ आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रोफेसर था। उस समय इंगलैण्ड के राजा ने पोप का आधिपत्य को उतार फेंका था और पोप को भेंट देना बन्द कर दिया था। एक पादरी ने उस समय यह प्रचार किया कि ऐसा करने से इंगलैण्ड के नरेश को राज्य पर अधिकार नहीं है, विक्लिफ ने इस प्रचार का खण्डन करने के लिये कुछ लेख प्रकाशित किये जिनसे उसके विचारों का पता चलता है। विक्लिफ ने "अपना देश और अपना राज्य" इस राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर यह दिखलाने का प्रयत्न किया कि पोप का आधिपत्य और सम्पत्ति पाने का अधिकार मानने योग्य नहीं है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये आधिपत्य और सम्पत्ति के सम्बन्ध में उसने कुछ नवीन सिद्धान्त स्थिर किये। राजनीति की दृष्टि से ये बड़े महत्त्व पूर्ण हैं।

आधिपत्य—विक्लिफ के अनुसार आधिपत्य स्वामी और भृत्य के बीच भावना है। एक सेवा पाने का भाव रखता है, दूसरा सेवा करने का। यह आधिपत्य दो प्रकार का है, एक दैवी और दूसरा मानवीय। दैवी आधिपत्य वह है जिसमें ईश्वर सब मनुष्यों पर चाहे वे गृहस्थी हों या पुजारी, सीधे बिना किसी की मध्यस्थता के शासन करता है। ईश्वर और मनुष्य का सीधा सम्बन्ध है। यह व्यक्तिवाद की झलक देने वाला विचार है। दैवी आधिपत्य सब से ऊँचा है। विक्लिफ के मन में सामन्तशाही प्रथा का चित्र वर्तमान था जिसमें स्वामी और सेवक की विभिन्न कड़ियों की शृंखला से राजा और प्रजा का सम्बन्ध जुड़ा हुआ था। किन्तु दैवी आधिपत्य में यह वह इस सामन्तशाही को न मानता प्रतीत होता है। दूसरा आधिपत्य मानवीय है जिसके दो भेद हैं, एक प्राकृतिक और दूसरा सामाजिक। प्राकृतिक आधिपत्य में सब सत्यव्रती मनुष्य सब के ऊपर आधिपत्य रखते हैं। यह आधिपत्य मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था में रहता था जब सब मनुष्य सदाचारी रहते हुए सब की सेवा करते और सब से सेवा पाते थे और ईश्वर से प्रदत्त सारी सम्पदा का मिल कर सब भोग करते थे। इसलिये सम्पत्ति को भोगने और सेवा पाने का न्याय पूर्ण और सच्चा अधिकार सत्यव्रती लोगों का ही है। जब मनुष्य का पतन हुआ और समाजव्यवस्था की आवश्यकता हुई तो उस समाज में तो ये सत्यव्रती व्यक्ति ही सब सम्पत्ति के स्वामी हुए और सेवा पाने के अधिकारी बने। जो दुराचारी व असत्य व्यवहार करने वाले थे उन्हें न सम्पत्ति रखने का अधिकार था न सेवा पाने का। सामन्तशाही प्रथा के आधार पर विक्लिफ ने स्वामित्व में सम्पत्ति और शासन दोनों का मेल कर दिया। जो शासन का अधिकारी होगा वही सम्पत्ति का स्वामी होगा। सृष्टि का कर्ता होने से ईश्वर सब का शासक है और सारी वसुधा का स्वामी है किन्तु

सृष्टि क्रम को चलाने के हेतु जो इस क्रम में सहायक तत्व के अनुकूल व्यवहार करने वाले हैं उन्हें ईश्वर ने यह वसुधा सौंप दी है। नरेश और धर्मगुरु दोनों ही ईश्वर के प्रतिनिधि हैं। यहाँ विक्लिफ ने नरेशों के दैवी अधिकार सिद्धान्त का बीजारोपण कर दिया। नरेश लौकिक विषयों में मनुष्यों के ऊपर वैसा ही एकाकी आधिपत्य रखता है जैसा पोप धर्म-सम्बन्धी व्यवहार में।

राज्य और धर्मसंघ—आधिपत्य के इस सिद्धान्त से कुछ अन्य विचार उत्पन्न हुये। विक्लिफ का कहना था कि नरेश का शासनाधिकार न वंशागत है न निर्वाचकों द्वारा प्रदत्त। ईश्वर द्वारा ही यह अधिकार प्राप्त है। नरेश लौकिक क्षेत्र में उसी प्रकार सर्व प्रभु है जिस प्रकार धर्मसंघ धार्मिक क्षेत्र में। नरेश उसी प्रकार ईश्वर का प्रतिनिधि है जिस प्रकार पोप। दोनों का अधिकार क्षेत्र पृथक है और एक को दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप करना न उचित है न उपयुक्त। पोप और अन्य पादरियों को अपना व्यवहार केवल धार्मिक विषयों तक ही सीमित रखना चाहिये, वे शासन करने के अधिकारी नहीं हैं न शासन करना उनके गौरव की वृद्धि करता है। इसके विपरीत शासन कार्य नरेश का कर्तव्य है और वह धर्मसंघ के लौकिक विषयों में भी जैसे सम्पत्ति आदि का प्रबन्ध व्यवस्था करने का अधिकारी है। नरेश का ही यह कर्तव्य है कि वह यह देखे कि राज्य में प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह गृहस्थी हो या पुजारी, अपने कर्तव्य का पालन करता है। शासन करने का काम नरेश को सुपुर्द है न कि पुजारियों को, धर्मसंघ को शासन के पचेड़े में पड़ना शोभा नहीं देता।

पोप और धर्मसंघ—विक्लिफ पोप की निरंकुशता का कट्टर विरोधी था। अन्य विरोधियों के समान उसने भी पोप की आज्ञाओं को धर्मशास्त्रों के प्रतिकूल और अमाननीय ठहराया। उसका कहना था कि धार्मिक विश्वास और व्यवहार की कसौटी बाइबिल है। पोप द्वारा निश्चित व्यावहारिक धर्म मानने योग्य नहीं है क्योंकि बाइबिल के आदेशों से उस व्यवहार का समर्थन नहीं होता। धर्मसंघ को न पोप की आवश्यकता है न अन्य धर्माध्यक्षों की, ईसा का सीधा सादा धर्म उसके सामान्य उपदेशों के बल पर ही पनप सकता है। ईसा ने अपने पार्थिव जीवन में सब कुछ त्याग दिया था, उसके पास न सम्पत्ति थी न सत्ता। इसी आदर्श को मानते हुये विक्लिफ की यह सलाह थी कि पोप अपनी सारी लौकिक सत्ता को नरेश के हाथ में सुपुर्द कर दे और अपने आधीन धर्मपुजारियों को भी वैसा ही करने के लिये कहे। विक्लिफ ने धर्मसंघ को जो सम्पत्ति-त्याग का उपदेश दिया और इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि नरेश का इस सम्पत्ति पर अधिकार है और वह उसे छीन कर राज्य के काम में लासकता है उससे धर्माधिकारी बड़े अप्रसन्न हुए और पोप

ने विक्लिफ को न्यायालय में उसे दण्ड देने के लिये पकड़कर बुलाया। किन्तु इंगलैण्ड की रानी और अन्य लोगों ने उसे पकड़े जाने से बचा लिया। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने यह कह दिया कि पोप को उसके अध्यापकों पर नियन्त्रण रखने का अधिकार नहीं है। विक्लिफ के सिद्धान्त इंगलैण्ड के नरेश के पक्ष में थे। पोप को इंगलैण्ड से एक भारी धनराशि भेंट के रूप में जाती थी। विक्लिफ के सिद्धान्त को मानने से देश का धन बाहर जाने से रुकता था। दूसरे उस समय पोप फ्रांस के नरेश के प्रभुत्व में था और इंगलैण्ड तथा फ्रांस में वैमनस्य था। विक्लिफ का कहना था कि धर्मसंघ के अफसरों को धार्मिक दण्ड देकर अपनी लौकिक सुविधाओं की रक्षा करने का अधिकार नहीं है, न वे उसका भय दिखा कर अपने लिये ऐसी सुविधायें प्राप्त करने के अधिकारी हैं। विक्लिफ के अनुसार धर्मसंघ के अधिकारियों को अपने कर्तव्य की अवज्ञा करने पर राजकीय न्यायालय दण्ड दे सकते हैं। मध्ययुग के अन्त में अन्य विचारकों की तरह विक्लिफ पादरियों के समाज को धर्मसंघ न मानता था। धर्मसंघ ईसाई धर्म में विश्वास व श्रद्धा रखने वाले व्यक्तियों का समाज है और इस समाज के व्यक्तियों में ईश्वर अपनी शक्ति तथा सत्य को व्यक्त करता है न कि केवल पादरियों में। उपासना व अन्य धार्मिक कृत्यों का महत्त्व इसलिये नहीं है क्योंकि वे पादरी द्वारा विधिपूर्वक कराये जाते हैं, किन्तु इसलिये कि उनसे ईश्वर तथा मनुष्य में आध्यात्मिक सम्बन्ध अधिक दृढ़ होता है। इन सिद्धान्तों से धर्मसंघ में पोप व पादरियों के निरंकुश तथा थोथे धार्मिक सिद्धान्तों पर अवलम्बित प्रभुत्व को समाप्त करने की ओर इशारा था। प्रजातन्त्री विचार सब से पहिले धर्मसंघ के शासन के सम्बन्ध में ही उत्पन्न हुए उसके पश्चात वे राज्य के शासन में उतरे। असल में मध्ययुग में धर्मसंघ ही राज्य था, वही सर्वप्रभुसत्ता थी, राज्य तो धर्मसंघ का एक विभाग भर था जो पुलिस का कार्य करता था। पोप इस धर्मसंघ का सम्राट् था जो सब मनुष्यों के सम्पूर्ण जीवन पर निरंकुश शासन करता था। इस निरंकुशता को दो प्रकार से समाप्त करने की प्रवृत्ति हुई। पोप व उसके पादरियों के धार्मिक महत्व को कम कर और दूसरे नरेश के अधिकार को अधिक बढ़ा कर इस उद्देश्य की पूर्ति की जासकती थी। सत्य तो यह है कि धर्मसंघ में सुधार करने वाले पोप से अपनी रक्षा करने के हेतु बरबस राजा के संरक्षण में पड़ जाते थे और उसकी सहायता तथा बल के सहारे पोप को दबा सकते थे। इस प्रकार पोप की शक्ति घटाने के उद्देश्य से राजा की शक्ति स्वतः ही बढ़ती गई। अन्त में जो निरंकुशता पोप में थी वह राजा में आ गई। उस निरंकुशता को समाप्त करने में कई शताब्दियाँ लगीं।

जसा ऊपर कहा जा चुका है ईश्वर और उसके भक्तो का शासन ही विक्लिफ सच्चा शासन मानता था। अन्य प्रकार का शासन मिथ्या है, अनधिकार है और प्राकृतिक विधान के प्रतिकूल है। राजा का शासन पाप के कारण आवश्यक है और उसका उद्देश्य दुष्ट मिथ्याचारियो को दबाव में रखना है। किन्तु इन पापियो को दबाव में कौन रखे ? विक्लिफ के अनुसार ईश्वर को सर्व प्रभु मानते हुए सब लोग देश मे शासन करें और बाइबिल के सिद्धान्तो का उस शासन में अनुसरण करें। विक्लिफ पर ओल्ड टैस्टामेंट मे वर्णित न्यायाधीश शासको का तथा अरस्तू के तत्वज्ञानी शासको से सम्बन्धित विचारो का प्रभाव पडा प्रतीत होता है, तभी उसने उच्चधर्माधिकारियो के शासन को आदर्श शासन बतलाया है।

विक्लिफ बडी उम्र में जाकर समाज सुधारक बना था। पचास वर्ष की उम्र तक वह रूढिवादी रहा। निर्धनो के प्रति महानुभूति और धर्माधिकारियो की भोगलिप्सा तथा ऐश्वर्य ने उसे सुधारक बना दिया। तभी उसने यह कह कर कि सम्पत्ति पाप का परिणाम है, यह प्रतिपादन किया कि ईसा और उसके शिष्यो के समान धर्माधिकारियो, पादरियो के पास सम्पत्ति न रहनी चाहिये। वह कहता था कि सब धर्मावलम्बियो का सम्पत्ति पर समान अधिकार है, सत्याचरण ही सम्पत्ति पर अधिकार देता है। पादरी सत्याचारी न रहने से सम्पत्ति के अधिकारी नही हैं। राजा को यह निश्चय करने का अधिकार होना चाहिय कि पादरी सम्पत्ति रखें या न रखें। इन विचारो में जो साम्यवादी पुट है उसका कुछ लोगो पर बडा प्रभाव पडा और कहते हैं कि बोहेमिया तथा इगलैंड में कृषक विद्रोह विक्लिफ के विचारो का परिणाम था।

विक्लिफ ने निर्धनो के प्रति प्रेम व महानुभूति स अभिभूत होकर कुछ ऐसे उपदेशको को रखा जो घूम घूमकर निर्धनो को धर्म का उपदेश देते थे। वह इन्हे 'निर्धन पुजारी' कह कर पुकारता था। उसने बाइबिल का अंग्रेजी भाषा मे सर्व प्रथम उल्था किया। पोप और पादरियो का वह कट्टर विरोधी था। उसके जीवन काल म इस अपराध के लिये उसे दण्ड न मिल सका किन्तु मर जाने पर उसकी अस्थि कब्र में से निकाली गई और उसे जलाने की आज्ञा दी गई। अपने प्रजातंत्री, राष्ट्रीय तथा पोप सत्ता विरोधी विचारो के कारण विक्लिफ सुधार युग का प्रात कालीन सितारा कहलाता है क्योकि उसके विचारो ने लोगो के मन मे घर कर लिया और उन्होने प्रोटैस्टेन्टी विरोध की भूमि तैयार कर दी।

जॉन हस

विक्लिफ के विचारों में साम्राज्यशाही तथा धर्मशास्त्र का जो अद्भुत मिश्रण था वह बोहेमिया के निवासियों को अत्यन्त मोहक सिद्ध हुआ क्योंकि वे जर्मन सम्राट् और जर्मनों से घृणा करते थे। बोहेमिया में स्थित प्राग नगर के विश्वविद्यालय में जॉन हस रैक्टर (मुख्य अधिष्ठाता) था। वह विक्लिफ के सिद्धान्तों का अनुयायी था और विक्लिफ के समान पोप सत्ता का विरोधी था। उसने पोप सत्ता के विरोध में खूब प्रचार किया जिससे वह लोकप्रिय बन गया। उसने स्वयं किन्हीं नये सिद्धान्तों या विचारों का प्रतिपादन नहीं किया किन्तु विक्लिफ के विचारों का समर्थन कर उनका प्रचार खूब किया। यूरोप में पोप के विरुद्ध वातावरण उत्पन्न करने में इसने कम महत्व का काम नहीं किया। उसका कहना था कि वास्तविक धर्मसंघ ईसाई मतावलम्बियों का समाज है, पादरियों का सगठन नहीं है। पादरी समाज को सबसे अधिक चुभने वाली बात जिसका हस ने प्रचार किया वह यह थी कि धर्मसंघ को सम्पत्ति की बिलकुल आवश्यकता नहीं है, इसलिये नरेशों का यह अधिकार है कि वे पादरियों द्वारा सम्पत्ति का दुरुपयोग होने पर उनसे इस सम्पत्ति को छीन सकते हैं। सन् १४१४ में उसके प्रचार से क्रुद्ध होकर कोन्सटैन्स में बैठी धर्मपरिषद् ने उसको बुलाया और उसे यह आश्वासन दिया कि उसके प्राण की रक्षा की जायगी। किन्तु जब वह कोन्सटैन्स में पहुँचा तो उसे प्राणदण्ड देकर उसकी हत्या कर दी गई।

विक्लिफ और जॉन हस के विचारों के प्रचार से १५ वीं शताब्दी के यूरोप में नई हवा चलने लगी। धर्मसंघ व पोप की प्रभुता के विरुद्ध जो विद्रोह हुए वे अधिक समय तक न टिक सके, किन्तु नई विचारधारा का बहना आरम्भ हो गया जिसकी पराकाष्ठा प्रोटैस्टैन्ट सुधारों में जाकर हुई। धार्मिक क्षेत्र में नये विचारों के अनुसार पोप या अन्य पादरियों के आदेश माननीय नहीं थे, धर्मशास्त्र के वचन धार्मिक शङ्काओं के अन्तिम निर्णायक हैं ऐसा समझा जाता था। इस बात पर भी जोर दिया जाता था कि ईसाई धर्म बहुत आडम्बर पूर्ण हो गया है जिसमें इसमें बहुत सी बुराइयाँ आ गई हैं। धर्मसंघ का सुधार आवश्यक है और इस सुधार के लिये यह आवश्यक है कि सब आडम्बर को समाप्त कर धर्मसंघ का वही रूप हो जो ईसाई मत के आरम्भ में था। राजनैतिक क्षेत्र में पोप की अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोध किया जाता था। वह नरेशों के कार्य में हस्तक्षेप करने का अधिकारी न समझा जाता था और यह माना जाता था कि नरेश धर्मसंघ की सम्पत्ति छीन सकते

है। इस प्रकार धर्मसघ की अपेक्षा राज्य को अधिक महत्व दिया जाने लगा। संक्षेप में, समाज में धर्म की प्रभुता पर अविश्वास उत्पन्न हो गया। धर्म के पुजारी शासकों के चारों ओर श्रद्धा का जो तेज चमकता था वह समाप्त हो गया। यह धारणा जाती रही कि पादरियों का ही तत्वज्ञान पर एकाधिकार है और उनका वचन अन्तिम प्रमाण है। धर्म के ऊपर आधारित विश्व समाज में एक ओर दरारें पड़ गईं, दूसरी ओर भेद-भाव की भित्तियां टूट कर एक जाति भाषा व राज्य के आधार पर राष्ट्रों का सगठन हुआ।

कौंसीलियर आन्दोलन

तेरहवीं व चौदहवीं शताब्दी में पोप व उसके आधीन ईसाई पुजारियों की प्रभुता के विरुद्ध यूरोप में भावना जाग्रत हो चुकी थी। जिस प्रकार पोप व अन्य पुजारी लोगों के जीवन पर अपना नियन्त्रण रखने लगे थे उससे जनता घबरा गई थी। पोप की प्रभुता और उसका शासन पीडन का एक अच्छा आयुध बन चुका था। धार्मिक प्रश्नों में पोप की ऐसी आज्ञायें और निर्णय होते थे जिनको जाग्रत बुद्धि स्वीकार न करती थी। पोप अपने भोग विलास के लिये सब प्रकार की सामिग्री जुटाने के लिये धर्म के नाम पर जनता की सम्पत्ति ऐसे साधनों से हड़पने लगा था जिससे जनता खीझने लगी थी। पोप के न्यायालयों की अनधिकार चेष्टाएँ बडी दुखदाई बन गई थी। पोप का पादरी-वैभव इतना बढ गया था कि लोगों के मन में शका होने लगी थी कि क्या वास्तव में पोप उस धर्म का गुरु है जिसका प्रवर्तक त्याग और आत्म बलिदान की मूर्ति था। जनता तथा उस समय के विचारक सामान्यत धर्म-सघ की उपासना, धार्मिक उपदेशों और सिद्धान्तों से असतुष्ट होने लगे थे। विचारकों के मन में यह प्रश्न उठने लगा था कि क्या पोप व धर्मसघ के अधिकारी वास्तव में उस परम सत्य के ज्ञाता हैं जो धर्म का मूल है। विलियम ओकम जैसे विचारक तर्क को प्रधानता देने लगे थे। उनका कहना था कि यदि मनुष्य को विचार करने की स्वतन्त्रता हो तो वह सत्य को खोज सकता है जिस पर श्रद्धा रखना मनुष्य का धर्म है। यह स्वतन्त्रता तभी मिल सकती थी जब पोप की निरकुशता तथा स्वेच्छाचारिता समाप्त हो। इसको समाप्त करने का एक मात्र साधन यह था कि साधारण जनता और पुजारी सब मिलकर पोप की शक्ति पर अकुश रखें। इसी अभिप्राय से चौदहवीं शताब्दी के विचारकों ने यह प्रतिपादन किया कि ईसाई धर्म का मूल धर्म ग्रंथों में है न कि पोप के निर्णयों में और धर्मसघ पोप, पुजारियों का सगठन नहीं किन्तु ईसाई भक्तों का समाज है। भक्तों के इस समाज की बुद्धि में ही धर्म की

अभिव्यक्ति होती है, न कि पोप की बुद्धि में। यदि भक्तों का समुदाय सच्चा धर्मसंघ है तो पोप के ऊपर इस समुदाय का प्रभुत्व रहना चाहिये। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये ही मार्सीलियो तथा ओकम धर्मसंघ की परिषद् बनाना चाहते थे, जो धार्मिक प्रश्नों पर अपना निर्णय दिया करे। इस परिषद् में वे बुद्धि और श्रद्धा का मेल देखना चाहते थे क्योंकि वे चाहते थे कि यह परिषद् धर्मशास्त्रों के वचनों का बुद्धिसंगत अर्थ लगाकर यह निर्णय किया करे कि धर्म क्या है। इससे स्पष्ट है कि पोप की निरंकुशता के विरोधी इस निरंकुशता को अनुचित और अनधिकारी समझ कर उस पर समाज का नियंत्रण रखने के प्रबल समर्थक बन गये थे। धर्मसंघ की बुराइयों को दूर करने के लिये और उसमें सुधार लाने के लिये धर्मसंघ परिषद् (चर्च कौंसिल) मुख्य साधन माना जाने लगा था। यह धारणा दृढ़ हो गई थी कि इस प्रकार की परिषद् ही ईसाई समाज को पोप के पीड़न से बचा सकती है।

महान फूट (ग्रेट सिज्म)—सन् १३०६ से १३७६ तक पोप फ्रांस के नरेश के आधीन रहे। रोम नगर से दूर फ्रांस के नरेश के आधीन एविग्नन में रहने वाले पोप के प्रति श्रद्धा कम हो गई। फ्रांस के विरोधी नरेश और उनकी प्रजा इस पोप के आधिपत्य को स्वीकार करने को तैयार न थी। सारे ईसाई विश्व में पोप की जो प्रधानता चली आ रही थी वह इस आधीनता से बहुत कम हो गई। ईसाई धर्म के अनुयायी रोम को ही पोप का मुख्य स्थान मानते चले आ रहे थे। रोम से हट कर एविग्नन में चले जाने से उन लोगों की श्रद्धा में धक्का लगा। रोम में पोप की अनुपस्थिति में उत्पात होने लगे। इटली में भी पोप के विरुद्ध आग भड़कने लगी। यह प्रतीत होता था कि पोप की प्रभुता समाप्त होना चाहती है और उसकी रक्षा का एक मात्र उपाय यह था कि पोप फिर रोम में आकर रहे। सन् १३७६ में पोप ग्यारहवें ग्रेगरी ने एविग्नन को छोड़कर रोम आने का निश्चय किया। किन्तु दो वर्ष पश्चात् उसकी मृत्यु हो गई और मृत्यु के पश्चात् पोप के चुनने वाले कार्डीनलों में फूट पड़ गई, एक दल का नाम रोमन दल और दूसरे का फ्रांसीसी दल था। रोमन दल ने एक इटैलियन निवासी को पोप चुना जो अर्बन षष्ठ नाम से विख्यात हुआ। इस चुनाव को फ्रांसीसी दल ने अस्वीकार कर दिया और स्वयं अपना पोप चुना जो क्लीमेन्ट सप्तम के नाम से कहलाया। इस प्रकार ईसाई जगत के दो धर्मगुरु हो गये। फ्रांस ने क्लीमेन्ट को पोप माना जो एविग्नन में रहता था और फ्रांस के विरोधियों ने अर्बन षष्ठ को। यह फूट ४० वर्ष तक चलती रही। दोनों दल अपने अपने पोप को चुनते रहे। इस फूट को मिटाने के लिये ही कौंसीलियर आंदोलन आरम्भ हुआ। यह स्पष्ट था कि

दोनों पोपों में से एक को मान्य करे अन्यथा यह फूट नहीं मिट सकती। यह मान्यता दोनों पोपों से उच्च समझी जाने वाली कोई अन्य शक्ति ही दे सकती थी। और धर्मसंघ परिषद (चर्च कौंसिल) ही ऐसी संस्था थी जो इस गुत्थी को सुलझा सकती थी। इस आंदोलन का आरम्भ पैरिस विश्वविद्यालय में हुआ जहाँ गर्सन नामक एक विद्वान ने एक नये सिद्धांत का प्रतिपादन किया जिसके अनुसार संघपरिषद को यह कर्तव्य सौंपा गया कि वह यह निर्णय करे कि वास्तविक पोप कौन है। नरेशों ने इस सिद्धांत का समर्थन किया। सन् १४०९ में एक परिषद् बुलाई गई। परिषद् ने दोनों पोपों को अमान्य ठहराया और एक तीसरे पोप को चुना। इस प्रकार दो के स्थान पर तीन पोप हो गये। यह तीसरा कुछ समय बाद ही मर गया किन्तु उसके कार्डीनलों ने कोसा नामक एक समुद्री डाकू को पोप चुना। स्थिति, सुधरने के स्थान पर, बिगड़ गई।

कौन्सटैन्स की परिषद्—सन् १४१४ में एक नई परिषद् बुलाई गई और उसकी बैठक कौन्सटैंस नगर में हुई। इस परिषद् ने यह निश्चय किया कि पोप परिषद् को भंग नहीं कर सकते और उन्हें परिषद् का आधिपत्य कुछ बातों में मानना पड़ेगा। यह भी निश्चय हुआ कि भविष्य में प्रति सात वर्ष बाद परिषद बुलाई जाय। इसने एविग्नन के पोप को पोप की गद्दी छोड़ने की आज्ञा दी किन्तु वह न उतरा। उसके उत्तराधिकारी को फ्रांस ने मानने से इनकार कर दिया और कुछ समय के पश्चात् वह पोप न रहा। सन् १४१७ में परिषद् ने नया पोप चुना जो मार्टिन पञ्चम कहलाया। रोम के पोप ने सन् १४१४ में ही परिषद् के कहने से ही पद त्याग कर दिया था। इस प्रकार ईसाई मठ की यह महान फूट समाप्त हो गई। किन्तु इस फूट ने जिस आंदोलन को जन्म दिया उससे विचार जगत में बड़ी उथल-पुथल और जाग्रति हुई।

आंदोलन का महत्व

कौंसीलियर आंदोलन का मुख्य उद्देश्य ईसाई धर्म जगत की फूट और उससे उत्पन्न विषम स्थिति को सुधारना भर ही प्रतीत होता है क्योंकि इस फूट के समाप्त हो जाने पर आंदोलनकारियों का उत्साह कम हो गया और यह जन-आंदोलन का रूप धारण न कर सका। इस आंदोलन के प्रवर्तक विश्वविद्यालय के विद्वान थे इसलिये नवीन सिद्धांतों का प्रतिपादन करके ही उन्हें संतोष मिल गया प्रतीत होता है। धर्मसंघ के सुधारक, जिन्होंने धर्मपरिषद् और पोप का पारस्परिक सम्बन्ध स्थिर किया, इतने प्रगतिवादी न थे कि पोप की प्रभुता को समाप्त करके ईसाई धर्मसंघ में जनतन्त्रात्मक शासन स्था-

पित करने । ये लोग विक्लिफ और हस के विचारों का भी शायद बहुत अनि-
धारी समझते थे । कौंसिल की परिषद् ने हस को प्राणदण्ड दिया और
विक्लिफ के शव को कब्र से खुदवा कर जलाने की आज्ञा दी । इस आंदोलन
ने कोई महत्व-पूर्ण सामाजिक, धार्मिक या राजनैतिक परिवर्तन नहीं किये न
इन परिवर्तनों के कारण इसका महत्व है । किन्तु यह आन्दोलन पहिला
प्रयत्न था जिसके द्वारा पोप की निरकुश शक्ति के ऊपर समाज की प्रति-
निधिक सस्था का प्रभुत्व स्थिर किया गया । यह मान लिया गया कि पोप
के पद पर आसीन होने के लिये यदि झगड़ा हो तो परिषद् यह निर्णय
करेगी कि पोप किसको बनाया जाय । निष्कर्षतः पोप से परिषद् अधिक
शक्तिशाली मान ली गई । परिषद् की यह मान्यता विचार जगत की उस
हलचल का परिणाम था जो विलियम ओकम और 'मार्सीलियो के विचारों
से उत्पन्न हुई या उनके विचारों में व्यक्त हुई । यह आंदोलन पोप की निर-
कुशता को मिटाने में असफल रहा । इस निरकुशता को मिटाने के समर्थन में
बातचीत तो बहुत हुई, नये-नये तर्क उपस्थित किये गये, पूर्व विचारकों के
सिद्धांतों का सहारा लिया गया किन्तु साधारण जनता धर्मसंघ के शासन में
परिवर्तन करने को अभी तैयार न थी । न इन विचारकों ने जनता को जाग्रत
करने का प्रयत्न किया । इसके विपरीत हस को प्राणदण्ड देकर उसके क्रांतिकारी
अनुयायियों को अप्रसन्न कर दिया जिससे उन्होंने एक ऐसी शक्ति को हाथ से
निकाल दिया जो उनके विचारों को कार्य में परिणत कर सकती थी । आंदो-
लन समाप्त होने पर उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप पोप की शक्ति में वृद्धि हो गई
और इस बढ़ी हुई निरकुश अत्याचारी शक्ति को नष्ट करने के लिये आगे
चल कर एक दूसरा उपाय काम में लाया गया । दैवी अधिकार सिद्धांत पर
आधारित राष्ट्रीय नरेशों की शक्ति ने ही पोप की प्रभुता पर चोट पहुँचाई ।
आंदोलन असफल रहते हुए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें भाग लेने वालों ने
प्रतिनिधिक शासन प्रणाली और वैज्ञानिक शासन के सबध में ऐसे विचारों का
प्रतिपादन किया जिन्होंने आगे चल कर आधुनिक युग के राजनीतिज्ञों पर बड़ा
प्रभाव डाला ।

कौंसीलियर सिद्धान्त—इस आन्दोलन के नेताओं में दो का नाम प्रसिद्ध
है । (१) जान गर्सन और (२) कार्डीनल निकोलस, हालाँकि इसके सम
र्थक लेखकों की संख्या बहुत अधिक बताई जाती है । इन लेखकों के पूर्व ही यह
धारणा सर्वस्वीकृत हो चुकी थी कि धर्मसंघ एक पूर्ण इकाई है जिसे अपने
अस्तित्व की रक्षा के लिये किसी अन्य का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं
है । धर्मसंघ स्वयं ही अपनी व्यवस्था करता है और इस व्यवस्था में दोष

आने पर वह स्वयं उन दोषो के निवारण के लिये अपने उपाय कर सकता है। यदि यह मान लिया जाय तो स्पष्ट है कि सघ की शक्ति सारे सघ मे है न कि उसके किसी विशिष्ट अङ्ग में। पोप सघ नही सघ का एक अङ्ग है। धर्म-सघ के सम्बन्ध मे इस धारणा के स्थिर होने से पूर्व यह पुराना विश्वास था कि किसी जनसमाज या सगठित मानव समूह म यह अधिकार अन्तर्निहित है कि वह अपने कानून स्वय बनाये और अपने शासक स्वय नियुक्त करे और (शासितो की) इस स्वीकृति तथा सम्मति के कारण ही वैध शासन और अत्याचारी शासन म भेद माना जाता है।[1] कौंसीलियर विचारको ने इस प्राचीन विश्वास का आश्रय लेकर यह प्रतिपादन किया कि सघ का शासन तभी वैध होगा जब सघ के अनुयायियो की सम्मति व स्वीकृति होगी। यह सम्मति व स्वीकृति धर्मसघ की परिषद् सारे ईसाई समाज का प्रतिनिधित्व करते हुए दे सकती है। इसलिये पोप को परिषद् की स्वीकृति व सम्मति से शासन करना चाहिये। पोप को परिषद् की आज्ञा माननी चाहिये और उस के निर्णयो को कार्यान्वित करना चाहिये। धर्मसघ के शासन में सब धर्माव-लम्बियो में सघ की प्रभुत्व शक्ति है। परिषद् ईसाई समाज का सगठन है और पोप सघ का कार्यकारी है।

परिषद् के पक्ष म निकोलस आफ क्यूसा ने एक अन्य सिद्धान्त का प्रति-पादन किया। क्यूसा ने बेसिल की परिषद् (१४३१-१४३३) म बडा सक्रिय भाग लिया और अपनी 'डि कौनकौरडेन्टिया कैथौलिका' नाम की पुस्तक परिषद् को भेंट की। निकोलस एक जर्मन पादरी था, उसने पैडुआ विश्व-विद्यालय से लॉ के डाक्टर की उपाधि प्राप्त की किन्तु वह सफल वकील न बन सका और कुछ दिन के पश्चात् धर्मशास्त्रों का अध्ययन करने लगा। साथ ही साथ वह पादरी बन गया और ईसाई धर्मसघ के उच्च पदो पर रहा। यद्यपि वह कौंसिलियर आन्दोलन के नेताओ म से था किन्तु बेसिल की परिषद् के समाप्त होने से पहिले ही उसने आन्दोलन म भाग लेना बन्द कर दिया और पोप की प्रभुता का कट्टर समर्थक बन गया। अपनी पुस्तक में उसने परिषद् सम्बन्धी विचारधारा का समर्थन किया। निकोलस यह मानता था कि सृष्टि जीव और जड का एसा सघात है जिसमें प्रत्येक छोटी से छोटी वस्तु तथा जीव का महत्व है। प्रत्येक का अस्तित्व उद्देश्यपूर्ण है। प्रत्येक किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति करता है और एसे विराट के अस्तित्व का कारण है जिसका वह अङ्ग है। सब अवयव अपने धर्म का पालन करते हुए अवयवी को पूर्ण बनाते हैं। उसका कहना था कि सामजस्य ही सृष्टि का मूलमन्त्र है।

१. सैबाइन—हिस्ट्री आफ पोलिटीकल थ्योरी, पृ० २०५

प्रत्येक मानव संगठन का अस्तित्व से अधिक कल्याण तभी हो सकता है जब उसके विभिन्न अङ्गों में सामञ्जस्य हो। क्यूसा यह मानता था कि सब मनुष्य स्वभाव से स्वतन्त्र हैं और उन पर शासन करने का अधिकार, जिसके द्वारा उनकी स्वतन्त्रता पर रोक लगाई जाय और अनाचार करने से रोका जाय, तभी प्राप्त हो सकता है जब ऐसा शासन उनमें सामञ्जस्य स्थापित करता हो और उनको यह शासन स्वीकार हो। यह शासन अधिकार किसी लिखित कानून में हो या किसी जीवित आशय म। यदि सभी व्यक्ति प्रकृति से समान बल वाले और एक समान स्वतन्त्र हैं तो एक का दूसरे पर स्थायी तथा सच्चा आधिपत्य तभी स्थापित हो सकता है जब शासित लोग यह आधिपत्य पसन्द करें और इसके लिये अपनी सम्मति दें। क्यूसा के विचार में कानून तभी मान्य है जब उन व्यक्तियों की सम्मति से यह कानून बना हो जिनके ऊपर उसे लगाया जा रहा हो। यह सम्मति कैसे व्यक्त होती है। रीति रिवाज और प्रचलन से और यह सन्देह होने पर कि प्रचलन क्या है समाज का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था ही यह निर्णय कर सकती है। इन विचारों को क्यूसा ने धर्म-संगठन में लागू करते हुए कहा कि यदि कैथोलिक समाज में सामञ्जस्य रखना है तो यह मानना पड़ेगा कि धर्मसंघ भी अन्य मानव समाजों के समान एक सजीव इकाई है और इसके विभिन्न अङ्ग तभी सुचारु रूप से कार्य कर सकते हैं जब उनके संचालन करने के लिये एक ऐसी संस्था हो जो इकाई तथा उसके विभिन्न भागों का हित दृष्टि में रखते हुए उनमें सामञ्जस्य स्थापित करे। पोप यह सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर सकता। वह ईसाई मतावलम्बियों की सर्वसम्मति को उतने सच्चे रूप में व्यक्त नहीं कर सकता जितनी अच्छी तरह परिषद् कर सकती है। पोप के आदेश इसीलिये मान्य न होते थे। वह सर्व सम्मति के प्रतीक न थे इसलिये उनसे ईसाई समाज में सामञ्जस्य स्थापित नहीं हो सका। ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि प्राकृतिक विधान (नेचुरल लॉ) निकोलस के सिद्धान्तों का मूलमन्त्र था। इस प्राकृतिक विधान के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को स्वतन्त्रता व समानता का अधिकार है और इसी अधिकार के आधार पर सर्वसम्मति ही प्रत्येक आधिपत्य और कानून को मान्यता प्रदान करती है। सर्वसम्मति रीति-रिवाज के रूप में हो या जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्थाओं की हो। धर्मोपदेशकों के इस सिद्धान्त को वह मानता था कि ईश्वर की इच्छा से ही आधिपत्य का अधिकार प्राप्त होता है किन्तु उसका कहना था कि इच्छा पोप में व्यक्त न होकर प्रत्येक मनुष्य की तर्क बुद्धि में अधिष्ठित रहती है और संगठित समाज में वह सर्वसम्मति के रूप में व्यक्त होती है। इस प्रकार उसने प्राचीन धर्म विश्वास और नवीन प्रजातन्त्री

विभागों में एकरूपता स्थापित करने का प्रयत्न किया। यहाँ एक बात पर ध्यान रखना आवश्यक है। आधुनिक काल की तरह मध्ययुग में सर्वसम्मति का अर्थ यह नहीं था कि प्रत्येक व्यक्ति की राय ली जाय और उसकी स्वीकृति प्राप्त की जाय। व्यक्ति की स्वतन्त्र आत्मा और उस आत्मा की उन्नति को उस युग में अधिक महत्व नहीं दिया जाता था। सर्वसम्मति से उस समय अभिप्राय यही था कि समाज के अग्रगण्य प्रतिष्ठित व्यक्ति या संस्थायें किसी प्रश्न पर सहमत हों। व्यक्ति स्वतन्त्र उद्देश्य वाली इकाई न था किन्तु वह किसी धार्मिक या आर्थिक समुदाय का सदस्य था और उस समुदाय की सम्मति व्यक्ति की सम्मति होती थी। इसलिये शासन संगठन में, चाहे वह संगठन धर्म शासन का हो या राज्यशासन का, व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व नहीं होता था, वरन् उनकी विविध धार्मिक व आर्थिक संस्थाओं का होता था।

निकोलस आफ क्यूसा और उसके अनुयायी कौंसिलियर आन्दोलनकारी यह मानते थे कि ईसाई धर्मसंघ (चर्च) में संगठित ईसाई समाज को ही विधान बनाने का अधिकार है। उसके द्वारा जो विधान बनेगा वही स्थायी रूप से सर्वमान्य होगा और वही ईसाई जगत में सामंजस्य स्थापित कर सकता है। धर्मपरिषद् इस संगठित समाज की प्रतिनिधिक संस्था है और वही विधान बना सकती है। पोप और पादरियों के आदेश विधान नहीं हैं। ये परिषद् के आदेशों का पालन करने वाले उपकरण हैं। इन्हें परिषद् द्वारा निर्धारित विधान के अन्तर्गत अपना कार्य करना चाहिये और वे यदि ऐसा न करें तो परिषद् इन्हें अपने पद से हटा सकती है। पोप को चाहिये कि वह अपने आदेशों को परिषद् या अन्य किसी प्रतिनिधिक संस्था के सम्मुख सर्वसम्मति के लिये रखें और तब उनको कार्यान्वित करें। परिषद् को अधिकार है कि वह भ्रष्टाचारी और विधान के विरुद्ध आचरण करने वाले पोप को पदच्युत कर दे। परिषद् में धार्मिक मठों के प्रतिनिधि हों और इन धार्मिक मठों का संगठन छोटे २ धार्मिक समाजों को मिला कर किया जाय। ऐसा प्रतीत होता है कि परिषद् के समर्थक ईसाई धर्मसंघ में संघात्मक वैधानिक शासन की व्यवस्था करना चाहते थे जिसमें पोप का स्थान कार्यकारी अध्यक्ष का हो, वह विधान का निर्माता, नियन्त्रण हीन सर्वप्रभु शासक न हो। किन्तु निकोलस के विचार बहुत तर्क संगत नहीं थे। परिषद् की प्रधानता मानते हुए भी निकोलस पोप को ही यह अधिकार देता है कि वही परिषद् को बुलाये। वह यह भी मानता है कि पोप धर्मसंघ का प्रतिनिधित्व करता है यद्यपि परिषद् यह प्रतिनिधित्व अच्छी तरह करता है। परिषद् में पोप का रहना आवश्यक है यद्यपि परिषद् पोप से उच्च है, पोप संघ का सदस्य होने से

का प्रतिनिधित्व सरदार, जागीरदार और कुलीन वर्ग के व्यक्ति करते हैं। इस विषय में निकोलस तत्कालीन विचारों और भावनाओं से ऊपर न उठ सका और साम्राज्य से अधिक उन्नत किसी राज्यसंगठन का उसने आदर्श उपस्थित न किया। वह यह मानता था कि राजा को परिषद् की आज्ञाओं का पालन करना चाहिये। राजा परिषद् के विधान को अमान्य नहीं ठहरा सकता किन्तु वह यह निश्चय करने का अधिकारी है कि किसी विशिष्ट मामले में कोई विधान लागू नहीं होगा।

कौंसीलियर आन्दोलन और विधानज्ञ—कौंसीलियर आन्दोलन में वैधानिक विचारों का बड़ा आश्रय लिया गया। रोमन विधान का अध्ययन बहुत पहिले से ही लोक-प्रिय हो चला था और उस अध्ययन के फलस्वरूप विधान के सम्बन्ध में नये विचार व नये सिद्धान्त निकलने लगे थे। प्राकृतिक विधान की कल्पना बहुत पुरानी हो चुकी थी। जब प्रचलित रीति-रिवाजों की संकुचित दृष्टि से ऊपर उठ कर विचारकों ने अपनी दृष्टि को ऊँचा उठाया तो प्राकृतिक विधान का प्रतिपादन हुआ। यह प्राकृतिक विधान मनुष्य की सात्विक बुद्धि से उत्पन्न समझा गया और सब जगह, सब समय अटल माना जाता था। इस विधान के अनुसार ही सृष्टि का नियमन समझा जाता था। माना यह जाता था कि यह विधान सब मनुष्यों पर लागू है और इसलिये सब मनुष्य समान हैं और स्वतंत्र हैं। मध्ययुग में प्राकृतिक विधान का यह अर्थ न रहा। न यह वह विधान समझा जाता था जो सृष्टि का नियमन करता है, न वह जो मनुष्य की सात्विक बुद्धि में स्थित रह कर सब मनुष्यों को किसी कार्य को करने या न करने की प्रेरणा देता है। वह केवल ईसाई धर्म-गुरुओं द्वारा आचार विचारों के नियमों का पुञ्ज भर रह गया था जिसमें न तर्क के लिये स्थान था न परिवर्तन के लिये। कौंसीलियर आन्दोलन में धर्मसंघ के सुधार का मुख्य प्रश्न था। यह सुधार ईसाई धर्मसंघ के विधान का सहारा लेकर न किया जा सकता था। इसीलिये प्राचीन प्राकृतिक विधान का आश्रय लेना पड़ा। निकोलस क्यूसैनस ने अपने सामञ्जस्य और सम्मति के सिद्धान्त को प्राकृतिक विधान की प्राचीन कल्पना पर ही प्रतिष्ठित किया, जिसके अनुसार सब व्यक्ति समान और स्वतंत्र हैं। क्योंकि प्राकृतिक विधान मनुष्य की सात्विक बुद्धि में स्थित है इसलिये यह कहा गया कि संगठित मानव समाज या भक्त समाज ही सामाजिक विधान का या धार्मिक विधान का निर्माता है। रोमन विधान की संस्थान (कार्पोरेशन) कल्पना जिसमें संगठित समूह स्वयं एक व्यक्तित्व रखता है और अन्य व्यक्तियों के समान उसके कानूनी कर्तव्य तथा अधिकार होते हैं प्रयोग में लाई गई। ईसाई अनुयायियों

संगठित समूह को एक वैधानिक इकाई मान कर यह कहा गया कि पोप व धर्मसंघ इस संस्थान के एजेंट हैं और उसकी आज्ञा के आधीन हैं। उन्हें इन आज्ञाओं की सीमा के भीतर ही काम करने का अधिकार है। पोप की प्रभुता को मिटाने के बाद वह प्रभुता किस को प्राप्त समझी जाय यह प्रश्न बेनीदा था। संस्थान (कार्पोरेशन) की कल्पना ने सहायता दी। मत अनुयायियों के संगठन को संस्थान के समान इकाई समझ कर सब अधिकारों से विभूषित कर दिया गया। पोप और पादरी इस संस्थान के भृत्य समझ लिये गये। इस प्रकार पोप को ईसाई समाज के आधीन घोषित कर उसे आदेश देने वाला न मान कर आज्ञा पालक कहा गया। संस्थान की कल्पना का प्रयोग संघ परिषद् (जनरल कौंसिल) के सम्बन्ध में भी किया गया। इस परिषद् को संघ का प्रतिनिधित्व संस्थान समझ कर उसके कानूनी सम्बन्धों का रोमन विधान के आधार पर विश्लेषण किया गया। पोप व परिषद् का क्या सम्बन्ध है, परिषद् की बैठक किस प्रकार बुलायी जाय, यदि पोप परिषद् को न बुलावे तो परिषद् स्वयं अपनी बैठक किस प्रकार कर सकती है, ये सब सिद्धान्त रोमन विधानों के आधार पर स्थिर किये गये। बहुमत और पूरक संख्या (कोरम) भी इसी तरह स्थिर किये गये। आन्दोलन के विचारकों ने यह प्रयत्न किया कि संगठित समूह को इकाई का रूप पूरी तरह से दे दिया जाय और इसलिये अतिसूक्ष्म बातों पर भी विचार करके व्यक्तियों के संघात को निश्चित इकाई का रूप दिया गया। "संस्थान के सिद्धान्त ने व्यक्तियों के समूह के वैधानिक अस्तित्व की नींव डाल दी और बाद में इस कल्पना को सम्भव बना दिया कि सत्ता राज्य की जनता में आवास करती है न कि राज्य में। मध्ययुग में समाज एक सजीव वस्तु है इस कल्पना से सब परिचित थे। इसके साथ संस्थान (कार्पोरेशन) के वैधानिक व्यक्तित्व का विचार जोड़ दिया गया। फिर कौंसोलियर आन्दोलन के प्रतिनिधित्व सम्बन्धी सिद्धान्त को जोड़ देने से राज्य और सरकार का, सत्ताधारी का और सौंपी हुई सत्ता को कार्यान्वित करने वाले अवयवों का अन्तर स्पष्ट हो गया"।[1] पन्द्रहवीं शताब्दी में संस्थान की कल्पना राष्ट्रों और राज्यों में मूर्त न हुई थी, हां उसके इस प्रकार मूर्त होने के लिए अनुकूल विचार धारा इस शताब्दी में चल पड़ी थी। समाज की या संघ की जो एकता पहिले एक व्यक्ति के आधिपत्य में समझी जाती थी वह एकता अब संगठित समूह की इकाई के आधिपत्य में सम्भव मानी जाने लगी। सर्वप्रभु एक व्यक्ति का स्थान संग-

१. गैटल—हिस्ट्री आफ पौलिटिकल थौट, पृ. १२६–१२७

उनके बनाये नियमों के अधीन है किन्तु उनके प्रति दण्डात्मक आज्ञा नहीं निकाली जा सकती। नियमों के विरुद्ध आचरण करने पर संघ के पादरी उनके आधिपत्य को अस्वीकार कर सकते हैं। मध्ययुग में ऐसे ही विचार नरेश और पार्लियामेंट के सम्बन्ध के बारे में प्रचलित थे। पार्लियामेंट में यह अधिकार निहित था कि उसकी सम्मति ली जाय, किन्तु पार्लियामेंट को नरेश ही बुलाने का अधिकारी माना जाता था और राजा की स्वीकृति से ही वह विधान बना सकती थी। राजा के विरुद्ध कोई दण्डात्मक आज्ञा न निकाली जा सकती थी। इस सर्व धर्मान्दोलन के विचारक यह चाहते थे कि उस समय की राज्य-शासन प्रणाली के समान धर्मसंघ की सर्वप्रभुता सब अनुयायियों में हो। किन्तु इस सर्वप्रभुता को काम में कौन लावे। धर्मसंघटन के सब विभिन्न उपकरण ही ऐसा कर सकते थे। इन उपकरणों में परिषद् और पोप दोनों ही गिने जाते थे इसलिये परिषद् को ही वे सर्वप्रभु मानने में हिचकते थे। परिषद् को वह पोप पर नियन्त्रण रखने वाला साधन समझते थे। पोप धर्मसंघटन का वैसा ही अधिकारी अंग था जैसा कि परिषद्। धर्मसंघ में दोनों के सहयोग से शासन होता समझा जाता था पर दूसरे के अधिकार आचरण पर रोक लगा सकता है उसके मूल अधिकार को छीन नहीं सकता।

कौंसीलियर ऐक्टरों का यह विश्वास था कि राज्य और धर्मसंघ का वह संगठन सब से उत्तम है जिसमें राजतन्त्री, कुलीनतन्त्री तथा प्रजातन्त्री तत्वों का समावेश हो। वे अन्तिम सत्ता को सब अनुयायियों या जनता में स्थित समझते थे। इन अनुयायियों के विभिन्न प्रतिनिधिक संगठन, धर्मसभाएँ, मठ परिषद् पोप, इत्यादि समान रूप से उस सत्ता का उपभोग करते हुए एक दूसरे को मर्यादित रखते हैं जिससे एक सहकारी समाज की स्थापना होती है। पोप सम्राट नहीं किन्तु समान अधिकारी वाले उपकरणों में प्रमुख उपकरण है। वे न परिषद् को न पोप को सर्वप्रभु मानते थे। परिषद् पोप को मर्यादा के भीतर रख सकती थी उसे समाप्त नहीं कर सकती थी। पोप भी सर्वप्रभु नहीं। यदि वह अपनी मर्यादा से बाहर जाय, भ्रष्टाचारी बने, नास्तिकता दिखलावे, परिषद् के निर्णयों के अनुसार कार्य न करे तो परिषद् उसे पद से हटा सकती है किन्तु पोप के पद को समाप्त नहीं कर सकती। पोप की आज्ञायें प्राकृतिक विधान के अनुकूल हों और संघ द्वारा स्वीकृत हों तथा संघ के हित में हों तभी वे माननीय हैं। बेसिल की कौंसिल पोप और परिषद् के बीच में 'कालेज आफ कार्डीनल्स' स्थापित कर कुलीन तत्व की सृष्टि करना चाहती थी जो पोप पर नियन्त्रण रखे। इसमें वे शायद मिश्रित विधान के

विचार का अनुकरण कर रहे थे। संक्षेप में कौंसीलियर आन्दोलनकारी निरंकुशता के स्थान पर वैधानिकता को आसीन करना चाहते थे।

किन्तु आन्दोलन सफल न हुआ। आन्दोलनकारी धर्मसंघ में उन सिद्धान्तों और व्यवहारों को प्रचलित न कर सके जो मध्ययुग के वैधानिक अर्थात् परिमित राजतंत्रों में देखने को मिलते हैं। उस समय का वातावरण ही ऐसा था कि प्रतिनिधित्व संस्थाओं का महत्व कम हो गया। धर्मसंघ के सुधार की पुकार समाप्त हो गई। कौंसीलियर सिद्धान्तों का महत्व कम होगया। पोप की सर्वप्रभुता फिर स्थापित होगई। अब भी कैथोलिक सिद्धान्तों के अनुसार पोप सर्वप्रभु माना जाता है, केवल प्राकृतिक या दैवी विधान ही उसकी स्वेच्छाचारिता पर मर्यादा स्थापित कर सकता है। उसके बिना धर्मपरिषद् का अस्तित्व ही नहीं होता, परिषद् की आज्ञायें उसकी स्वीकृति से ही मान्य होती हैं, और वह परिषद् की आज्ञाओं में परिवर्तन करने का अधिकारी माना जाता है। पन्द्रहवीं शताब्दी में पोप पहिला निरंकुश शासक बन बैठा। इसके पश्चात् नरेश भी दैवी अधिकार का अवलम्बन लेकर निरंकुश शासक बन गये। मध्ययुग की वैधानिकता समाप्त होगई। राजा न कि प्रजा सर्वोच्च शासनशक्ति का स्वामी माना जाने लगा।

निकोलस क्यूसैनस और राज्य संगठन—निकोलस ने सामंजस्य और सम्मति के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर प्रजातन्त्र का पोषण किया और जनता से ही सब प्रकार के राजनैतिक आधिपत्य की उत्पत्ति होती है इस विचारधारा को आगे बढ़ाने में योग दिया। उसका कहना था कि शासक का कर्तव्य यह होना चाहिए कि वह सम्मति लेकर विधान बनावे और इसलिये सारे कामनवैल्थ (समान तन्त्र) के हित से सम्बन्धित प्रश्नों पर एक परिषद् में विचार किया जाना चाहिए। इस परिषद् में बड़े पादरी और जनता के अन्य प्रमुख व्यक्ति हों जो उन लोगों के हित की रक्षा करें जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं। सारे राज्य के लोग मिलकर परिषद् के सदस्यों को चुनें और उनसे इस बात की सब के सामने शपथ ली जाय कि वे जनहित के लिये सदा प्रयत्न करेंगे। परिषद् में प्रान्तों के प्रतिनिधि प्रान्तपति होंगे। बड़े-बड़े विश्व विद्यालयों के कुलपति, मध्यवर्ग के विख्यात व्यक्ति या निम्न वर्ग के प्रतिभाशाली व्यक्ति होंगे। निकोलस की परिषद् सम्राट् के निर्वाचकों, ड्यूकों, मार्किवसों और अन्य इसी प्रकार के कुलीनों की परिषद् है न कि साधारण जनता द्वारा चुने हुए साधारण प्रतिनिधियों की सभा। इसी प्रकार सम्राट् को साधारण व्यक्ति नहीं चुनते बल्कि बड़े पादरी और सरदार चुनते हैं। साधारण व्यक्तियों

ठित समूह रूपी वैधानिक व्यक्ति ने ले लिया। पन्द्रहवीं शताब्दी में संगठन का यह रूप प्रादेशिक धर्मपरिषदों में और जर्मनी तथा इटैली के स्वतन्त्र नगर-राज्यों में, तथा फ्रांस के स्वतन्त्र प्रान्तों में प्रचलित था। क्योंकि ये संगठन बड़े समृद्ध और शक्तिशाली बन गये थे इसलिये यह धारणा हो गई थी कि संगठन और प्रतिनिधित्व प्रणाली में कुछ विशेष गुण है। इस शताब्दी के विचारकों को इसीलिये संस्थान (कार्पोरेशन) की कल्पना बड़ी आकर्षक सिद्ध हुई, और इस कल्पना का प्रयोग उन्होंने धर्मसंघ के शासन सुधार में ही नहीं किन्तु सामान्य राजनैतिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन में भी किया। ये सिद्धान्त तत्काल ही धर्मसंघ और राज्य का रूप बदलने में सफल न हुये, इनका प्रभाव आने वाली शताब्दियों के विचारों पर अवश्य पड़ा। इसीलिये इनको महत्व दिया जाता है।

इस शताब्दी के विधानज्ञों ने व अन्य विचारकों ने मध्ययुग की एक अन्य धारणा को भी बदलने का प्रयत्न किया। विक्लिफ और उसके अनुयायियों ने सामन्ती प्रथा के व्यवहारों को राजनैतिक सिद्धांतों का रूप देकर सम्पत्ति के स्वामित्व और आधिपत्य का मेल कर दिया था। अर्थात् जिसका आधिपत्य मान्य है वही सम्पूर्ण सम्पत्ति का स्वामी है। इस शताब्दी के प्रमुख विचारकों ने, जिनमें गरसन का नाम प्रसिद्ध है, इस मेल को न माना और स्वामित्व तथा अधिकार में उसने भेद किया। उनका कहना था कि सम्पत्ति पर स्वामित्व व्यक्तियों का है, चाहे वह सम्पत्ति और उसके स्वामी किसी राजा या सम्राट् के शासन के क्षेत्र के भीतर हो। शासन और न्याय करने का अधिकार स्वामित्व से पृथक् है। राजा या शासक व्यक्तियों की सम्पत्ति का अन्याय पूर्वक अपहरण नहीं कर सकता।

मध्ययुग की राजनैतिक प्रवृत्तियों पर विहङ्गम दृष्टि—मध्ययुग में राजनीति के सम्बन्ध में अधिक चिन्तन नहीं हुआ। इस युग की सब से महत्वपूर्ण बात ईसाई धर्म का प्रचार था। ईसाई धर्म के प्रचार के पूर्व सामाजिक जीवन प्रधानतः इहलौकिक था, पारलौकिक न था। धर्म सामाजिक और राजनैतिक जीवन का एक अङ्ग था। ईसाई धर्म ने परलोक और ईश्वर की कल्पना को जन्म देकर मानव जीवन में द्वैत को जन्म दे दिया। ईसाई धर्मावलम्बी यह मानने लगे कि मनुष्य के जीवन पर दो सत्ताओं का आधिपत्य है। परलोक को सुखकर बनाने के लिये ईश्वर के प्रतिनिधि धर्मगुरु का आधिपत्य, और इस लोक को सुखमय बनाने के लिये राजा का आधिपत्य आवश्यक है। राजा भी ईश्वर का प्रतिनिधि है, किन्तु धर्मगुरु अधिक [illegible]

मानी

सहायता से मनुष्य समार के कष्ट और बन्धन से मुक्ति पा सकता है। अब धर्म राज्य का अङ्ग न रह कर उससे पृथक और अधिक महत्व रखने वाली इकाई बन गया, यूनानी तथा प्राचीन रोमन नागरिक राज्य को सर्वोपरि मानता था, किन्तु ईसाई रोमन नागरिक राज्य और धर्म दोनो के प्रति पृथक पृथक भक्ति रखता था, और यदि इन दोनो व्यक्तियो म से एक को चुनने का अवसर आ जाता तो वह धर्म के प्रति झुकता न कि राज्य के प्रति। यह प्राचीन विश्वास कि राज्य ही मनुष्य के पूर्ण विकास का एक मात्र साधन है न रहा। नागरिक गुणो के स्थान पर नैतिक गुणो की प्रधानता बढ गई। राज्य के साथ साथ व्यक्ति धर्म-राज्य का नागरिक बन गया। धर्मराज्य लौकिक राज्य के समान ही नही उससे उच्च समझा जाता था। उस समय सामान्य व्यक्ति को यह कभी सह्य नही हो सकता था कि राज्य व्यक्ति की आत्मा और परमेश्वर के सम्बन्ध में हस्तक्षेप करे। राज्य की सस्थायें धार्मिक सस्थाओ से पृथक हो गई। यूनानियो के समान ईसाई धर्मावलम्बियों के लिये राज्य वह सस्था न रह गई जिनके प्रति कर्तव्य पालन करने से मनुष्य की नैतिक उन्नति की इति श्री हो जाती हो।

प्रारम्भ म ईसाई धर्म संगठन प्रजातत्री था। राज्य से सगठन का कोई सम्बन्ध न था। जब रोमन सम्राट् ने ईसाई धर्म को अपनाया तब धर्म और राज्य मिलकर एक हो गये। फिर भी राज्य प्रमुख था। लौकिक तथा धार्मिक मामलो में सम्राट् ही अन्तिम निर्णायक था। धर्म सघटन का रूप भी साम्राज्य के सगठन जैसा बन गया था। धीरे धीरे सम्राट् की शक्ति घटती गई और पोप का प्रभुत्व बढने लगा। रोम की राजनीतिक सस्थायें पश्चिम में टयूटन जातियो की सस्थाओ से प्रभावित हुई और पूर्व में यूनानी भावना से। पश्चिमी यूरोप म राजनीतिक सभाओ म पादरियों का बडा प्रभुत्व था। धीरे धीरे पोप की शक्ति बढी और पोप सम्राटो को बनाने बिगाडने वाला अधि सम्राट बन बैठा। सम्राट् और पोप का अधिकार क्षेत्र पृथक पृथक तो सभी मानते थे, किन्तु उनका पृथक्त्व किस रेखा से होना है यह निश्चित न हुआ था। मध्ययुग का अधिकतर चिंतन इसी विषय में हुआ कि धर्मगुरु बडा है या नरेश। विद्याध्ययन का कार्य अधिकतर पादरियो के हाथ में ही था और पादरी ही अधिकतर विद्वान थे। अपना आधिपत्य बनाय रखने के लिये वे धर्म शास्त्रो का सहारा लेकर नरेश की अपेक्षा धर्मगुरु को प्रधानता देते। धर्मसंघ को नरेश के आधिपत्य से स्वतत्र मानने और धार्मिक मामलो म नरेश को पोप के आधीन समझते। वे श्रद्धा और अन्ध विश्वास का प्रचार करते और नास्तिकता मिटाने के बहाने विरोधियो का नाश करवाते थे। तर्क और बुद्धि की मान्यता न थी। शास्त्र-वचन सर्वोपरि था। यदि विद्वान लोग चिंतन

करते थे तो उनका विषय यही होता कि शास्त्र-वचन का क्या अभिप्राय है और सच्चा धर्मसिद्धांत क्या है। व्यक्ति और राज्य में क्या सम्बन्ध है, व्यक्ति राज्य की आज्ञा किस सीमा तक माने और कहां पर उसे विद्रोह करने का अधिकार है आदर्श राज्य क्या है और उस राज्य का उद्देश्य क्या होना चाहिये, ये प्रश्न इस युग के विचारकों को व्याकुल न करते थे। ईसाई विचारक धर्मशास्त्र के वचनों के आधार पर यह मानते थे कि राज्य आधिपत्य दैवी है। राजा और पोप दोनों ही ईश्वर के प्रतिनिधि हैं और व्यक्ति का धार्मिक कर्तव्य है कि वह इस आधिपत्य को चुपचाप स्वीकार करे। यदि शासक अत्याचारी है तो यह ईश्वर से दिया हुआ समाज के पापों का दण्ड है और समाज को इसे सहर्ष स्वीकार करना चाहिये। ईसाई विचारक यह मानते थे कि राजा तथा प्रजा दोनों प्राकृतिक विधान के आधीन हैं और राजा का कर्तव्य है कि वह न्याय पूर्वक राज्य करे।

बारहवीं शताब्दी में कुछ बौद्धिक जाग्रति आरम्भ हुई और अरस्तू आदि यूनानी विचारकों के ग्रंथों का विश्वविद्यालयों में अध्ययन आरम्भ हुआ। धर्मशास्त्रों के सिद्धान्तों को अरस्तू के सिद्धांतों से पुष्टि करने का प्रयास किया गया। धर्म शास्त्र के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों का पृथक अध्ययन आरम्भ हुआ। यह भावना दृढ़ होने लगी कि तर्क द्वारा विश्व समझा जा सकता है। राजनैतिक जीवन का महत्व भी मोक्ष में सहायक समझा जाने लगा। दैवी विधान जिस की आत्मा में अभिव्यक्ति होती है और जो धर्मग्रंथों में प्राप्त है उसके अतिरिक्त तर्क से ज्ञात हुआ प्राकृतिक तथा मानवी विधान का अस्तित्व माना जाने लगा। विधान की अभिव्यक्ति तर्क को सहारा देती है न कि तर्क के विरुद्ध जाती है। इस प्रकार तर्क और बुद्धि का सम्मान धीरे धीरे बढ़ने लगा यद्यपि धार्मिक विश्वासों का खण्डन अभी आरम्भ नहीं हुआ।

पश्चिमी यूरोप में ईसाई धर्मगुरुओं के विचारों के साथ साथ ट्यूटन विचारों का भी समावेश हुआ। ये लोग कानून को सर्वोपरि मानते थे। कानून या विधान अमिट समझा जाता था और उसे ईश्वर की वह शक्ति मान कर पवित्र समझा जाता था जो मनुष्य के जीवन को बाहर भीतर सब प्रकार से घेरे हुए है। यह विधान प्रचलित रीति रिवाज में मूर्त समझा जाता था और शासक का काम यह था कि वह विज्ञजनों द्वारा विधान क्या है यह निश्चय करा के घोषणा कर दे। विधान किसी व्यक्ति या सभा द्वारा बनाया हुआ न समझा जाता था। यह सिद्धांत सर्वमान्य था कि विधान जनता का होता है और उसकी सम्मति से ही वह लागू होता है, या उसमें परिवर्तन किया

जाता है। राजा विधान के आधीन समझा जाता था। समाज का संगठन सामन्ती था। गाँव शासन की सबसे छोटी इकाई थी क्योंकि भूमि ही उस समय एक मात्र सम्पत्ति थी। राजा प्रजा पर सीधा शासन न करता था। कोई स्थायी सेना न थी, न राज्य की करो द्वारा कोई स्थायी आय। सामन्त लोग राजा को भेंट स्वरूप धन देते थे और आवश्यकता पड़ने पर योद्धा देते थे। शासन शक्ति राजा में केन्द्रित न होकर अनेकों सामन्तो में बिखरी रहती थी। राजा का दरबार जिसमे राजा व सामन्त बैठते थे, राजा और सामन्तो के बीच उन झगडो को निबटाने वाली संस्था थी जो उनके पारस्परिक सम्बन्धो के कारण उठते थे। सामन्तो के भी इसी प्रकार दरबार होते थे जिसमें उनके आधीन छोटे जागीरदार बैठते थे। झगडो का निर्णय राजा की इच्छा से न होकर सब सामन्तो की सहमति से होता था। यद्यपि राजा अपने सामन्तो के साथ किये हुए इकरारनामो से प्रतिबन्धित था किन्तु यह प्राचीन परम्परा समाप्त नही हुई थी कि वह राज्य का अध्यक्ष है और उससे उच्च है। वह ईश्वर और विधान को छोड कर किसी अन्य के आधीन नही है। राजा सबसे बडा जागीरदार या सामन्त होने के साथ-साथ राज्यशक्ति का स्वामी भी था। किन्तु राजा निरंकुश न था शासक न था वह सामन्तो की सहमति लिये बिना पारस्परिक झगडो को न निबटा सकता था न यह निश्चित कर सकता था कि विधान क्या है। ये सामन्ती दरबार ही आगे चल कर पार्लियामेंट में परिणत हो गए। इनमे प्रतिनिधित्व प्रादेशिक न होकर संस्थानो का प्रतिनिधित्व होता था। राजा का अधिकार वंशागत नहीं था किन्तु यह भी माना जाता था कि यह जनता द्वारा चुना जाता है। चौदहवी शताब्दी मे राजा को चुनने की प्रणाली स्पष्टतया मान ली गई थी और जर्मन सम्राट को कौन और कितने व्यक्ति चुन सकते हैं यह पोप ने निश्चित कर दिया। फ्रास और इगलैड मे निर्वाचित की यह प्रथा नही चली किन्तु फिर भी राजा प्रजा द्वारा नियुक्त समझा जाता था। इसमे स्पष्ट है कि मध्ययुग का राजतत्र वैधानिक था। तेरहवी शताब्दी में इटली फ्रास जर्मनी, इगलैण्ड और स्पेन सब देशो में विभिन्न शक्तियो का प्रतिनिधित्व करने वाली सभायें बन गई थी। फ्रांस में स्टेट्स जनरल का पहिला अधिवेशन सन् १३०२ में हुआ।

दाते के समय तक सम्पूर्ण यूरोप एक सगठित ईसाई समाज के रूप मे माना जाता था। इस समाज का नियत्रण दो सत्ताओ द्वारा होता था, लौकिक विषयो में सम्राट् के द्वारा और धार्मिक विषयो मे धर्मसंघ प्रधान पोप के द्वारा। मध्ययुग में एकतत्र सर्वमान्य था। उस युग के विचारको का कहना था कि

सामाजिक संगठन का सार एकता है, यह एकता शासन करने वाले अङ्ग में होनी चाहिये और यह तभी हो सकता है जब वह शासन करने वाला अङ्ग स्वयं एक इकाई हो, अर्थात् एक व्यक्ति हो। इस धारणा के अनुसार धार्मिक क्षेत्र में पोप और लौकिक क्षेत्र में सम्राट् का शासन होना चाहिये। मध्ययुग गणतन्त्र में श्रद्धा न रखता था। राजतन्त्र ही सर्वप्रिय शासन प्रणाली थी। एक ही विश्व समाज में दो शासक थे किन्तु धर्म-शासक सर्वोपरि माना जाता था। पोप ही सम्राट् बन चुका था। धर्म का प्रभाव इतना था कि जो धर्मगुरुओं का क्रोधभाजन बन जाता वह समाज से बहिष्कृत समझा जाता था। राज्य संगठन इतना ढीला था कि राजा या सम्राट् पोप का सामना न कर सकता था। ग्यारहवीं व बारहवीं शताब्दी में पोप व धर्मसंघ राजाओं पर अपना प्रभुत्व जमाये हुए थे।

किन्तु स्थिति बदली। फ्रांस में राष्ट्रीयता की लहर उठी। वहां के राजा ने सामन्तों को अपने वश में करके एक सुदृढ़ राजतन्त्र की स्थापना की। पोप व धर्मसंघ की भूमि से कर लेना आरम्भ किया गया। पोप जागीरदारों व पादरियों को राजा के विरुद्ध भड़काने में असफल रहा। पोप व धर्मसंघ के प्रभुत्व के विरुद्ध फ्रांस के आधीन विद्वानों ने रोमन विधान का सहारा लेकर ऐसे सिद्धांतों का प्रतिपादन किया जिनसे पोप व धर्मसंघ केवल उपदेशक संस्था रह जाती है। साम्राज्य के स्थान पर राष्ट्रीय राज्यों को मान्यता दी जाने लगी। यह भी कहा गया कि पोप व धर्मसंघ को सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं है। राज्य स्वयं एक सत् संस्था है, ईसाई धर्मसंघ से पवित्र बनने की उसे आवश्यकता नहीं है। पोप के प्रभुत्व को असत्य ठहराने के लिये अरस्तू के सिद्धांतों का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा। अरस्तू के स्वयं पूर्ण समाज में धर्म या धर्मपुजारी की आवश्यकता न थी। यह सिद्धान्त पोप के विरोधियों के अनुकूल था। पोप की प्रभुता पर आक्रमण करने के लिये इतिहास तथा विधान दोनों का सहारा लिया गया और यह सिद्ध करने का प्रयत्न हुआ कि फ्रांस का नरेश स्वतन्त्र है, पोप उसके आधीन है। पोप पशुबल का प्रयोग नहीं कर सकता। पोप की भूमि पर नरेश कर लगा सकता है। पोप का भूमि पर स्वामित्व नरेश के शासन अधिकार को मिटा नहीं सकता।

स्वयं धर्मसंघ में पोप के विरुद्ध असंतोष बढ़ता जा रहा था। महान फूट के कारण दो पोपों के होने पर लोगों की पोप से श्रद्धा उठने लगी। पोप के लगाये हुए करों के बोझ से लोग व्याकुल होने लगे। पोप की निरंकुशता को समाप्त करने के लिये कौंसिलियर आंदोलन आरम्भ हुआ। कई कौंसिल

बुलाई गई जहां पोप के एकतंत्र शासन और प्रतिनिधिक परिषद् शासन के समर्थकों मे संघर्ष हुआ। अन्त मे जीत पोप की हुई। उस पर नियंत्रण रखने वाली किसी परिषद् का निर्माण न हुआ। पोप ने परिषद् का बुलाना बन्द कर दिया। किन्तु पोप का साम्राज्य समाप्त हो गया। राष्ट्रीय धर्मसघ स्थापित हो गये जो नरेश का आधिपत्य मानने लगे।

सामन्त प्रथा तथा जागीरदारी प्रथा धीरे-धीरे समाप्त होने लगी। व्यापार के बढ़ने से तथा नगरो की उन्नति से जागीरदारों का महत्व कम होने लगा, नरेश कर लगाने लगे और बढी हुई आय से स्थापित सेनायें रखी जाने लगी। सामन्ती राजसभा में ऐसी संस्थायें बनी जिनमे पादरी, जागीरदार और नगर के धनी व्यापारी बैठ कर विधान बनाते व कर मंजूर करते थे। पादरियों के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति, विशेष कर वे जो व्यापार के लाभ से धनी बन रहे थे, भी विद्याध्ययन करने लगे। इस शिक्षा के प्रचार से पादरियो का मान घट गया। अब यह आवश्यकता न रही कि धर्म के सम्बन्ध में पादरी के वचनो को जानने का प्रयत्न करें। बाइबिल का अन्य देशी भाषाओं में उल्था हुआ और साधारण व्यक्तियो के हाथ में यह पुस्तक पहुंच गई। मध्य युग मे पोप तथा पादरियो द्वारा प्रचार किये हुए धर्म ने मनुष्यों की बुद्धि पर जो ताला डाल दिया था वह टूट गया। धीरे-धीरे धर्म राज्य का अङ्ग न रह कर वैयक्तिक विषय होने की ओर प्रवृत हुआ।

अध्याय ६

मैकियावेली

निरंकुशता की वृद्धि—सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पिछली कई शताब्दियों के आर्थिक व सामाजिक परिवर्तनों के फलस्वरूप परिस्थितियाँ ऐसी उत्पन्न हो गईं जिनमें मध्ययुग की वैधानिकता को चोट पहुँची और निरंकुशता को प्रोत्साहन मिला। यातायात के साधनों की सुविधा बढ़ने से व्यापार की वृद्धि हुई और एक नये व्यापारी वर्ग की उत्पत्ति हो गई जिसके पास धन था, और धन को उपार्जन करने का अपूर्व साहस। एक नये मध्य-वर्ग का जन्म हुआ। व्यापार का क्षेत्र अब स्थानीय न रह गया था। दूर-दूर तक व्यापारी सामान भेजने और वहां से सामान मंगवाते थे। समुद्रपार एशिया के देशों से भी व्यापार होने लगा था। व्यापार की वृद्धि से उत्पादन की वृद्धि भी हुई। इस बढ़े हुए उत्पादन और व्यापार को आवश्यक सुविधायें देने के लिये मध्यकालीन व्यापारियों व कारीगरों की संस्थाओं तथा नगर शासनों के स्थान पर अधिक शक्तिशाली शासन की आवश्यकता थी। यह काम राजा ही कर सकता था। राजाओं ने व्यापार की वृद्धि के लिये व्यवस्था करना आरम्भ किया। कर लगा कर अपने कोष की वृद्धि की और सुधरी हुई आर्थिक स्थिति से जागीरदारी अस्थायी सैनिक शक्ति के स्थान पर स्थायी सैन्यबल जुटाया। इस सैन्यबल की सहायता से जागीरदारों पर राजा ने पूरा आधिपत्य जमा लिया। राज्य में राजा का विधान और राजा के न्यायालय मान्य होने लगे। जागीरदारों का प्रभुत्व कम हो गया। उनके भृत्य भी अब पहिले की तरह उनकी आज्ञा का पालन करने और उनकी भूमि को जोतने को तैयार न थे। भूमि जोतने के अधिकार के स्थान पर अब सेवा के बदले में सिक्के का प्रयोग होने लगा था। जागीरदारों के प्रभुत्व के कम हो जाने से राजा का धर्मसंघ (चर्च) पर प्रभुत्व व अधिकार अधिक हो गया। पादरी राजा के अधिकाधिक आधीन हो गये। धर्मसंघ की सम्पत्ति और भूमि छीन ली गई। धर्मसंघ को न्याय करने और दण्ड देने के जो कानूनी अधिकार मिले हुए थे वे छीन लिये गये। धर्मसंघ की सत्ता विलीन हो गई, वह राज्य शासन का एक अवयव भर रह गया। यह सब व्यापारी वर्ग के सहयोग से ही सम्भव हुआ। राजा तो चाहते ही थे कि वे जागीरदारों के तथा धर्मसंघ के नियन्त्रण से किसी प्रकार पृथक हों। आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन

होने से उन्हे मध्यवर्ग का सहयोग प्राप्त हो गया। इस मध्यवर्ग की सहायता से राजाओ ने जागीरदारो तथा धर्मसंघ दोनो पर अपना आधिपत्य जमा लिया। मध्यवर्ग चाहता ही था कि किसी प्रकार जागीरदारो का प्रभुत्व कम हो जिससे राजा का शासन सुदृढ हो और व्यवस्था तथा शान्ति स्थापित हो क्योंकि व्यवस्था और शान्ति मे ही व्यापार की उन्नति सम्भव थी। पार्लियामेंटो मे जागीरदारो का प्रभुत्व था। वहा मध्यवर्ग अपनी शक्ति न बढा सकता था इसलिये जब राजाओ ने पार्लियामेंटो के नियत्रण को उखाड फेंकने का साहस किया तो मध्यवर्ग ने राजा का साथ दिया। वे तो चाहते ही थे कि राजा की शक्ति किसी प्रकार बढे जिससे, न्याय और प्रशासन शक्ति विभिन्न जागीरदारो के हाथ से निकल कर राजा के हाथ म आ जाये। अराजकता के स्थान पर व्यवस्था और शान्ति की मांग प्रबल हो रही थी। परिणाम यह हुआ कि फ्रास, इगलैण्ड और स्पेन में निरकुश राज्यतन्त्र स्थापित हो गये। जागीरदारी प्रथा समाप्त हो गई, राजा पर नियत्रण रखने वाली सस्थाय निर्बल बन गई, और नरेश सेना तथा धन की सहायता से स्वेच्छाचारी शासक बन गये। मध्ययुग की प्रतिनिधिक प्रणाली का अन्त हो गया। पादरी, धर्मसघ, जागीरदार, पार्लियामट और स्वतत्र नगर, सब बढती हुई राज्य शक्ति के सामने झुक गये और अपनी प्रतिभा तथा प्रभुत्व राजाओ को दे बैठे। राष्ट्रीय एकता की इच्छा इतनी बलवती हुई और शक्ति के केन्द्रीकरण से इतना लाभ दृष्टिगोचर हुआ कि परम्परागत स्वतत्रता और अधिकारो के कुचले जाने पर किसी ने आंसू तक न बहाये। लौकिक क्षेत्र मे राजा और धार्मिक क्षेत्र म पोप का तत्रहीन शासन स्थापित हो गया। प्रति सात वर्ष बाद परिषद् बुलाये जाने का जो लेटरन परिषद् का आदेश था उसकी पोप ने अवज्ञा कर परिषद् को बुलाना ही बन्द कर दिया। असल में सर्व प्रथम पोप न अपने दैवी अधिकार और तत्रहीनता का दावा किया, तत्पश्चात् नरेशो ने उसका अनुगमन किया।

मैकियावेली के समय मे इटैली की राजनैतिक स्थिति—मैकियावेली का जन्म सन् १४६९ म इटैली म फ्लोरेंस नगर म हुआ और उसकी मृत्यु १५२७ मे हुई। उसके जीवन काल में फ्रास, स्पेन, और इगलैंड मे जो राजनैतिक प्रवृत्तियाँ वर्तमान थी उनका सक्षिप्त वर्णन ऊपर किया जा चुका है। यह युग राजतत्र और एक सगठित राष्ट्र का युग था। एक यूरोपियन ईसाई समाज जिसमें एक सम्राट् शासन करता हो, यह कल्पना पुरानी हो चुकी थी। अब, अगरेज, फ्रांसीसी जर्मन, इटैलियन आदि जाति भेदो का जन्म हो चुका था। एक सम्राट् के स्थान पर इन जातियो के अनेक नरेशो के राज्य

व्यवहार आदि का कोई मूल्य न था। इटैलियन लोगो में यूरोप के अन्य लोगो की अपेक्षा नये विचारो और नवीन कला का अधिक स्फुरण हो रहा था। वे पुरानी परिपाटी को छोड कर प्रगत्यात्मक मार्ग पर अधिक तेजी से बढ रहे थे। उनमें भावना के स्थान पर तर्क और विज्ञान का प्रेम अन्य लोगो की अपेक्षा अधिक दृढ हो रहा था, किन्तु सदाचार की दृष्टि से समाज का पतन हो रहा था। नागरिक कर्तव्यो की ओर लोगो की पहिली जैसी श्रद्धा न रह गई थी और न उनके पालन मे अभिरुचि थी। मध्ययुग के आदर्श भी उनकी दृष्टि म फीके पड गये थे। अपने वचन का पालन, अहिंसा, अस्तेय आदि गुणो का मजाक बनाया जाता था। स्वार्थपरता, धूर्तता, कपट का बोल-बाला था। किसी भी प्रकार अपने स्वार्थ को सिद्ध कर लेना ही सफलता का चिन्ह था। नीति-नियम और सदाचार के नियन्त्रण को फेंक कर इटैलियन प्रगतिगामी विषयासक्त मानव अपनी कुवृत्तियो के इशारे पर नाच रहा था।

जैसी राजनैतिक व सामाजिक स्थिति थी उसमें वैसी ही राजनैतिक विचारधारा का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। मैकियावेली की विचार धारा तत्कालीन राजनैतिक विचारो का उत्कृष्ट नमूना थी, उस समय के लेखकों को नये राजनैतिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन म रुचि न थी। यूनानी विचारकों के समान उनके विचार का विषय, राज्य, व्यक्ति सरकारो के विभिन्न भेद, आदर्श राज्य की कल्पना आदि न थी। कूटनीति से सफल शासन किस प्रकार किया जाय, लेखको का यही सर्वोपरि विचारणीय विषय था। मैकियावेली ने दो ग्रंथ लिखे, एक 'प्रिंस' और दूसरा 'डिस्कोर्सेज'। मैकियावेली की कुविख्याति 'प्रिंस' के कारण है। मैकियावेली का नाम स्मरण करते समय एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना मन में उठती है जिसके लिये सदाचार और नीति का शासन म कोई मूल्य नही, और जिसकी यह धारणा हो कि शासन पशुबल प्रयोग और कुटिलता से ही चल सकता है। मैकियावेली फ्लोरेन्स के गणतन्त्र राज्य का सचिव था। यह राज्य तत्कालीन नव जाग्रति के लिये प्रसिद्ध था। सामाजिक तथा राजनैतिक परिवर्तन बडी जल्दी-जल्दी हो रहे थे। नये सिद्धान्तो का प्रतिपादन और प्रयोग बड़े उत्साह के साथ हो रहा था। फ्लोरेंस का शासन सविधान ४० वर्ष के समय में छ बार बदल चुका था। इस राज्य का कर्मचारी होने के नाते मैकियावेली को तत्कालीन शासन प्रणाली का व्यवहारिक अनुभव प्राप्त हो चुका था, और उस समय इटली की राजनैतिक स्थिति म जो विभिन्न शक्तियाँ काम कर रही थी उन को वह बड निकट से देख चुका था। फ्रास और जर्मनी में भी उसे अपने कार्य

से फ्रान्स में जाना पड़ा था, और इन देशों में जो राष्ट्रीय प्रवृत्तियाँ उसके समय में सबल हो रही थीं और जिनके कारण ये देश शक्तिशाली और सम्पन्न होते जा रहे थे उनका भी उसे ज्ञान था। सन् १५१३ में उसे फ्लोरेन्स से निकाल दिया गया और नौ वर्ष तक वह बाहर रहा। इन नौ वर्षों में उसने 'प्रिंस' और 'डिस्कोर्सेज़' नामक दो ग्रन्थ लिखे जो उसकी मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित हुए। ये दोनों ग्रंथ सार्वजनिक रूप से पढ़े जाने के योग्य न लिखे गये थे। दोनों ग्रंथों में राज्यों के उत्थान और पतन और दृढ़ तथा स्थायी शासन स्थापित करने के साधनों पर विचार प्रकट किये गये हैं। निरंकुश शासक को किस प्रकार शासन चलाना चाहिए यही प्रिंस का विषय है। डिस्कोर्सेज में गणतन्त्र शासन की रक्षा और उसका विस्तार किस प्रकार किया जाय इस विषय में विचार प्रकट किये गये हैं।

प्रिंस को लिखने में मैकियावेली का उद्देश्य इटैली की तात्कालीन स्थिति में, जब प्रत्येक राज्य की स्थिति डावाडोल रहती थी और छोटे-छोटे राज्यों के शासक अपने राज्य के विस्तार के सम्बन्ध में दूसरों से झगड़ते रहते थे, उन नियमों का बतलाना था जिनके अनुसार चल कर एक शासक शक्तिशाली बन कर सम्पूर्ण इटैली में स्थायी शासन स्थापित कर सके। मैकियावेली देख चुका था कि सीज़ार बोरजिया ने किस प्रकार नृशंसता और धूर्तता का सहारा लेकर चतुराई से एक शक्ति-शाली राज्यसंगठन स्थापित कर लिया था। उसका उदाहरण मैकियावेली के सामने 'प्रिंस' लिखते समय अवश्य रहा होगा। वह यह भी देख चुका था कि फ्रांस व स्पेन में निरंकुश शासकों ने किस प्रकार जागीरदारों और छोटे राजाओं को ठोक-पीट कर एक दृढ़ राज्य की स्थापना कर ली है। वह यह भी जानता था कि इटैली के भ्रष्ट समाज में धूर्तता के साथ ही कोई शासक अपना प्रभुत्व जमा सकता है। इन सब बातों को ध्यान में रख कर ही यदि हम प्रिंस का अध्ययन करें तो हमें यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रिंस के कारण मैकियावेली इतना कुविख्यात है वह उसके देश प्रेम की भावना का परिणाम है।

'प्रिंस' राजनीति शास्त्र के ग्रंथों में प्रथम आधुनिक ढंग का ग्रंथ कहा जाता है। इसको आधुनिक इसलिये कहा जाता है क्योंकि इस ग्रंथ में उन सब विषयों पर एक शब्द भी नहीं कहा गया जो मध्ययुगी राजनीति के विचारों के ग्रंथों में पाये जाते हैं। धर्मसंघ और राज्य ये दो सत्तायें विश्व में नियंत्रण करती हैं, इन दोनों का अधिकार क्षेत्र क्या-क्या है, पोप का प्रभुत्व सर्वोपरि है या सम्राट का, पोप को सम्पत्ति रखने का अधिकार है या नहीं, और इन विषयों में धर्म गुरुओं और आचार्यों के वचनों का क्या अभिप्राय है, ये सब

बातें मैकियावेली के ग्रंथों में स्थान नहीं पातीं। वह अपने सिद्धान्तों के समर्थन में किसी धार्मिक व दार्शनिक सिद्धान्त की खींचातानी नहीं करता, न उन्हें धर्म या सदाचार की कसौटी पर कसने का प्रयत्न करता है, उसके विवेचन का ढंग ऐतिहासिक बतलाया जाता है। यह कहा जाता है कि मैकियावेली ने सब से प्रथम इस प्रणाली का प्रयोग किया। "उसका विश्वास था कि सब युगों में और सब स्थानों में मनुष्य एक समान उद्देश्यों से प्रभावित हुए हैं और सब को एक समान समस्याओं के सुलझाने में एकसमान साधनों का प्रयोग करना पड़ा है। इसलिये अतीत के अध्ययन से वर्तमान की आवश्यकता पर ही प्रकाश नहीं पड़ता किन्तु भविष्य का बोध भी सरल हो जाता है"।[1] इस विश्वास के अनुसार उसने अपने सिद्धान्तों की सत्यता, उत्तमता और ग्राह्यता को तात्त्विक सत्य के सिद्धान्तों पर स्थिर करने का प्रयत्न नहीं किया किन्तु इतिहास के उदाहरणों का प्रयोग कर यह दिखलाया कि उससे पूर्व भी व्यवहार उसके कहे अनुसार ही रहा है और इसलिये उसका कथन ठीक है। ये उदाहरण उसने अधिकतर रोम और यूनानी इतिहास से लिये। ऐसा करने का प्रयास भी निराला ही था क्योंकि उससे पूर्व मध्ययुगी ईसाई विचारक ईसाई धर्म के पूर्व की सामाजिक व राजनीतिक संस्थाओं को अधार्मिक व हीन समझते थे और उनके इतिहास में उन्हें कोई ऐसा मूल्यवान आदर्श नहीं दिखाई देता था जिसका वे अनुकरण करते। मैकियावेली ने इसी प्राचीन इतिहास के उदाहरणों से अपने सिद्धान्तों की पुष्टि की। जिन विषयों पर मैकियावेली ने अपने विचार प्रकट किये उनके सम्बन्ध में रोम व यूनानी इतिहास पर दृष्टि डालना स्वाभाविक भी था। वह अपने समय की परिस्थितियों पर नितान्त लौकिक दृष्टि से विचार कर रहा था, धर्म व सदाचार की दृष्टि में क्या वाञ्छनीय है यह उसके मनन का विषय न था। किस प्रकार इस संसार में व्यवहार करने से स्वर्ग की प्राप्ति और परलोक में सुख मिलेगा इसकी उसे चिन्ता न थी। अतएव धर्मप्रधान मध्ययुग के इतिहास की अपेक्षा प्राचीन रोमन और यूनानी इतिहास ही उसे आवश्यकता के अनुकूल प्रतीत हुआ। इतिहास के उदाहरणों में तत्कालीन परिस्थितियों की समानता देखना और अपने निष्कर्षों को प्राचीन व्यवहार के आधार पर सत्य ठहराना ऐतिहासिक विवेचन कहा जा सकता है या नहीं इसमें कुछ संदेह है। मैकियावेली ने इतिहास का गहन अध्ययन कर उसके परिणाम स्वरूप किसी सामाजिक या राजनीतिक दर्शन का प्रतिपादन नहीं किया। उसने अपने चारों ओर की परिस्थिति का सूक्ष्म अध्ययन किया, उसको

१. डनिंग—पौलिटीकल थ्योरीज़, पृ० २९१-२९२

से शासन में आता रहा था, और इन देशों में जो राष्ट्रीय प्रवृत्तियां उसके समय में सबल हो रही थीं और जिनके कारण ये देश शक्तिशाली और सम्पन्न होते जा रहे थे उनका भी उसे ज्ञान था। सन् १५१३ में उसे फ्लोरेन्स से निकाल दिया गया और नौ वर्ष तक वह बाहर रहा। उन नौ वर्षों में उसने 'प्रिंस' और 'डिस्कोर्सेज' नामक दो ग्रन्थ लिखे जो उसकी मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित हुए। ये दोनों ग्रंथ सार्वजनिक रूप से पढ़े जाने के योग्य न लिखे गये थे। दोनों ग्रंथों में राज्यों के उत्थान और पतन और दृढ़ तथा स्थायी शासन स्थापित करने के साधनों पर विचार प्रकट किये गये हैं। निरंकुश शासक को किस प्रकार शासन चलाना चाहिए यही प्रिंस का विषय है। डिस्कोर्सेज में गणतंत्र शासन की रक्षा और उसका विस्तार किस प्रकार किया जाय इस विषय में विचार प्रकट किये गये हैं।

प्रिंस को लिखने में मैकियावेली का उद्देश्य इटली की तत्कालीन स्थिति में, जब प्रत्येक राज्य की स्थिति डावाडोल रहती थी और छोटे-छोटे राज्यों के शासक अपने राज्य के विस्तार के सम्बन्ध में दूसरों से झगड़ते रहते थे, उन नियमों का बतलाना था जिनके अनुसार चल कर एक शासक शक्तिशाली बन कर सम्पूर्ण इटली में स्थायी शासन स्थापित कर सके। मैकियावेली देख चुका था कि सीजार बोरजिया ने किस प्रकार नृशंसता और धूर्तता का सहारा लेकर चतुराई से एक शक्तिशाली राज्यसंगठन स्थापित कर लिया था। उसका उदाहरण मैकियावेली के सामने 'प्रिंस' लिखते समय अवश्य रहा होगा। वह यह भी देख चुका था कि फ्रांस व स्पेन में निरंकुश शासकों ने किस प्रकार जागीरदारों और छोटे राजाओं को ठोक-पीट कर एक दृढ़ राज्य की स्थापना कर ली है। वह यह भी जानता था कि इटली के भ्रष्ट समाज में धूर्तता के साथ ही कोई शासक अपना प्रभुत्व जमा सकता है। इन सब बातों को ध्यान में रख कर ही यदि हम प्रिंस का अध्ययन करें तो हमें यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रिंस के कारण मैकियावेली इतना कुविख्यात है वह उसके देश प्रेम की भावना का परिणाम है।

'प्रिंस' राजनीति शास्त्र के ग्रंथों में प्रथम आधुनिक ढंग का ग्रंथ कहा जाता है। इसको आधुनिक इसलिये कहा जाता है क्योंकि इस ग्रंथ में उन सब विषयों पर एक शब्द भी नहीं कहा गया जो मध्ययुगी राजनीति के विचारों के ग्रंथों में पाये जाते हैं। धर्मसंघ और राज्य ये दो सत्तायें विश्व में नियंत्रण करती हैं, इन दोनों का अधिकार क्षेत्र क्या-क्या है, पोप का प्रभुत्व सर्वोपरि है या सम्राट का, पोप को सम्पत्ति रखने का अधिकार है या नहीं, और इन विषयों में धर्म गुरुओं और आचार्यों के वचनों का क्या अभिप्राय है, ये सब

बातें मैकियावेली के ग्रथो मे स्थान नही पाती। वह अपने सिद्धान्तों के समर्थन मे किसी धार्मिक व दार्शनिक सिद्धान्त की खींचातानी नहीं करता, न उन्हे धर्म या सदाचार की कसौटी पर कसने का प्रयत्न करता है, उसके विवेचन का ढग ऐतिहासिक बतलाया जाता है। यह कहा जाता है कि मैकियावेली ने सब से प्रथम इस प्रणाली का प्रयोग किया। "उसका विश्वास था कि सब युगो में और सब स्थानो मे मनुष्य एक समान उद्देश्यों से प्रभावित हुए है और सब को एक समान समस्याओं के सुलझाने में एकसमान साधनो का प्रयोग करना पड़ा है। इसलिये अतीत के अध्ययन से वर्तमान की आवश्यकता पर ही प्रकाश नही पड़ता किन्तु भविष्य का बोध भी सरल हो जाता है"।[1] इस विश्वास के अनुसार उसने अपने सिद्धान्तो की सत्यता, उत्तमता और ग्राह्यता को तात्विक सत्य के सिद्धान्तों पर स्थिर करने का प्रयत्न नही किया किन्तु इतिहास के उदाहरणों का प्रयोग कर यह दिखलाया कि उससे पूर्व भी व्यवहार उसके कहे अनुसार ही रहा है और इसलिये उसका कथन ठीक है। ये उदाहरण उसने अधिकतर रोम और यूनानी इतिहास से लिये। ऐसा करने का प्रयास भी निराला ही था क्योंकि उससे पूर्व मध्ययुगी ईसाई विचारक ईसाई धर्म के पूर्व की सामाजिक व राजनीतिक संस्थाओं को अधार्मिक व हीन समझते थे और उनके इतिहास मे उन्हें कोई ऐसा मूल्यवान आदर्श नही दिखाई देता था जिसका वे अनुसरण करते। मैकियावेली ने इसी प्राचीन इतिहास के उदाहरणो से अपने सिद्धान्तो की पुष्टि की। जिन विषयो पर मैकियावेली ने अपने विचार प्रकट किये उनके सम्बन्ध मे रोम व यूनानी इतिहास पर दृष्टि डालना स्वाभाविक भी था। वह अपने समय की परिस्थितियों पर नितान्त लौकिक दृष्टि से विचार कर रहा था, धर्म व सदाचार की दृष्टि से क्या वाञ्छनीय है यह उसके मनन का विषय न था। किस प्रकार इस संसार में व्यवहार करने से स्वर्ग की प्राप्ति और परलोक मे सुख मिलेगा इसकी उसे चिन्ता न थी। अतएव धर्मप्रधान मध्ययुग के इतिहास की अपेक्षा प्राचीन रोमन और यूनानी इतिहास ही उसे आवश्यकता के अनुकूल प्रतीत हुआ। इतिहास के उदाहरणों में तत्कालीन परिस्थितियों की समानता देखना और अपने निष्कर्षों को प्राचीन व्यवहार के आधार पर सत्य ठहराना ऐतिहासिक विवेचन कहा जा सकता है या नही इसमें कुछ संदेह है। मैकियावेली ने इतिहास का गहन अध्ययन कर उसके परिणाम स्वरूप किसी सामाजिक या राजनीतिक दर्शन का प्रतिपादन नही किया। उसने अपने चारो ओर की परिस्थिति का सूक्ष्म अध्ययन किया, उसको

1. डनिंग—पौलिटीकल थ्यौरीज़, पृ० २११-२१२

सुधारने का उपाय अपने मस्तिष्क से ढूँढ निकाला और वैसी ही परिस्थिति में प्राचीन समय में यदि किसी ने वैसा ही व्यवहार किया तो उसका उदाहरण सामने रख कर अपनी बात का समर्थन किया। उसने इतिहास का मनन करके उसमें निहित किसी सत्य की खोज निकाला हो ऐसी बात नहीं थी। न किसी राजनीति दर्शन में विश्वास रखने के कारण उसने अपने विचार प्रकट किये हैं। हम उन विचारों से हम यह अनुमान कर सकते हैं कि राज्य और व्यक्ति के सम्बन्ध में वह किस पथ का अनुयायी था।

सफल शासक को कैसा व्यवहार करना चाहिये—मैकियावेली दार्शनिक न था, कूटनीतिज्ञ था। उसने यह नहीं बतलाया कि आदर्श राज्य का क्या रूप होना चाहिए। उसने यह बतलाया कि एक सफल शासक में कौन गुण होने चाहिये और उसे किस प्रकार चलना चाहिये। उसका कहना था कि नरेश को ऐसा व्यवहार रखना चाहिये जिससे वह दानी और उदार दिखाई पड़े। किन्तु यह उदारता यदि सदाचार की दृष्टि से बरती जायगी तो राजा के प्रति लोगों का भय जाता रहेगा। यदि अधिक उदार व दानी दिखलाने के लिये इतना व्यय करना पड़े कि उसे प्रजा पर कर लगाने पड़ें तो वह राजा थोड़े ही समय में प्रजा की घृणा का पात्र बन जायगा। राजा दयावान रहे किन्तु दया का दुरुपयोग न होने दे। वह क्रूर कहलाने का भय न करे, यदि ऐसा कहलाने से उसकी प्रजा सगठित रहे और उसके प्रतिनिष्ठ रहे। सीजार बोरजिया क्रूर समझा जाता था किन्तु उसकी क्रूरता ने रोमाग्ना पर विजय पाई, उसको सगठित किया और उसमें शान्ति स्थापित की। नरेश कुछ उदाहरणों द्वारा दयालु प्रतीत होने का प्रयत्न करे न कि सब समय दयालु रह कर अराजकता, हत्या व लूट का कारण बने। नरेश को लोकप्रिय भी बनना चाहिए किन्तु यह भी आवश्यक है कि प्रजा उससे भयभीत रहे। यदि ये दोनों गुण एक साथ वर्तमान न हों तो भयोत्पादन का गुण अधिक आवश्यक है। किन्तु यह भय इतना अधिक न हो कि प्रजा उससे घृणा करने लग जाय। यदि नरेश उनकी सम्पत्ति को न छीने, उनकी स्त्रियों का अपमान न करे और समय देख कर तथा कारण पाकर ही मृत्युदण्ड दे तो वह उन्हें भयभीत करते हुए भी उनकी घृणा से बच सकता है। युद्ध में राजा को क्रूर ही रहना चाहिये यदि ऐसा न हुआ तो उसके आधीन सेना सगठित न रहेगी। बुद्धिमान नरेश अपने वचन का पालन नहीं कर सकता, न उसे करना चाहिये, यदि करना उसके हित में न हो। राजा अपने मन्तव्य को दूसरों पर प्रकट न होने दे और उसे अपने मन पर इतना नियंत्रण रखना चाहिये कि दयालु, कोमल, धार्मिक, सत्याचारी प्रतीत होते हुए भी अवसर पड़ने पर इन गुणों के

प्रतिकूल कार्य करने को वह सर्वदा उद्यत रहे। उसे ऐसे लचीले स्वभाव वाला होना चाहिये कि जब चाहे तब सद्व्यवहार कर सके और आवश्यकता पड़ने पर बुरे से बुरा आचरण करने मे न हिचके। राजा को दृढ निश्चय वाला, कठोर, पौरुष युक्त होना चाहिये तभी उसकी प्रजा उसका मान करेगी। उसे अपनी प्रजा के सामने और अन्य नरेशो के सामने ऐसा प्रतीत होना चाहिये जिससे वे उससे भय मानें। वह अपना बाहरी व्यवहार ऐसा रखे जिससे वह महान और श्रेष्ठ विख्यात होजाय।

मानव प्रकृति के गुण—मैकियावेली ने नरेश के लिये जिस आचरण का उपदेश दिया है वह उस कल्पना पर आधारित है जो उसने मानव प्रकृति के सम्बन्ध में अपने मन म स्थिर कर रखी थी। वह यह मानता था कि मनुष्य प्रकृत्या स्वार्थी है। वह लोभी वञ्चक, कृतघ्न, भयातुर भी है। यह अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये आपके साथ है किन्तु ज्यो ही किसी प्रकार की आपत्ति का भय हुआ यह आपका साथ छोड कर भाग जायगा। सामान्य मनुष्य बाहरी दिखावे से ही भुलावे म आ जाते है वे नेत्रो से देखते हैं, बुद्धि से समझने का प्रयत्न नही करते। मनुष्य स्वभाव की इस कल्पना पर ही मैकियावेली ने नरेश का कर्तव्य निश्चय किया। यदि मनुष्य लोभी है तो इस लोभ के कारण ही वह समाज सगठन करता है। समाज की उत्पत्ति किसी आध्यात्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये नही होती किन्तु मनुष्य के स्वार्थ की सिद्धि के हेतु होती है। यह स्वार्थ धन का होना है न कि आत्मोन्नति का। प्रिंस में उसने स्पष्ट कहा है कि मनुष्य अपने पिता की मृत्यु को शीघ्र ही भूल जाते हैं किन्तु पैतृक धन की हानि को नही भूलते। इसीलिये नरेश को उसने यह उपदेश दिया है कि वह मृत्यु दण्ड किसी सीमा तक दे सकता है किन्तु प्रजा की सम्पत्ति को वह कभी न छीने। मनुष्य की इच्छाओं का कोई अन्त नही होता। प्राप्त की रक्षा और अप्राप्त को पाने का प्रयत्न मनुष्य सर्वदा करता रहता है। इन इच्छाओं की पूर्ति के लिये ही मनुष्य समाज का अङ्ग बनता है। प्राप्त सम्पत्ति की रक्षा और अधिक पाने के लोभ के कारण आपस में जो संघर्ष और अराजकता फैलती है उसे रोकने के लिये ही राज्य की सृष्टि होती है। इसलिये राज्य में व्यक्ति जिस वस्तु को सबसे प्रिय समझता है वह है सुरक्षा। इसलिये अच्छे राज्य की पहिचान यह है कि वहाँ का शासक इतना प्रबल हो कि वह सबको नियन्त्रण में रख सके। तभी मैकियावेली ने यह उपदेश दिया है कि नरेश को भयङ्कर होने की आवश्यकता है, लोकप्रिय बनने की नहीं। प्रेम का बन्धन प्रजा और नरेश को अधिक समय तक साथ नहीं रखता, क्योंकि मनुष्य स्वार्थी है और इस बन्धन को स्वार्थ के हेतु तोड देता है, किन्तु दण्ड का भय उसी

स्वार्थ प्रवृत्ति से प्रेरित लोगों को संगठित बनाये रहता है। अतः कुशल शासक मानव प्रकृति की निर्बलताओं को दृष्टि में रख कर उन पर प्रहार और उनका प्रयोग कर अपने को शक्तिशाली कर, भयङ्कर रहते हुए भी सच्चा शासक बना रहता है। सांसारिक सुख की इच्छा के कारण ही मनुष्य लोभ, भय व हिंसा आदि दुर्गुणों की ओर प्रवृत्त होता है। यह सुख सम्पत्ति से प्राप्त होता है। सम्पत्ति ही इसलिए राज्य का मूल कारण और उद्देश्य है। सम्पत्ति के लिये ही, मनुष्य स्वतन्त्रता और स्वराज्य चाहता है। कुछ थोड़े से ही मनुष्य स्वतन्त्रता और स्वराज्य को इसलिये चाहते हैं कि वे शक्तिशाली बनें और दूसरे की शक्ति के दास न बनें। सामान्य जनता को इसकी चिन्ता नहीं रहती। वह तो अपने जीवन और सम्पत्ति की रक्षा चाहती है। स्वतन्त्र देशों में तथा गणतन्त्र राज्यों में ही सम्पत्ति की वृद्धि होती है और बहुसंख्यक व्यक्तियों को सम्पन्न बनने का अवसर मिलता है। इसी लिये स्वतन्त्र गणतन्त्र राज्य में लोगों की अधिक अभिरुचि रहती है। प्राचीन यूनानी राज्य का उद्देश्य आदर्श समाज की आध्यात्मिक उन्नति करना था, ईसाई धर्म के प्रचार होने पर राज्य उस परिस्थिति को उत्पन्न करने का साधन समझा गया जिसमें रह कर मनुष्य अपने परलोक को सुधार सके और स्वर्ग प्राप्त कर सकें। किन्तु मैकियावेली ने राज्य के उद्देश्य की आधुनिक कल्पना सामने रखी जिसके अनुसार सांसारिक समृद्धि और सुख की सृष्टि करना राज्य का उद्देश्य है। विचारों का यह कितना महान परिवर्तन है। इसे पतन कहें या उत्थान ?

धर्म व सदाचार के प्रति उपेक्षा—मैकियावेली की कुविख्याति का सर्वोपरि कारण सदाचार के प्रति उसकी उपेक्षा है। जैसा ऊपर वर्णन किया जा चुका है उसने नरेश को कपटी, नृशंस लोभी होने और असदाचरण करने का उपदेश दिया है। मैकियावेली से पूर्व किसी विचारक ने धर्म और सदाचार की उपेक्षा न की थी। राजदर्शन में सब विचारक धर्म और सदाचार को महत्व पूर्ण स्थान देते हैं। मैकियावेली न तो प्राकृतिक विधान को मानता है और न ईश्वरीय नियम को। वह धर्म को राजनीति का अस्त्र मानता है जिसे राज्य की शक्ति व दृढ़ता को बढ़ाने में उपयोग किया जा सकता है। वह धर्म के महत्व को मानता है किन्तु वह धर्म को वह सर्वोपरि स्थान नहीं देता जो मध्ययुग में दिया जाता था। ईसाई धर्म के प्रति उसे घृणा उत्पन्न हुई प्रतीत होती है। वह कहता है 'हम इटैली निवासी धर्मसंघ और पादरियों के कृतज्ञ हैं कि उनके द्वारा हमें दुष्ट और अधार्मिक बना दिया"। "हमारा धर्म नम्रता, तुच्छ भाव और सांसारिक वस्तुओं के प्रति घृणा, इनको सर्वोपरि समझता है। यदि यह हमसे वीर होने का उपदेश करता है तो यह वीरता दुख

के लिये है न कि कुछ करने के लिये। इस प्रकार के जीवन ने संसार को
न बना दिया है और उसे दुष्टों के हाथ में सोंप दिया है कि वे जो चाहें
उसके साथ करें, क्योंकि अधिकतर मनुष्य स्वर्ग की आशा से कष्ट सहने,
r बदला लेने, का विचार किया करते हैं।"

मैकियावेली के लिये राजनीति में सदाचार गौढ वस्तु ही नहीं किन्तु अना-
क भी है। उसके अनुसार "एक बुद्धिमान शासक अपने वचन का पालन
कर सकता, न उसे पालन करना चाहिये यदि वचन पालन से उसके हित
हानि होती हो या जब वह स्थिति न रहे जिसके कारण उसने वचन दिया
यदि मनुष्य पूर्णतया अच्छे होते तो यह उपदेश उपयुक्त न होता किन्तु
के वे बुरे हैं और आपके साथ सत्य व्यवहार न करेंगे आप भी उनके
सत्य व्यवहार करने को बाध्य नहीं हैं।... "राजा राज्य को जय करे
. उसकी रक्षा करे, ऐसा करने में जो साधन भी प्रयोग में लाये जायेंगे वे
ही होंगे और सब उसकी प्रशंसा करेंगे।" राजा के लिये सदाचारी व
गुणी होना आवश्यक नहीं है, किन्तु यह दिखाना आवश्यक है कि वह सदा-
ी है। कपटाचार ही इस प्रकार शासक का सबसे बड़ा गुण है।

मैकियावेली को सबसे पहिला राजनैतिक वैज्ञानिक कहा जाता है। वैज्ञा-
: के समान उसे इस बात से मतलब नहीं कि जो सिद्धांत वह स्थिर कर रहा
उसका नैतिक परिणाम क्या होगा। राजनीति शासन का शास्त्र है। जिस
से, जिन साधनों से शासन उत्तम से उत्तम होता हो वही साधन श्रेष्ठ है।
-असद् का विचार बिलकुल गौड़ है। जिस प्रकार अर्थशास्त्री अर्थ-शास्त्र
नियमों का अध्ययन करने में आर्थिक शोषण, आदि बुराइयों पर दृष्टि नहीं
रता उसी प्रकार मैकियावेली शासितों के हित को अपने राजनीति शास्त्र
कोई महत्व नहीं देता। वह वैज्ञानिक है, दार्शनिक नहीं। वह यह नहीं
ता कि आदर्श राजा का व्यवहार कैसा होना चाहिये। वह तो यही कहता
के शासन करने के लिये मानव प्रकृति को ध्यान में रख कर नरेश क्या
र। शासन करना ही परमोद्देश्य है, उससे पृथक किसी आध्यात्मिक या
रलौकिक ध्येय का मैकियावेली के लिये कोई महत्व नहीं है। राज्य जो
बसे उच्च मानव संस्था है वह उसके विचार का विषय नहीं। वह मुख्यतया
ज्य में शासनकार्य की उत्तमता पर ही दृष्टि रख कर अपने सिद्धांत स्थिर
रता है। इस कार्य में यदि क्रूरता, कपटाचार, हत्या या अन्य ऐसे ही
िसी घृणित दुराचार का सहारा लेना पड़े तो वह उसे हेय नहीं समझता
दि उससे शासन के उद्देश्य की सिद्धि होती हो। वास्तव में देखा जाय तो

मैकियावेली को राजनैतिक वैज्ञानिक नहीं मान सकते। अपने सिद्धांतों पर वह परिस्थिति से ऊपर उठ कर तर्क और अन्वेषण के द्वारा न पहुँचा था। तत्कालीन परिस्थिति में एक शक्तिशाली शासक की आवश्यकता स्पष्ट ही थी, और मैकियावली देश प्रेम से अभिभूत होकर उस परिस्थिति को सुधारने के लिए उत्सुक था। उस समय धार्मिक विश्वासों और मनुष्यों के दैनिक व्यवहार में बड़ा अन्तर हो गया था। सारा समाज भ्रष्ट और दुराचारी बन गया था, ऐसी स्थिति में कुशल शासक को क्या करना चाहिये यह कोई वैज्ञानिक निष्कर्ष न था किन्तु एक व्यवहार कुशल व्यक्ति का सोचा हुआ उपाय मात्र था। मैकियावेली को दुराचारी नही कह सकते। वह सदाचार को बुरा नहीं समझता किन्तु उसे राजनीति का चरमोद्देश्य नहीं मानता। इसी प्रकार धर्म को—वह धर्म जिसे लौकिक कह सकते हैं जिसकी आज्ञा से समाज में व्यक्तियों और संस्थाओं के पारस्परिक सबध निश्चित होते हैं—वह राज्य नीति से ऊँचा नही मानता। जहा तक धर्म में किसी अपौरुषेय शक्ति की इच्छा और पारलौकिक सत्य का प्रश्न है वह उसके विचार का विषय ही वस्तु नही है। किन्तु धार्मिक भावना को राज्य के सगठन में वह एक आवश्यक वस्तु समझता है, और कुशल शासक को इस भावना से लाभ उठाना चाहिये। इस भावना की सहायता से कुशल शासक उन सुधारों को कर सकता है जो केवल बल का सहारा लेकर कभी नही किये जा सकते।

सरकारों के भेद—सरकारो के भेद करने में मैकियावेली ने अरस्तू के वर्गीकरण को ही अपनाया है। राजतत्र, सुकुलीनतत्र और सुप्रजाततत्र जो बिगड कर क्रमश अत्याचारीतत्र, कुकुलीनतत्र तथा कुप्रजाततत्र बन जाते हैं। उसने *मिश्रित* रूप ही को सब से उत्तम और स्थायी माना। प्रिंस में मैकियावेली ने राजतत्र की रक्षा और वृद्धि के उपाय बताये हैं किन्तु अपने दूसरे ग्रथ 'डिस्कोर्सेज़" में उसने गणतत्र के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं। इन विचारो से स्पष्ट हैं कि मैकियावेली अत्याचारी शासन का पुजारी नही है। गणतत्र की ओर उसका झुकाव है। जिस समाज में आर्थिक समानता हो वहाँ मैकियावेली के अनुसार गणतत्र सब से उत्तम शासन प्रणाली है ही नही, केवल वही *प्रणाली सम्भव है।* '*कुछ व्यक्तियों की समृद्धि से* राज्य महान नही बनता, सारे समाज की समृद्धि से राज्य महान बनता है और सार्वजनिक समृद्धि निस्सन्देह गणतत्र को छोड कर किसी अन्य शासन प्रणाली में नही हो सकती"। ऐसा क्यो होता है इसका कारण वह यह बतलाता है कि *गणतत्र में* जनता एव स्वतत्र आधिपत्य में रहती है। "जनता का आधिपत्य नरेश के आधिपत्य से अधिक उत्तम है"। "अधिकारियो के चुनने में और सम्मानो के

वितरण में जनता की निर्णयबुद्धि दोष रहित रहती है" । "यदि नरेश राज्य और उसकी संस्थाओ की नीव जमाने में सब से उपयुक्त है तो जनतन्त्र उस राज्य की रक्षा करने के लिये योग्य है" । "गणतंत्र अपने वचन का पालन नरेशो की अपेक्षा अधिक अच्छे प्रकार करते हैं। गणतन्त्र समय और परिस्थिति के अनुकूल अपने आप को बनाने में अधिक समर्थ रहते है और ऐसा करना नीति की सफलता के लिये आवश्यक है । नरेश स्थिति के अनुसार अपने आप को नही बदल पाता किन्तु गणतन्त्र में शासको की सख्या अधिक होने से उनमें से कुछ ऐसे व्यक्ति निकल आते हैं, जो परिवर्तित स्थिति के ठीक उपयुक्त है। मैकियावेली कुलीनो के विरुद्ध है । ये लोग अपने गढ़ो मे रह कर राज्य का रक्त चूसते रहते है और आपस में लडते रहते हैं । राजतन्त्र मे नरेश सरदारो और जागीदारो को सरलता से सतुष्ट नही कर सकता । सामान्य जनता को वह सरलता से सतुष्ट कर सकता है क्योकि कुलीन दूसरो को सताने की प्रवृत्ति रखते हैं, साधारण जनता अत्याचार से बचने का प्रयत्न करती है । कुलीन लोग वे हैं जो अपनी जागीरो की आय से निष्कर्मण्यता के साथ सुखी जीवन बिताते हैं। ये स्वय अपनी भूमि को उत्पादन के काम मे लाते है न कि अपने निर्वाह के लिये अन्य परिश्रम का कोई काम करते हैं । ऐसे लोगो से किसी भी देश या गणतन्त्र को शका रह सकती है । जिस देश में ऐसे लोगो की सख्या अधिक हो वहाँ गणतन्त्र की स्थापना तभी हो सकती है जब पहिले इन लोगो से छुटकारा पा लिया जाय" । गणतन्त्र और साधारण जनता पर मैकियावेली की श्रद्धा थी, यह इस से स्पष्ट है ।

मैकियावेली का कहना था कि गणतन्त्र का सविधान ऐसा होना चाहिये जिसमें राज्य का विस्तार हो सके। उसकी धारणा थी कि अपने विस्तार को बढाना राज्य का नैसर्गिक धर्म है । जो राज्य विस्तारोन्मुखी नही वह विनाशोन्मुखी है । स्थिरता राज्य के पतन की पहिचान है । मैकियावेली के राजनैतिक विचार उस धारणा से ओत-प्रोत हैं । इस दृष्टिकोण से वह अरस्तू और अन्य यूनानी राजनीतिज्ञो से भिन्न है क्योकि मैकियावेली के समान यूनानी दार्शनिको का राज्य अपने महत्व को बढाने के लिये अपना विस्तार या विजय के लिये अपनी शक्ति नही बढाता । उसकी उन्नति दूसरो पर आक्रमण करने के लिये नहीं किन्तु जीवन को अधिक पूर्ण बनाने के लिये होती है । प्रिंस और डिस्कोर्सेज में इसके विपरीत मैकियावेली उस नीति का प्रतिपादन करता है जो अनिवार्य विस्तार और शक्ति को बढाने की कामना रखने वाले राज्य के लिये आवश्यक है । वह कहता है कि मनुष्यो में शक्ति सचय की कामना स्वाभाविक है और नरेश बरबस विजय की ओर अग्रसर

होता है। गणतन्त्र भी यदि एक व्यक्ति की विजय कामना से नहीं किन्तु आवश्यकता के वश होकर अपना विस्तार विजय के द्वारा करना पड़ता है। गणतन्त्र में यदि विजय के लिये युद्ध न किया जाय तो शासन और नेतृत्व धनी और कुलीनों के हाथ में चला जाता है। इसलिये यदि गणतन्त्र की बाग-डोर योग्य और प्रतिभाशाली व्यक्तियों के हाथ में रखनी हो तो विजय युद्ध की नीति अपनानी पड़ेगी जिससे कुलीन लोग युद्ध में व्यस्त बने रहें। गणतन्त्र का विस्तार किस प्रकार हो इसका आदर्श मैकियावेली रोमन गणतन्त्र में पाता है। मैकियावेली के अनुसार रोमन गणतन्त्र की नीति थी कि नगर की जनसंख्या बढ़ाओ, मित्र राज्यों की संख्या अधिक करो, विजित देश में उपनिवेश स्थापित करो, लूट का सामान राजकोष में रखो, घेरा न डाल कर सामने से युद्ध क्षेत्र में युद्ध करो, राज्य को समृद्ध और व्यक्ति को निर्धन रखो और सर्वोपरि एक सुशिक्षित सेना का संगठन करो। गणतन्त्र में सत्ता शक्ति जनता के हाथ में रहनी चाहिये। उसका कहना है कि जनहित के लिये जो योजनायें बनाई जायें उन पर स्वतन्त्रता पूर्वक खुलकर वाद-विवाद होना चाहिये जिससे निर्णय होने से पूर्व प्रत्येक विषय की पूरी छानबीन हो जाय। रोम गणतन्त्र में कुलीनों और साधारण जनों के दलों में जो संघर्ष चलता था मैकियावेली उसे राज्य के लिये हानिकारक नहीं समझता। संघर्ष से ही मनुष्य बलवान और साहसी बनता है और संघर्ष के द्वारा ही समाज उन्नति की ओर अग्रसर होता है। रोम दलों के पारस्परिक संघर्ष के कारण बलवान् बना। जनता के उद्गारों को व्यक्त होने का अवसर मिलना चाहिये जिससे वे दब कर अधिक हानिकारक सिद्ध न हों। दलबन्दी में यह अवसर मिलता है जिससे राज्य में स्थिरता बनी रहती है। ये विचार आधुनिक जैसे हैं। इससे स्पष्ट है कि मैकियावेली की राजनीति उदार थी, यद्यपि प्रिंस में जो विचार उसने व्यक्त किये हैं उनसे उसकी कुटिलता टपकती है।

किन्तु यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि मैकियावेली दो प्रकार की राजनीति का वर्णन करता है। एक नीति उस स्थिति में प्रयोग करने के योग्य है जब विजय के द्वारा नये राज्य पर आधिपत्य किया गया हो या पुराने में विद्रोह उठ खड़ा हो, और दूसरी नीति शान्ति पूर्ण राज्य में लागू होती है। शान्ति-पूर्ण राज्य में मैकियावेली चाहता है कि नरेश सामाजिक संस्थाओं और रीति रिवाजों में हस्तक्षेप न करे। प्रजा की सम्पत्ति न छीने, उनके अधिकारों पर आक्रमण न करे, शासन में प्रजा को भाग लेने दे और कानून के अनुसार शासन करे। जिस निरंकुशता और धूर्तता का उपदेश मैकियावेली ने शासकों को किया है और जिसके लिये वह बदनाम है वह

उस समाज पर शासन करने के लिये है जो भ्रष्ट हो, जिसमें विद्रोह उठ रहा हो या जिस नवविजित प्रदेश में विद्रोह को कुचलना हो। राजतंत्र में नरेश भ्रष्ट समाज पर अधिकार पाने के लिये संगठित सेना रखे, किन्तु सेना ही पर्याप्त नहीं है। सैनिक शक्ति के साथ-साथ चालाकी, कदाचार, नृशंसता सब को अपने काम में लावे। गणतंत्र में विद्रोह को रोकने के लिये यह आवश्यक है कि ऐसी व्यवस्था हो जिससे आपत्ति के समय कोई एक व्यक्ति निरंकुश शक्ति का प्रयोग कर सके। यदि ऐसी व्यवस्था न होगी तो जनतंत्र आपत्ति के समय छिन्न-भिन्न हो जायगा क्योंकि जनतंत्र का यह दोष है कि सात पाँच का काम होने से किसी प्रश्न का शीघ्र निर्णय नहीं होता, और आपत्ति किसी की प्रतीक्षा नहीं किया करती। मैकियावेली के अनुसार इसलिये गणतंत्र में अधिनायकसत्ता की आवश्यकता रहती है। गणतंत्र की रक्षा के लिये यह भी आवश्यक है कि संविधान ऐसा हो जो परिस्थिति के अनुकूल बदला जा सके। अगर यह लचीलापन न होगा तो उसको बदलने के लिये विद्रोह आवश्यक हो जायगा। किन्तु मैकियावेली के अनुसार संविधान में परिवर्तन ऐसा न हो जो समाज के प्राचीन रूप को बिलकुल बदल दे। रूप वैसा ही रहे चाहे उसके नीचे छिपी हुई वास्तविकता बदल जाय। साधारणतया मनुष्य आवरण से मोहित हो जाते हैं, भीतरी सत्य को पहिचानने की चिन्ता उन्हें नहीं रहती।

सैनिक शक्ति के सम्बन्ध में मैकियावेली देशभक्त सेना रखने का बड़ा समर्थक था। उस समय इटैली के विभिन्न राज्यों में स्थायी देशभक्त सेनायें रखने की प्रथा न थी। आवश्यकता पड़ने पर धन का लोभ देकर लड़ने वाले एकत्रित कर लिये जाते थे। उसका कहना था कि यह बात गलत है कि किसी राज्य की शक्ति उसके भरपूर कोष से बढ़ती है। धन से सर्वदा अच्छे योद्धा नहीं मिलते, किन्तु अच्छे योद्धा सर्वदा धन प्राप्त करा सकते हैं। अच्छे योद्धा ही राज्य की शक्ति के आधार हैं।

मैकियावेली ने राज्य की आवश्यकताओं को ही राजनीति में सर्वोपरि स्थान दिया है। उसने लिखा है "जब हमारे देश की सुरक्षा खतरे में हो उस समय, न्याय-अन्याय, प्रशंसनीय या लज्जास्पद, दयापूर्ण या क्रूर, इन सब बातों का विचार न रहना चाहिये। इन सब बातों को एक ओर हटा कर वही मार्ग अपनाना चाहिये जिससे देश का अस्तित्व बना रहे और उसकी स्वतंत्रता की रक्षा हो"। मैकियावेली के इस सिद्धान्त का भविष्य की राजनीति पर बड़ा प्रभाव पड़ा। राज्य की आवश्यकता अन्य सब नैतिक आवश्यकताओं से प्रमुख मानी जाने लगी। जो कार्य

शुद्ध नैतिक दृष्टि से अवांछनीय भी हो उसे भी वह यह कह कर उपयुक्त समझने लगा कि राज्य की आवश्यकता सब से ऊपर है और राज्य की रक्षा के लिये ऐसा करना आवश्यक है। मैकियावेली देशभक्ति को ही सर्वोच्च नैतिक नियम मानता था। मैकियावेली ने राजनीति और शुद्ध नीति को पृथक कर दिया। सिद्धान्ततः मध्ययुग में जो व्यक्ति के लिये सदाचार है वही राज्य के लिये सदाचार माना जाता था। किन्तु मैकियावेली ने वैयक्तिक और सार्वजनिक नैतिकता में भेद उत्पन्न कर दिया। ऐसा करने में सिद्धान्त और व्यवहार का भेद भी होगया क्योंकि सिद्धान्त कुछ भी हो किन्तु व्यक्ति के लिये सदाचार के नियम कुछ भी रहे हों, व्यवहार में कभी भी उन नियमों के अनुसार राजनीति नहीं बर्ती गई। मैकियावेली ने व्यावहारिक राजनीति का ही प्रतिपादन किया जो उस समय बिलकुल एक नई बात थी। आज कल 'स्टेट' अर्थात् राज्य से जिस संगठन की हम कल्पना करते हैं उस संगठन का रूप यूरोप में मैकियावेली ने सबसे पहिले स्थिर किया। 'स्टेट" शब्द को मैकियावेली ने ही सर्व प्रथम प्रयुक्त किया। तब से राज्य का वह रूप अधिकाधिक हृदयंगम होने लगा जिसमें वह एक सर्व शक्तिमान सामाजिक संगठन बन कर किसी देश में सब सामाजिक संस्थाओं और व्यक्तियों पर नियन्त्रण रखने वाला और बाहरी सम्बन्धों में अन्य राज्यों से अपने को महत्तर बनने का निरन्तर प्रयत्न करने वाला समझा जाता था। मैकियावेली की नीति की निन्दा उस समय और उसके बाद प्रायः की गई किन्तु उस नीति को सभी ने अपनाया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि उसने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से अपने समय की प्रकृति का अध्ययन करके व्यावहारिक सत्य की खोज की थी।